रु.20 पूर्णांक 192

संचेतना

सृजन, संवाद एवं विचार का माध्यम

कृति विमर्श
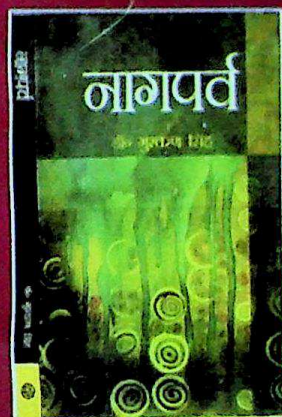
राजनीति तथा पुलिस तंत्र की विभीषिकाओं को उजागर करने का प्रयास किया

— गुरचरण सिंह

राजनीतिक तंत्र में जकड़े हुए आम आदमी की फैंटेसी
—नरेन्द्र मोहन

औपन्यासिक उपलब्धि—वेद प्रकाश अमिताभ

भ. प्र. निदारिया, अनुपम माथुर, रमेश चंद्र मिश्र, रमाशंकर श्रीवास्तव, सुभाष रस्तोगी
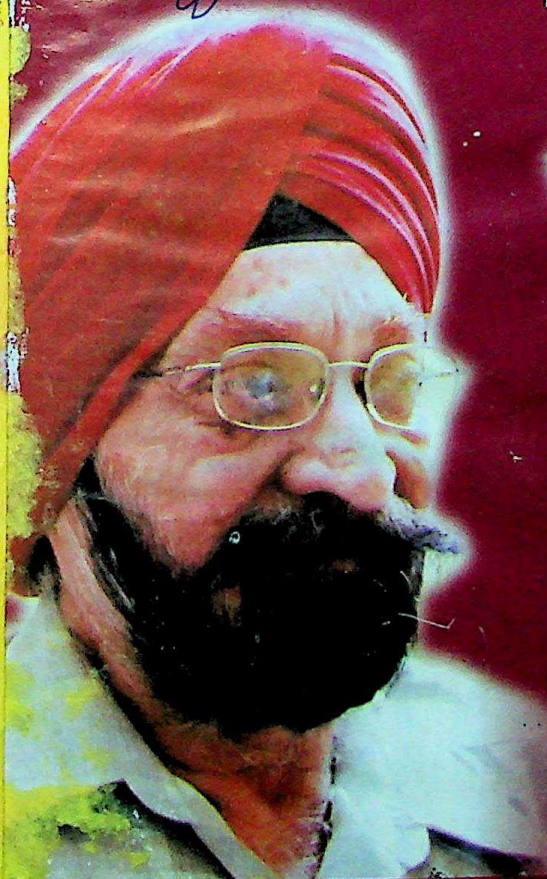
विकास की राहों में आगे बढ़ते, भविष्य अपना गढ़ते

प्रदेश ने विकास की राहों पर अपनी गति बढ़ाई है।
बुनियादी अधोसंरचना निर्माण के काम में यह रफ्तार प्रदेश के इतिहास में एक कीर्तिमान है।
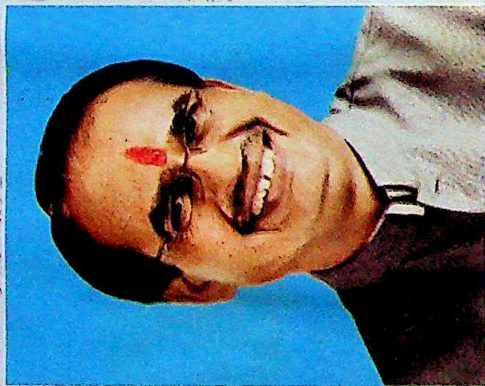
पिछले तीन सालों में -

- मध्यप्रदेश में 32942 किलोमीटर लंबाई की सड़कें बनाईं।
- स्टेट रोड इंप्रूवमेंट प्रोग्राम में 544.02 करोड़ रुपयों से 6485 किमी सड़कों का नवीनीकरण हुआ।
- 1379.40 किमी मुख्य जिला मार्ग राज्य मार्ग घोषित हुए।
- ओंकारेश्वर जल विद्युत परियोजना, संजय गांधी ताप विद्युत गृह विस्तार, अमरकंटक ताप विद्युत गृह विस्तार और इंदिरा सागर बाईं नहर इकाई से कुल 1235 मेगावॉट उत्पादन क्षमता में वृद्धि हुई।
- निजी क्षेत्र की परियोजनाओं के लिए 45 कंपनियों से लगभग 58700 मेगावॉट के समझौते।
- पारेषण हानि का प्रतिशत 8 से घट कर 4.09% हुआ। ग्रामीण क्षेत्र के लिए अलग फीडर लाइंस को स्वीकृति।
- ट्रांसमिशन प्रणाली की क्षमता 2006-07 की 6493 मेगावाट से बढ़कर 8050 मेगावाट हुई।
- जल संसाधन और नर्मदा घाटी योजनाओं से 416.87 हजार हैक्टेयर में अतिरिक्त सिंचाई क्षमता निर्मित।

विधानसभा के विशेष सत्र में 'स्वर्णिम मध्यप्रदेश' बनाने का संकल्प पारित कर, भविष्य का नक्शा तैयार हुआ है।

अगले तीन वर्षों के संकल्प -

- प्रदेश की विकास दर 9 से 10% तक रखी जाएगी।
- संभागीय मुख्यालयों को 4 लेन और जिला मुख्यालयों को 2 लेन सड़कों से और सभी गांवों को बारहमासी सड़कों से जोड़ा जाएगा।
- चिन्हित राजमार्गों के रख-रखाव के लिए स्टेट हाइवे फंड बनेगा।
- स्थापित सिंचाई क्षमता में 7.50 लाख हैक्टेयर की वृद्धि होगी।
- सिंचाई की स्थापित क्षमता के समुचित उपयोग के लिए कमांड एरिया डेवलपमेंट प्रोग्राम सहित सभी कारगर उपाय होंगे।
- वैज्ञानिक आधारों पर जल के युक्तियुक्त दोहन की योजना बनेगी।
- बिजली आपूर्ति में सुधार के लिए कम से कम 5000 मेगावॉट की वृद्धि होगी।
- सभी तकनीकी और वाणिज्यिक हानियों में 9% की
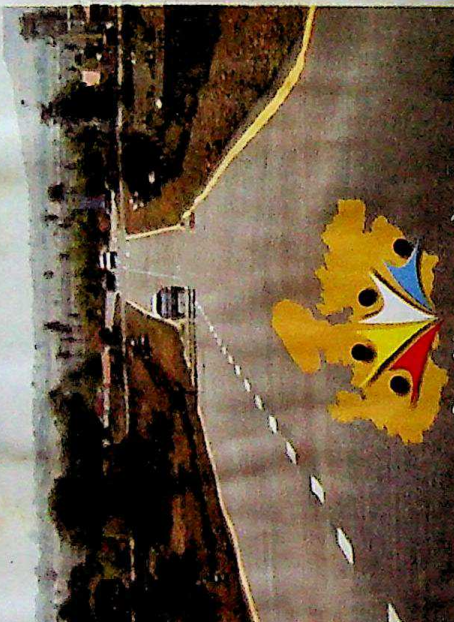
संचेतना

पूर्णांक 192, वर्ष 40, अंक 2
जून–2010
(प्रकाशित जुलाई – 2010)

संपादक
महीप सिंह

प्रबंध संपादक
जयदीप सिंह
संदीप सिंह

संयुक्त संपादक
कमलेश सचदेव
गुरचरण सिंह

भाब्द–संयोजक
राजेश सिंह
कार्यालय सहयोगी
मनजीत कौर, परमजीत सिंह

आवरण सज्जा
संदीप

क्षेत्रीय प्रतिनिधि
कीर्ति केसर (जालन्धर) कमलेश बख्शी (मुंबई), जसबीर चावला (इंदौर), सुभाष रस्तोगी (चण्डीगढ़), सरोज वशिष्ठ (शिमला), हरनाम सिंह भट्टी (छिंदवाड़ा), वीरेन्द्र कुमार दुबे (जबलपुर)

मूल्य
एक प्रति : 20 रुपये, वार्षिक : 75 रुपये
संस्थाओं–पुस्तकालयों के लिए : 100 रुपये
विदेशों में : 20 डालर, आजीवन : 1000 रुपये

सम्पर्क
एच–108, शिवाजी पार्क, पंजाबी बाग,
नई दिल्ली–26, फोन : 25222888
E mail : sanchetna@live.com

मुद्रक एवं प्रकाशक
संदीप सिंह
डीके आफसेट
डी.एस.आई.डी.सी. रोहतक रोड इंडस्ट्रियल कम्प्लेक्स, नांगलोई, दिल्ली–110041 से मुद्रित तथा एच–108, शिवाजी पार्क, पंजाबी बाग नई दिल्ली–110026 से प्रकाशित

कृति विमर्श : नागपर्व

आकलन

कहानी

कविताएँ

समीक्षा

पत्रिकाएँ

व्यंग्य

अपनी ओर से

साहित्य अकादमी द्वारा रवीन्द्रनाथ ठाकुर पर प्रकाशित महत्त्वपूर्ण कृतियाँ

उपन्यास / कहानी

आँख की किरकिरी (चोखेर बाली)
अनुवादकः हंसकुमार तिवारी
पृष्ठ : 230, पुनर्मुद्रण : 2009
ISBN : 81–7201 661–1 75 रुपये

गोरा (बाङला)
अनुवादक : सच्चिदानन्द वात्स्यायन
पृष्ठ : 456, पुनर्मुद्रण : 2009
ISBN : 81–7201–627–1 125 रुपये

योगायोग (जोगाजोग)
अनुवादक : इलाचन्द्र जोशी
पृष्ठ : 252, पुनर्मुद्रण :2009
ISBN : 81–260–0889–X 60 रुपये

रवीन्द्रनाथ की कहानियाँ(भाग–एक)
अनुवादक : राम सिंह तोमर
पृष्ठ : 374, संशोधित संस्करण : 2008
ISBN : 81–260–0325–5 125 रुपये

रवीन्द्रनाथ की कहानियाँ (भाग–दो)
अनुवादक : कणिका तोमर
पृष्ठ : 272, संशोधित संस्करण : 2008
ISBN : 81–260–1409–1 100रुपये

रवीन्द्रनाथ की कविताएँ

(चुनी हुई 101 बाङला कविताओं का संकलन)
अनुवादक : हजारीप्रसाद द्विवेदी, रामधारी सिंह दिनकर हंसकुमार तिवारी तथा भवानीप्रसाद मिश्र
पृष्ठ : 336, पुनर्मुद्रण : 2008
ISBN : 81–260–121–1 पेपर बैक 90 रु.,सजिल्द 125रु.

रवीन्द्र रचना संचयन
(रवीन्द्रनाथ ठाकुर की रचनाएँ)
संपादक : असित कुमार बंधोपाध्याय
पृष्ठ : XX+ 820,पुनर्मुद्रण : 2009 200 रुपये

निबन्ध

रवीन्द्रनाथ के निबन्ध (भाग–1)
(दर्शनिक,शैक्षणिक, सामाजिक और राजनीतिक निबन्ध)
अनुवादक : विश्वनाथा नरवणं
पृष्ठ : 566, पुनर्मुद्रण : 2009
ISBN : 978–81–260–2429–2 150 रुपये

रवीन्द्रनाथ के निबन्ध (भाग–2)
(आत्मकथा, साहित्य–समीक्षा, चारुलेख आदि विविध विधाओं के निबन्ध)
अनुवादक : अमृत राय
पृष्ठ : 510, पुनर्मुद्रण : 2009
ISBN : 978:81:260–2430–8 150 रुपये

रवीन्द्रनाथा के निबन्ध (भाग–3)
(साहित्य समालोचना, साहित्य तत्व और व्यक्तिगत निबन्ध)
अनुवादक : चन्द्रकिरण राठी
पृष्ठ : 220, संस्करण : 1996
ISBN : 81–7201–976–9 85 रुपये

(नाटक)

ताश का देश (ताशेर देश)
अनुवादक : रणजीत साहा
पृष्ठ : 64, पुनर्मुद्रण : 2008
ISBN : 81–260–0317–0 50 रुपये

रवीन्द्रनाथ के नाटक (प्रथम खण्ड)
अनुवादक : प्रफुल्लचन्द्र ओझा 'मुक्त' हंसकुमार तिवारी तथा भारतभूषण अग्रवाल
पृष्ठ : 308, पुनर्मुद्रण :2005
ISBN : 81–260–1401–6 150 रुपये

रवीन्द्रनाथ के नाटक (द्वितीय खण्ड)
अनुवादक : स.ही. वात्सयायन, प्रफुल्लचन्द्र ओझा 'मुक्त' भारतभूषण अग्रवाल तथा हजारीप्रसाद द्विवेदी
पृष्ठ : 96, पुनर्मुद्रण : 2005
ISBN : 81–260–1407–5 140 रुपये

बाल साहित्य

रवीन्द्रनाथ करा बाल साहित्य (दो भागों में)
संपादक : लीला मजूमदार तथा क्षितीश राय
अनुवादक : युगजीत नवलपुरी
पृष्ठ : 160 एवं 176, पुनर्मुद्रण :2009
ISBN :81–260–0009–0 (भाग–1) 35 रुपये
ISBN : 81–260–0008–2 (भाग–2) (प्रत्येक भाग)

(गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 150वीं वर्षगांठ के उपलक्ष्य में अकादेमी द्वारा प्रकाशित रवीन्द्रनाथ ठाकुर की पुस्तकों पर 33 प्रतिशत की छूट, 9 मई 2011 तक)

कृपया अपने आदेश सचिव, साहित्य अकादेमी, विक्रय विभाग, 'स्वाति' मंदिर मार्ग, नई दिल्ली–110001
दूरभाष : 23745297, 23364204, 23745295 फैक्स : 23364207
ई. मेल : sahityaakademisales@vsnl.net
वैबसाइट : www.sahitya_akademi.gov.in

श्रेष्ठ लेखकों की श्रेष्ठ रचनाएँ

कमलेश्वर

कितने पाकिस्तान / कमलेश्वर : साहित्य अकादमी पुरस्कार से सम्मानित कमलेश्वर का सामयिक, विचारोत्तेजक एवं कालजयी उपन्यास है। इस उपन्यास में कमलेश्वर अपने समकालीनों से बहुत आगे चले गए हैं। इस उपन्यास को हिन्दी के प्रथम *'विश्व उपन्यास'* की संज्ञा दी जा सकती है। **मूल्य : 250/-**

समग्र उपन्यास / कमलेश्वर : कमलेश्वर के लिखे दस उपन्यासों का एक ही ग्रन्थ में संकलन, नवीन भूमिकाओं सहित। **मूल्य : 500/-**

समग्र कहानियाँ / कमलेश्वर : हिन्दी कथा-लेखन को नया मोड़ देने वाले लेखक-सम्पादक कमलेश्वर की आज तक लिखी सभी कहानियों का कालक्रमानुसार संकलन, प्रभावी भूमिकाओं सहित। **मूल्य : 500/-**

अज्ञेय

संपूर्ण कहानियाँ / 'अज्ञेय' : हिन्दी साहित्य को आधुनिकता का रूप प्रदान करने का सबसे अधिक कार्य 'अज्ञेय' जी ने किया। प्रस्तुत संकलन में उनकी सभी 67 कहानियाँ उनकी ही एक लम्बी भूमिका के साथ दी गई हैं। परिशिष्ट में उनके सम्बन्ध में विविध कालों में लिखे हुए लेख भी दिए गए हैं। पुस्तक अपने विषय को उसकी पूरी समग्रता में समेटती है। **मूल्य : 400/-**

चुनी हुई कविताएँ / 'अज्ञेय' : कविता के क्षेत्र में 'अज्ञेय' का योगदान बहुत मूल्यवान है। उनके लगभग डेढ़ दर्जन काव्य संग्रह प्रकाशित हुए लेकिन पाठकों का आग्रह स्वीकार कर कवि ने स्वयं ही यह चयन किया। एक विस्तृत भूमिका भी लिखी जिससे इस पुस्तक का महत्त्व और भी अधिक बढ़ गया। **मूल्य : 100/-**

बच्चन

'बच्चन' आत्मकथा (चार भागों में) : चार वृहद खण्डों में प्रकाशित हरिवंशराय 'बच्चन' की आत्मकथा *क्या भूलूं क्या याद करूं, नीड़ का निर्माण फिर, बसेरे से दूर, 'दशद्वार' से 'सोपान'* तक हिन्दी साहित्य की एक अमूल्य निधि बन गयी है। डॉ. धर्मवीर भारती ने इसे हिन्दी के हज़ार वर्षों के इतिहास में ऐसी पहली घटना बताया है, जब अपने बारे में बड़ी बेबाक ी, साहस और सद्भावना से कह दिया गया है। निस्सन्देह यह आत्मकथा हिन्दी साहित्य के सफ र का मील-पत्थर है। 'बच्चन' जी को इसके लिए हिन्दी साहित्य के सर्वोच्च सम्मान 'सरस्वती सम्मान' से भी सम्मानित किया जा चुका है। **मूल्य : 1025-(चार भाग)**

मधुशाला / 'बच्चन' : अग्रणी कवि 'बच्चन' की 'मधुशाला' अत्यन्त लोकप्रिय हुई। प्रथम मधुशाला ने तो हिन्दी जगत में धूम ही मचा दी। यह दरअसल हिन्दी साहित्य की आत्मा का अंग ही बन गई और कालजयी रचनाओं की श्रेणी में आ खड़ी हुई। इन कविताओं की रचना के समय 'बच्चन' जी की उम्र 27-28 वर्ष की थी। स्वाभाविक है कि यह संग्रह यौवन-रस और ज्वार से भरपूर है। **मूल्य : 80/-**

मेरी श्रेष्ठ कविताएँ / 'बच्चन' : अपने काव्य-काल के आरम्भ से 1983 तक अग्रणी कवि 'बच्चन' की ये सर्वश्रेष्ठ रचनाएँ हैं जिनका चुनाव उन्होंने स्वयं किया है। प्रस्तुत संकलन में *'मधुशाला'* से लेकर *'जाल समेटा'* तक सभी संग्रहों की सर्वश्रेष्ठ रचनाएँ हैं। **मूल्य : 300/-**

मोहन राकेश

संपूर्ण कहानियाँ/मोहन राकेश : नाटक की भाँति मोहन राकेश ने कहानी विधा को भी एक नया मोड़ दिया। प्रस्तुत संकलन में लगभग 22 वर्षों के रचनाकाल में लिखी उनकी सभी 46 कहानियाँ हैं, साथ में लेखक की एक छोटी भूमिका भी है। **मूल्य : 300/-**

संपूर्ण नाटक / मोहन राकेश : मोहन राकेश हिन्दी जगत के लिए कभी न भुलाया जा सकने वाला नाम है। उन्होंने नाटक के क्षेत्र में *'आषाढ़ का एक दिन', 'लहरों के राजहंस', 'आधे-अधूरे'* लिखकर दुर्लभ ख्याति प्राप्त की। संपादक नेमिचंद जैन ने इसे एक 'यादगार' ग्रन्थ बना दिया है। **मूल्य : 400/-**

राजपाल

राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली

मुख्यमंत्री डॉ. रमन सिंह का
जन-जन से आह्वान

प्रिय भाइयों और बहनों,

जय जोहार !

बीते साल हमने राज्य स्तर पर पानी और पर्यावरण के संरक्षण-संवर्धन का अभियान शुरू किया था। जिसे आगे बढ़ाते हुए इस साल "अक्षय तृतीया" 16 मई 2010 से पानी रोको महाभियान का शुभारंभ किया गया है। राज्य सरकार के विभिन्न विभाग जलाशयों तथा तालाबों के गहरीकरण, संरक्षण के साथ नई जल संरचनाएं बनाने का काम करेंगे ही, लेकिन आप सबकी भागीदारी के बिना यह महाअभियान सफल नहीं हो सकता। माननीय सांसदों, विधायकों, त्रि-स्तरीय पंचायत राज संस्थाओं, जनप्रतिनिधियों, सामाजिक-औद्योगिक संगठनों, छात्र-छात्राओं, कामगारों, नागरिक बंधुओं, गृहणियों सभी से मेरा अनुरोध है कि अपने-अपने क्षेत्र में इस महाभियान में भागीदार बनिए। अपने घरों-दफ्तरों में रेनवाटर हार्वेस्टिंग स्ट्रक्चर्स बनवाएं। अपनी जमीन पर भी पानी सोखने वाली कोई संरचना बनवाएं। आज आप धरती की प्यास बुझाएंगे तो कल धरती आपकी सभी कामनाएं पूर्ण करेगी।

पानी बचाने, रोकने का महाभियान लगातार चलाना है इसके बाद हमें तीन वर्षीय कार्ययोजना बनाना है और उसे अमल में लाना है। मेरा पुनः अनुरोध है कि आप सब इस विषय की गंभीरता को समझें और अपना योगदान दें।

आपका ही

(डॉ. रमन सिंह)

प्रतिक्रियाएँ

'संचेतना' अंक 191 प्राप्त हुआ। हिन्दी साहित्य जगत को अनूठी देन है यह पत्रिका। हिन्दी के सिकुड़ते हुए साहित्य संसार के प्रति आपकी चिंता जिस प्रकार से 'संचेतना' के सम्पादकीय में व्यक्त हुई है वह हमें चिंतन के लिए विवश कर देती है। सुप्रसिद्ध कथाकार कुसुम अंसल जी के उपन्यास 'तापसी' पर छपे अनेक विमर्शात्मक लेख वृन्दावन में भटकती, मरती-जीती विधवाओं, जिन्हें धार्मिक समाज 'तापसी' की संज्ञा देता है, की दुर्दशा की ओर संकेत देते हैं। काफ़ी विचलित कर देने वाले अनुभव उक्त उपन्यास में होंगे, ऐसा जाहिर होता है। वास्तव में जनसामान्य धार्मिक स्थलों पर जिस आस्था और विश्वास के साथ जाता है, उसे प्रत्यक्षतः सब कुछ भक्तिमय और आनंदमय ही प्रायः नज़र आता है परन्तु उस उजास के पीछे छिपे हुए अंधेरों को भेद कर कोई संवेदनशील रचनाकार ही देख और अभिव्यक्त कर सकता है। एक कृति को लेकर विमर्श को पत्रिका एक अंक में काफी स्पेस देती है, यह स्वयं में सुखद है। कुसुम अंसल, महीप सिंह, सरोज वशिष्ठ के विमर्शात्मक लेख कृति के बहाने और भी बहुत कुछ संवाद पाठकों से स्थापित करते और कहते हैं। यशवंतकर सन्तोष कुमार लक्ष्मण का दुष्यंत कुमार की ग़ज़लों पर आकलन अच्छा लगा। वैसे तो इस अंक में छपी कहानियां अच्छी हैं, परन्तु इकबाल अंसारी की कहानी 'जुम्मा' हमारी चेतना को झकझोर देने वाली है। ''गरीबी जो न कराए थोड़ा है'' यदि इस उक्ति पर कोई कहानी रची जाए तो आज के कथाजगत में 'जुम्मा' से बेहतर शायद ही मिलेगी।

सुधाकर अदीब
चंद्र सदन, 15-वैशाली एन्क्लेव, से.-9, इंदिरा नगर, लखनऊ-226016

'तापसी' पर आधारित अंक पढ़ने की लालसा से पलटे गए पन्ने 'जीवन्त प्रश्नों के उभार' पर आकर थम गए। यह पढ़ कर कि 'मुझे लगता है कि अहिन्दी भाषी प्रदेशों में हिन्दी में किया गया मौलिक कार्य, आने वाले कुछ वर्षो में थम जाएगा, वहां के लेखक अपनी-अपनी भाषाओं की ओर झुकते चले जाएंगे, क्योंकि वहां उन्हें अपनी पहचान और स्वीकृति प्राप्त करने में उन व्याधियों से नहीं गुजरना पड़ेगा, जो हिन्दी में लिखकर मिलती हैं।''

''हिन्दी का प्रकाशन व्यवसाय भी बुरी तरह सिमटता जा रहा है। पहले प्रायः सभी छोटे-बड़े नगरों में पुस्तक प्रकाशन भी थे और विक्रेता भी थे। इस कारण वहां के लेखकों को अपनी रचनाओं को प्रकाशित करवाने में अधिक कठिनाई नहीं होती थी। इस समय पूरा प्रकाशन व्यवसाय दिल्ली में केन्द्रित हो गया है।''

'अपनी ओर से' में प्रकाशित उपरोक्त विचार मन को कुरेद गए। दरअसल मैंने भी अपने लेखकीय जीवन का बहुतायत हिस्सा अहिन्दी भाषी क्षेत्रों (महाराष्ट एवं असम) में ही बिताया है यह सच है कि ऐसे क्षेत्रों में हिन्दी-लेखन (प्रकाशन आदि की दृष्टि से) बहुत कठिन है। प्रकाशकों के रूप में भी रचनाकारों को अनेक खट्टे-मीठे अनुभव सहने पड़ते हैं। कभी-कभी ऐसा लगता कि मैदानी इलाकों में नारियल या सुपारी लगाने जैसा कार्य है; लेकिन हिन्दी भाषी क्षेत्रों में प्रतिनिधि के रूप में जाने पर, जो मान-सम्मान मिलता है वह भी अविस्मरणीय होता है। कुछ मुद्दों पर आदमी बहुत अकेला, तो कभी सामूहिक अनुभव करता है और फिर वहां की अनुभूतियों, परिस्थितियों और पर्यावरण का चित्रण आदि हिंदी-साहित्य की विविधता और व्यापकता में भी श्रीवृद्धि करता है। संपूर्ण भारत का, हर क्षेत्र का दिल्ली में ही केन्द्रीकरण निश्चित रूप से सोचनीय है।

जो भी हो, हिंदी को लेकर प्रश्न जरूर है, लेकिन चिंता नहीं क्योंकि कम्प्यूटर की दुनिया में भी कलम उसी तरह सजीव है। यंत्रों के खड़-खड़ में कविता के मंद, मधुर स्पन्दित स्वर अनवरत विस्तारित हैं। विश्व की अनेकानेक भाषाओं के बीच हिन्दी का अस्तित्व सदा बना रहेगा। कोई न कोई कबीर, सूर, तुलसी सहेजने आएगा।

'तापसी' के बारे में विविध विचार पढ़े। तापसी की समस्याएं अनेक हैं, उनसे जूझना ही उसकी नियति बन चुकी है। तापसी व्यक्ति ही नहीं परिवेश, प्रथा, प्रताड़ना, प्रलोभन और व्यवस्था-परिणाम का चित्रण है, नारी को लेकर न जाने कितने आंदोलन, क्रांति, नियम कानून, साहित्य आदि रचे गए, लेकिन कहीं न कहीं, कभी-कभी ये सब व्यर्थ लगते हैं। उसे अपना पहाड़ा स्वयं पढ़ना होगा। चाहे वह वृन्दावन, गया, काशी हो या कोलकाता, दिल्ली, मुम्बई हो। इसी अंक की 'मैं द्रौपदी हूं' कविता के माध्यम से तापसी के लिएं कहना चाहूंगी-

आज मैं उन सबको/ जो दोषी हैं मेरे/ और इतिहास के/ क्षमा कर रही हूं/ इस विश्वास पर/ कि अब हर द्रौपदी/ अपने भाग्य से/ लड़ने को खड़ी है। इस महत्वपूर्ण अंक के लिए बधाई।

शुभदा पांडेय
मंगलायतन विश्वविद्यालय, अलीगढ़-202145

छूतछात के विरुद्ध संघर्ष करना इनकी प्राथमिकता में क्यों नहीं है?

इस बीच मुझे यह सबसे अधिक आघातकारी बात लगी, जब मैंने यह पढ़ा कि उत्तर प्रदेश में कुछ स्थानों पर प्राइमरी स्कूल के कुछ बच्चों ने उस भोजन को खाने से इन्कार कर दिया, जिसे उन महिलाओं ने पकाया था जो दलित वर्ग से हैं। ऐसे बहुत से बच्चों ने सरकारी स्कूलों को छोड़कर निजी प्रबन्ध में चलने वाले स्कूलों में दाखिला ले लिया है।

प्राइमरी स्कूल में पढ़ने वाले किसी बच्चे की आयु कितनी होती है? उसे इस आयु में इस बात का बोध नहीं होता कि भोजन पकाने वाली महिला किस जाति या वर्ग की है। स्वाभाविक है कि इन बच्चों के अभिभावकों को जब यह पता लगा होगा कि स्कूल में बच्चों के लिए भोजन पकानेवाली महिला (या महिलाएँ) दलित वर्ग से हैं, जिन्हें सवर्ण समाज कितनी ही शतियों से अछूत मानता आ रहा है, तो उन्होंने ही अपने बच्चों को ऐसा भोजन करने से रोक दिया होगा। इस स्थिति की विडम्बना केवल इतनी ही नहीं है कि ऐसे अभिभावकों ने केवल अपने बच्चों को वह भोजन खाने से ही मना किया, बल्कि कई स्थानों पर सैंकड़ों की गिनती में इकट्ठा हो कर स्कूल के रसोईघर की तोड़फोड़ भी की, पुलिस पर पत्थर भी बरसाए। कहा नहीं जा सकता कि भोजन पकानेवाली दलित महिलाओं की क्या दुर्गति बनाई गई होगी।

इस समाचार को पढ़कर स्वर्ग में गाँधी जी की आत्मा कितनी कराही होगी, जिन्होंने इस वर्ग को ईश्वर का विशेष कृपापात्र, हरिजन, कह कर पुकारा था। बाबा साहब अम्बेडकर की आत्मा को इस बात का संतोष होगा कि उनका यह निर्णय कितना सही था कि हिन्दू समाज का अंग होकर उन्हें अपमान, प्रतारणा और अन्याय के अतिरिक्त कुछ नहीं मिलेगा।

मुझे सबसे अधिक खेद उन संस्थाओं और उनके स्वनामधन्य नेताओं के प्रति होता है जो 'हिन्दुत्व' का एजेण्डा लेकर चल रहे हैं, इस देश को हिन्दू राष्ट्र बनाने के लिए प्रतिबद्ध हैं और उद्घोष करते हैं–गर्व से कहो– हम हिन्दू हैं। हिन्दू समाज की ही एक महिला के हाथ के पके भोजन का तिरस्कार करके किस प्रकार के गर्व की अनुभूति हो सकती है?

आश्चर्य इस बात का होता है कि हिन्दुत्व का एजेण्डा लेकर चलने वाली संस्थाओं की प्राथमिकता में अयोध्या में भव्य राम मंदिर के निर्माण की बात है, देश भर में गौवध पर प्रतिबंध लगाने की बात भी है, पाकिस्तान के प्रति कड़ा रूख अपनाने की बात भी है किन्तु सारे देश में दलित वर्ग के प्रति जो भेद भाव बरता जाता है, उसे दूर करने का अभियान चलाना उनकी प्राथमिकता में क्यों नहीं आता? छूतछात की इस व्याधि के कारण असंख्य लोगों को अपना धर्म–परिवर्तन करना पड़ा और डॉ. अम्बेडकर को यह कहना पड़ा कि मैं हिन्दू होकर जन्मा अवश्य हूँ, किन्तु हिन्दू रहकर मरूँगा नहीं।

हिन्दू समाज छूत–अछूत की व्याधि को कितनी शतियों से झेल रहा है, किन्तु इससे मुक्ति मिलती नहीं दिखती। 1950 में जब इस देश में नया संविधान लागू हुआ था, तो उसमें अस्पृश्यता को अपराध घोषित कर दिया गया था। कानून तो बन गया किन्तु लोगों की मानसिकता नहीं बदली। आज भी देश के विभिन्न भागों से इस प्रकार के समाचार आते रहते हैं कि अमुक स्थान पर दूल्हा बने दलित युवक को घोड़े पर नहीं चढ़ने दिया गया, अमुक स्थान पर दलित वर्ग को सार्वजनिक कुएँ से पानी नहीं भरने दिया गया, अमुक स्थान पर किसी दलित के शव का उस श्मशान में अग्नि दाह नहीं करने दिया गया जिसका उपयोग सवर्ण लोगों के मृतकों के लिए किया जाता है।

यह स्थिति भी कम त्रासद नहीं है कि इस व्याधि से देश का कोई भी भाग अछूता नहीं है। इस देश की सम्पूर्ण जनसंख्या का पांचवां भाग दलित वर्ग का है। इस पूरे वर्ग को जातिवाद पर आधारित हमारी समाज व्यवस्था में भेदभाव को पीड़ा झेलनी पड़ती है।

इस सम्बन्ध में कुछ समय पूर्व मैंने तमिलनाडु की एक रिपोर्ट पढ़ी थी। इस प्रदेश में सामाजिक सुधार से जुड़े आन्दोलनों की लम्बी परम्परा है। किन्तु यह प्रदेश आज भी छूत छात की व्याधि से बुरी तरह ग्रसित है। यहाँ अनेक स्थानों पर आज भी चाय–काफी बेचने वाली ऐसी दुकानें हैं जहाँ सवर्णों को स्टील या शीशे के गिलासों में चाय दी जाती है और दलितों को प्रयोग के बाद फेंक दिए जा सकने योग्य प्यालों में चाय दी जाती है। भेदभाव के विरुद्ध जब जागरूक दलित अपना प्रतिरोध व्यक्त करते हैं तो उन पर हिंसक आक्रमण होते हैं, उनकी झुग्गियों–झोंपड़ियों में आग लगा दी जाती है और उनका बहिष्कार किया जाता है।

इस संदर्भ में वहां छूतछात विरोधी कुछ संगठनों द्वारा व्यापक सर्वेक्षण किए गए हैं। उन्होंने आज भी प्रचलित अस्पृश्यता के अनेक बिन्दुओं की पहचान की है। प्राचीनकाल से ही दलित वर्ग को शिक्षा प्राप्ति से वंचित रखा गया। उन्हें

भूमि ग्रहण करने या किसी प्रकार की सम्पत्ति रखने का अधिकार तो कभी था ही नहीं। जीवित रहने के लिए कठोर श्रम के अतिरिक्त उनके पास कभी कोई विकल्प नहीं रहा है। उन्हें सार्वजनिक तालाबों, कुओं, श्मशान भूमि आदि के प्रयोग की अनुमति प्राप्त नहीं रही है, मंदिर प्रवेश की बात तो बहुत दूर है। देश के लगभग सभी भागों में, विशेष रूप से गांवों में दलित और सवर्ण बस्तियाँ अलग–अलग बनती रही हैं। तमिलनाडु के मदुराई जिले के एक स्थान उत्युपुरम में यह भेदभाव इस सीमा तक है कि सवर्ण जाति के लोगों ने वहाँ 500 मीटर लम्बी एक ऐसी दीवार भी बना ली है जिससे दलित वर्ग के लोग उनकी बस्ती में न जा सकें ।

सर्वेक्षण रिपोर्ट यह कहती है कि अस्पृश्यता विरोधी कानून, शिक्षा के प्रसार और आधुनिक जीवन के दबाव के कारण, इस व्याधि ने अनेक नए रूप धारण कर लिए हैं। मैला ढोने के काम पर अधिकतर दलितों को ही लगाया जाता है। यदि वे ऐसा काम करने में ना–नुकर करते हैं तो जम कर उनकी पिटाई की जाती है। इस सर्वेक्षण द्वारा यह तथ्य भी उजागर हुआ है कि तमिलनाडु के कुछ गांवों में डाकिए दलितों के घरों में जाकर डाक नहीं देते। उन्हें कहा जाता है कि वे स्वयं डाक घर जाकर अपनी डाक ले आएँ। इस सर्वेक्षण में यह भी कहा गया है कि सार्वजनिक परिवहन साधनों में भी अघोषित भेदभाव होता है। बसों में दलितों के चढ़ने पर अनेक अड़चनें डाली जाती हैं, उनकी बस्तियों में बने स्टापों पर बसें नहीं खड़ी की जातीं और बस कर्मचारी दलित यात्रियों के साथ बहुत दुर्व्यवहार करते हैं।

स्कूलों की दशा बहुत बुरी है। अधिसंख्य अध्यापक सवर्ण जातियों के होते हैं। कक्षा में दलित बच्चों को अलग बैठाया जाता है, सवर्ण जाति के बच्चों के साथ उन्हें पानी नहीं पीने दिया जाता। प्रायः अध्यापक दलित विद्यार्थियों को उनकी जाति के नाम से पुकार कर अपना गुस्सा निकालते हैं। यदि किसी दलित विद्यार्थी को अध्यापक शारीरिक दण्ड देना चाहता है तो यह कार्य किसी दूसरे दलित विद्यार्थी से कराया जाता है। इस सर्वेक्षण से यह भी ज्ञात हुआ है कि अनेक स्कूलों में दलित बच्चों को शिक्षा प्राप्ति के लिए हतोत्साहित किया जाता है, विशेष रूप से जब वह दसवीं–बारहवीं की श्रेणी तक पहुँच जाता है।

इस प्रकार के सर्वेक्षण से यह तथ्य भी सामने आया है कि सार्वजनिक वितरण प्रणाली में दलितों के साथ भेदभाव किया जाता है। उनसे कहा जाता है कि सप्ताह के एक विशेष दिन को आकर वे अपना राशन लें। ये शिकायतें भी मिली हैं कि दुकानदार उन्हें पूरा राशन भी नहीं देते।

गांवों में जीने वाले दलितों को अनेक प्रकार के अघोषित प्रतिबंधों के मध्य जीना पड़ता है। उन्हें केवल मादा कुत्ता पालने की अनुमति होती है। गांव के मंदिर में जब कोई बड़ा धार्मिक उत्सव मनाया जाता है तो दलितों से यह अपेक्षा की जाती है कि इन दिनों में वे सवर्णों के सामने नहीं आएंगे अपने आपको उनसे दूर रखेंगे।

दलितों ने कई बार इस भेदभाव के विरुद्ध पुलिस थाने में शिकायत दर्ज कराई। सवर्ण जातियों के लोग दलितों की इस बात से इतने क्रुद्ध हुए कि उन्होंने उनका सामाजिक बहिष्कार घोषित कर दिया। अधिसंख्यक दलित खेतिहर मज़दूर हैं। उन्हें जमीदारों ने खेतों में काम देने से मना कर दिया। नाइयों को उनके बाल न काटने का और दुकानदारों को उन्हें रोजमर्रा की चीजों की बिक्री न करने का आदेश जारी कर दिया गया।

सवर्ण समाज के लोग बहुत आक्रामक होकर प्रायः दलितों के लिए अनेक आर्थिक बंधन लगा देते हैं। अपनी प्रभुता मनवाने के लिए न केवल वे उन्हें सभी प्रकार की मजदूरी से वंचित कर देते हैं, आसपास के गांवों में भी ये सुझाव भेजे जाते हैं कि वे अपने क्षेत्रों में दलित समाज के व्यक्तियों को काम पर न लगाएँ। भूख से मरते हुए लोग संभ्रान्त लोगों के समक्ष घुटने टेकने और सभी प्रकार की अन्यायपूर्ण शर्तें मानने को बाध्य हो जाते हैं। अपनी छोटी–मोटी आजीविका के लिए सदियों से दलित समाज के लोग ऊंची जाति पर निर्भर रहे हैं। सभी प्रकार की पीड़ादायक स्थितियों के बावजूद वे उनसे टकराव लेने की स्थिति में नहीं होते। थक हार कर उन्हें उनके सम्मुख नत–मस्तक होना पड़ता है।

तमिलनाडु का यह क्षेत्र मात्र एक उदाहरण है। इस प्रकार की घटनाएं देश के सभी भागों में घटित होती रहती हैं। ऐसा लगता है कि ऊंच–नीच का भेद–भाव हमारी मानसिकता का अंग बन गया है।

यह स्थिति भी कम खेदजनक नहीं है कि भेदभाव और छूत–छात का समर्थन करने में अन्य पिछड़े वर्ग के लोग भी सवर्ण जातियों से पीछे नहीं हैं, जबकि शतियों तक वे स्वयं जात–पात की व्याधि झेलते रहे हैं।

हिन्दुत्व का ढिंढोरा पीटने वाले लोगों की प्राथमिकता में यह समस्या क्यों नहीं आती?

महीपसिंह

'नागपर्व' को लिखते हुए

राजनीति तथा पुलिस तंत्र की विभीषिकाओं को उजागर करने का प्रयास किया है

- गुरचरण सिंह

कृति-विमर्श स्तम्भ में आप पढ़ चुके हैं 'आवारा मसीहा' (विष्णु प्रभाकर), 'आवां' (चित्रा मुद्गल), 'अन्वेषक' (प्रताप सहगल) और 'तापसी' (कुसुम अंसल) कृतियों के सम्बन्ध में। इस अंक में प्रस्तुत है गुरचरण सिंह के उपन्यास 'नागपर्व' पर चर्चा - संपादक

उसने मेरे कंधे पर हाथ रखा फिर धीरे से कंधे को थपथपाया।

पीछे मुड़कर देखा, कोई नहीं था।

पर मैं उसकी थपथपाहट को पहचानता हूं। आश्वासनों से, मक्कारी तथा काइयांपन से भरी।

उसने कितने लोगों के कंधों को थपथपाया है। उसे पीठ थपथपाते तथा सिर पर हाथ रखते भी मैंने देखा है। पर वह किसी का नहीं है। वह कभी-कभार ही नज़र आता है। उससे मिलना सहज-सम्भव नहीं। वह बहुत ही व्यस्त आदमी है। जोड़-तोड़ में लगा, स्थितियों को अपने पक्ष में मोड़ता।

कुछ लोग उसे चारों तरफ से घेरे रखते हैं। उसकी हां में हां मिलाते हैं। लोगों का काम करवाते हैं। उससे भेंट सुनिश्चित करते हैं। वे इसी बात का खाते-पीते हैं।

उसे किसी से कोई सहानुभूति नहीं है। उसके मन में दया-ममता या अपनत्व का भाव नहीं है। पर वह वोट को पहचानता है। वोट को चाहता है जिसे उसके लोग 'समर्थन' कहते हैं। ऐसे लोगों को हम सभी ने अपने आस-पास देखा है। वे कैसे सोचते हैं? उनकी कार्य-प्रणाली क्या है? कैसे लोगों को अपने पक्ष में कर लेते हैं? कैसे लोगों को तोड़ लेते हैं? शब्दों के साथ कैसे खिलवाड़ करते हैं? इसे भी देखने-समझने का हम सभी को समय-समय पर अवसर मिलता रहता है।

जवाहर लाल नेहरू से इन्दिरागांधी के शासन काल तक इन लोगों ने महात्मा गांधी के नाम पर वोट मांगे। उस समय लोग स्वतन्त्रता संग्राम से जुड़े हुए थे। इन नेताओं की देशभक्ति तथा त्याग से प्रभावित भी थे। पर इन्दिरागांधी के शासन के बाद जैसे ही नई पीढ़ी वोटर बनी तो इन्दिरा गांधी तथा राजीव गांधी के नाम पर वोट मांगे गए। विपक्षी दल इन नेताओं के असली चेहरों को जनता के सामने लाने का निरंतर प्रयास करते रहे।

आजादी के तुरन्त बाद जो देशभक्ति का भाव लोगों तथा नेताओं के मन में था वह धीरे-धीरे कम होता गया। राजनेताओं का नया रूप लोगों के सामने आने लगा। वोट मांगते समय वे आदर्श नेता के रूप में जनता के सामने आते थे पर उनके असली रूप से धीरे-धीरे जनता परिचित होने लगी।

स्वार्थपरता, कुनबापरस्ती राजनीति में बढ़ती चली गई। इससे भ्रष्टाचार बढ़ा। सत्ता की भूख इस कदर बढ़ी कि कुर्सी पर जमे रहने के लिए सभी नैतिक अनैतिक हथकंडों को अपनाया गया। साम्प्रदायिक सद्भाव को समाप्त करने वाली, क्षेत्रीयता को बढ़ावा देने वाली कई सेनाएं अस्तित्व में आ गई। वर्तमान राजनीति साम्प्रदायिक तनाव को कम करने के स्थान पर उसे बढ़ा रही है। यहां तक कि जाति को आधार बनाकर चुनाव लड़े जा रहे हैं। इससे एक ही सम्प्रदाय या धर्म के बीच भी तनाव की स्थितियां पैदा हो रही हैं। हम सभी जानते हैं कि इस तरह की प्रवृत्तियों को बढ़ावा देना देश के लिए हितकर नहीं है, फिर भी राजनेताओं के जाल में फंसकर हम इसका शिकार हो रहे हैं। सांसदों-विधायकों की खरीद-फरोख्त प्रारम्भ हुई। आया राम, गया राम राजनीति का हिस्सा बन गया। इससे विचारों के प्रति प्रतिबद्धता का भाव समाप्त हो गया। कब कौन किस दल में चला जाएगा, कहा नहीं जा सकता।

राजनेताओं ने अरबों-खरबों के घोटाले किए- इससे हम

सभी परिचित हैं। राजनेताओं के पास आय से अधिक सम्पत्ति है। विधायक, सांसद बनते ही कुछ ही सालों में वे करोड़पति कैसे हो जाते हैं- इस लीला को आम जनता नहीं समझ पाई। राजनीति में आपराधिक प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। हत्या, बलात्कार जैसे अपराध राजनीति का हिस्सा बनते जा रहे हैं। इस बढ़ती आपराधिक प्रवृत्ति के कारण लोगों में असुरक्षा का भाव घर करता जा रहा है। जनता को न राजनेताओं पर विश्वास रहा है और न पुलिस तंत्र पर। जनता असंतुष्ट, असहाय तथा निराश है।

राजनीति का सीधा संबंध पुलिस तंत्र के साथ है। राजनेता पुलिस का प्रयोग अपने स्वार्थ के लिए प्रायः करते रहते हैं। पुलिस के चरित्र तथा उसकी कार्य-प्रणाली के मैं कुछ उदाहरण देना चाहूंगा जिससे उसका वास्तविक चेहरा सामने आ सके। जून 2010 के पहले दस दिनों में ही पुलिस तंत्र के साथ जुड़ी कई घटनाएं प्रकाश में आई हैं। उनमें से तीन घटनाओं का मैं जिक्र करना चाहूंगा— एक व्यक्ति एफआईआर लिखवाने थाने जाता है कि उसकी किडनी जबरदस्ती निकाली गई है। रिपोर्ट लिखने की बजाय पुलिस उसे ही हिरासत में ले लेती है और आरोप लगाती है कि उसके पास से चाकू मिला है।

बारह साल के बच्चे के सामने उसकी मां को थाने में निर्वस्त्र किया जाता है और फिर बच्चे से अपनी मां के साथ सम्भोग करने के लिए कहा जाता है।

एक ढाई साल के बच्चे पर आरोप लगाया जाता है कि वह लोगों को धमकाता है और जबरन पैसे वसूल करता है। उसके खिलाफ सम्मन जारी किया जाता है।

ये तीनों घटनाएं भारत की राजधानी दिल्ली में घटित हुई हैं और वह भी माह के पहले दस दिनों में। इन घटनाओं का संबंध सीधा पुलिस तंत्र तथा उसकी कार्यप्रणाली के साथ। इसके साथ ही बाइकर्स ने दिन-दहाड़े भरे बाजार में, पुलिस की नाक तले लोगों को लूटा, महिलाओं के गले से चेन झपटी गई, कई हत्याएं तथा बलात्कार हुए, चोरी-डकैती की घटनाओं से अखबारों के पृष्ठ भरे मिले, नशे में धुत वाहन चालक ने लोगों को रौंदा, घटना-ग्रस्त बच्चे को बिलखते-मरते पुलिस चुपचाप देखती रही और उसे अस्पताल ले जाने की जहमत किसी ने नहीं उठाई। यह हमारे देश की कानून-व्यवस्था है। अपराध निरंतर बढ़ते जा रहे हैं। इसके लिए हमारा पुलिस तंत्र ही उत्तरदायी है जो मूक दर्शक बना हुआ है। ऐसा सिर्फ दिल्ली में ही नहीं हो रहा है बल्कि हर गांव, कस्बे, नगर तथा महानगर में हो रहा है। अखबारों तथा इलेक्ट्रानिक मीडिया में आई ये खबरें दिल दहला देने वाली हैं। ये पुलिस के चेहरे को बेनकाब करती हैं। ऐसी स्थिति में आदमी पुलिस पर कैसे विश्वास कर सकता है तथा कैसे सहायता के लिए पुकार सकता है। इन घटनाओं के हम तटस्थ दर्शक नहीं रह सकते। ये हमारे मन-मस्तिष्क पर प्रभाव डालती हैं, उद्वेलित करती हैं, सोचने-विचारने तथा स्थिति को सही दिशा देने के लिए विवश करती हैं। इस तरह की घटनाएं जब तक हमारी सोच का हिस्सा नहीं बनतीं, स्थिति में सुधार नहीं हो सकता। लेखक तो उसे अपनी कल्पना तथा विवेक से कलात्मक रूप देता है।

राजनीति तथा पुलिस तंत्र के इसी चरित्र ने मुझे **नागपर्व** लिखने के लिए प्रेरित किया। आजादी से पहले की राजनीति तथा आजादी के बाद की राजनीति में आया बदलाव उपन्यास के केंद्र में है। इन्हीं घटनाओं का चित्रण इस उपन्यास में हुआ है। ऐसा भी नहीं है कि उपन्यास में आदर्श, आशा, आस्था की बात नहीं है। वह भी है— कहीं सीधी तो कहीं परोक्ष रूप में। पर वर्तमान समय के यथार्थ को चित्रित करने में मैंने अधिक रुचि ली है।

उपन्यास के प्रकाशन के बाद पाठकों, मित्रों, आलोचकों ने सवाल किया था— क्या आपका राजनीति से या पुलिस तंत्र से सीधा संबंध है? सीधे जुड़ाव के बिना इतना यथार्थ तथा सटीक चित्रण सम्भव नहीं है। इस संबंध में मैं इतना ही कहना चाहूंगा कि मेरा किसी राजनीतिक दल से कभी कोई संबंध नहीं रहा है। मैं किसी भी पार्टी का सदस्य नहीं हूं। राजनीति में मेरी कोई रुचि भी नहीं है। राजनीति से सदा दूर रहने का प्रयास किया है। पर यह भी सत्य है कि आज के युग में राजनीति से कोई अछूता नहीं रह सकता। हम सभी छोटी-बड़ी राजनीति से घिरे हुए हैं, उसके शिकार हैं। बातचीत में, आपसी संबंधों में भी राजनीति का प्रयोग करते रहते हैं। पुलिस तंत्र से भी मेरा कोई सीधा संबंध नहीं रहा है। इन दोनों के संबंध में इतना कुछ समाचार पत्रों में छपता रहता है। उससे राजनीति तथा पुलिस तंत्र के संबंध में जो बिंब या धारणा बनी मैंने उसे ही आधार बनाया है। साहित्य की प्रासंगिकता समय के साथ जुड़ी हुई होती है। समय का यथार्थ साहित्य में अभिव्यक्ति पाता है। मानवीय सरोकार की बात समय तथा समाज से जुड़कर ही सम्भव है। वर्तमान परिवेश के यथार्थ को ईमानदारी से अभिव्यक्त करने का प्रयास मैंने इस उपन्यास में किया है। उपन्यास में बड़े भैया राजनीति का प्रतिनिधित्व करते हैं तो डी.

सी.पी. वर्मा पुलिस तंत्र का। डी.सी.पी. वर्मा का पुत्र राकेश उपन्यास का एक अन्य महत्वपूर्ण पात्र है। उपन्यास में राकेश की रचना एक अनुशासित पुलिस अधिकारी के पुत्र के रूप में की गई है। मि. वर्मा अपने जीवन से निराश है। यह निराशा उनके व्यवहार से टपकती है जिसका प्रभाव घर के वातावरण पर भी पड़ता है– विशेष रूप से बालक राकेश पर। राकेश उनकी इकलौती संतान है। कठोर अनुशासन उसे निपट अकेला कर देता है। वह क्या सोचता है, क्या चाहता है, इसकी किसी को परवाह नहीं है। मि. वर्मा महत्वाकांक्षी हैं और वे चाहते हैं कि राकेश उनकी महत्वाकांक्षाओं पर खरा उतरें। इससे राकेश की इच्छाएं, आशाएं, उसकी अपनी महत्वाकांक्षाएं दब जाती हैं। वह एक 'मनोवैज्ञानिक केस' हो जाता है। उपन्यास के प्रारम्भ में बाल मनोविज्ञान की इन्हीं समस्याओं को उभारा गया है।

राकेश को उपन्यास के नायक के रूप में विकसित किया जा सकता था, पर मेरा ध्येय राजनीति तथा पुलिस तंत्र के चेहरे को बेनकाब करना था। इसलिए बड़े भैया तथा मि. वर्मा उपन्यास के केंद्र में आ गए।

मि. वर्मा का चित्रण एक ईमानदार कर्तव्यनिष्ठ पुलिस अधिकारी के रूप में किया गया है जो समय तथा परिस्थितियों का शिकार हो अन्य पुलिस अधिकारियों की तरह ही हो जाता है। मैंने उसकी आत्मा को पूरी तरह दूषित हो जाने से बचाने का हर संभव प्रयास किया है। मेरा उद्देश्य बुराई के पीछे छिपी अच्छाई को ढूंढना है। उपन्यास में उन कारणों की तर्कसंगत विवेचना है जो उसके चरित्र में बदलाव का कारण बनते हैं। पुलिस तथा राजनीति के अंदर की सड़ांध उपन्यास में उभरती है। परिवेश इतना भ्रष्ट तथा पतित हो गया है कि ईमानदार व्यक्ति का जीना दूभर हो गया है। मि. वर्मा में आया यह परिवर्तन उसे कितना मथता है, विचलित करता है इसका भी चित्रण हुआ है। उसके इस परिवर्तन से समकालीन व्यवस्था, सत्ता तथा उसकी कार्यप्रणाली की वास्तविकता उजागर होती है जो पाठकों को सोचने-विचारने पर विवश करती है कि हम किधर जा रहे हैं? हमारा मार्ग कैसा है? तथा उसमें सुधार कैसे सम्भव है। मेरा उद्देश्य पाठकों को आश्वासन देना या यह कहना नहीं था कि भविष्य में स्थितियां सुधर जाएंगी, निराश होने की आवश्यकता नहीं है। मेरा ध्यान वर्तमान परिवेश के यथार्थ का उसकी समस्त विसंगतियों, विद्रूपताओं तथा विडम्बनाओं के साथ चित्रित करने का था। भविष्य कैसा होगा इसका निर्णय पाठकों पर छोड़ा गया है।

बड़े भैया का चित्रण करते हुए, मैंने तीखे-तिलमिला देने वाले व्यंग्य का प्रयोग किया है। मुझे लगा था कि बड़े भैया का चरित्र व्यंग्य के माध्यम से ही उभारा जा सकता है। नैतिक पतन, भ्रष्ट वातावरण का चित्रण सीधे-सीधे न करके पात्रों के संवाद, उनकी क्रियाओं तथा उनके अन्तर को खोलते हुए किया गया है। फैंटेसी तथा प्रतिकात्मकता व्यंग्य को अधिक सघन तथा प्रभावी बनाती है। पात्रों के संवाद जनता के आक्रोश, विद्रोह और नैराश्य को ही व्यक्त करते हैं। पुलिस तंत्र तथा राजनेता ऐसे नाग के रूप में चित्रित किए गए हैं जो लोगों को डस कर पर्व मना रहे हैं।

बड़े भैया का चरित्र जटिल है। बड़े भैया का जो रूप जनता के सामने है वह है गांधी जी का भक्त, गीता पर विश्वास रखने वाला तथा जनता का सच्चा सेवक। पर उनका असली रूप इससे बिल्कुल विपरीत है। वह घाघ, काइयां, स्वार्थी नेता है। इन दोनों रूपों का चित्रण व्यंग्य के सहारे किया गया है। बड़े भैया की चाल को समझना सरल नहीं। वे जो करते हैं उसका संबंध उसके हृदय से नहीं होता। वे हंसते-मुस्कराते, लोगों को अपने पक्ष में करने तथा बड़े-बड़े दाव-पेंच का जाल बुनने में दक्ष हैं। उनका फैलाया जाल विफल नहीं होता। वे जानते हैं कि पार्टी में किसे कब और कहां बैठाना है तथा किसे उखाड़ना है। वे विरोधी पार्टियों की चालों को भी समझते हैं तथा उन्हें अपने पक्ष में करने की कला को भी जानते हैं। अपने हित के लिए वे आगजनी, दंगा, हिंसा का भी सहारा लेते हैं। चुनाव लड़ने तथा जीतने के लिए वे सभी तरह के हथकंडे अपनाते हैं। बड़े भैया तथा मि. वर्मा व्यक्ति का नहीं बल्कि अपने पूरे समुदाय का प्रतिनिधित्व करते हैं।

उपन्यास तेजी से विघटित होते मूल्यों, सामाजिक जीवन के पतन, अमर्यादित तथा अनैतिक जीवन को चित्रित करता है। अन्याय तथा अत्याचार के विरुद्ध आवाज उठाने के लिए प्रेरित करता है। राजनीति तथा पुलिस तंत्र का यथार्थ चित्रण महानगरीय परिवेश में ही मुझे सम्भव लगा। इसलिए उपन्यास में महानगरीय संवेदना, समस्याएं, लोगों के जीवन का तनाव, अकेलापन भय आदि भी उभरा है।

यह उपन्यास मैंने 'अन्याय के खिलाफ खड़ी आजादी के बाद की पीढ़ी' के नाम किया है। इससे उपन्यास का उद्देश्य स्वतः स्पष्ट हो जाता है।

6/15, अशोक नगर, नई दिल्ली-110018

डॉ. नरेन्द्र मोहन

राजनीतिक तंत्र में जकड़े हुए आम आदमी की फैंटेसी

गुरचरण सिंह का उपन्यास नागपर्व उनका चौथा उपन्यास है। पहले तीन उपन्यास हैं– यात्रा (1983), डूब जाती है नदी (1985), अपना अपना सच (1989)।

उपन्यास लिखने में उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति और गति है। अगर ऐसा न होता तो वे एक के बाद एक उपन्यास न लिख जाते। हिंदी में ऐसे उपन्यासकार कम ही हैं जिन्होंने एकाधिक उपन्यास लिखे हों और निरंतर उपन्यास लेखन करते हुए उपन्यासकार के तौर पर अपने व्यक्तित्व का विकास किया हो। यह सही है कि किसी लेखक का पहला और एकमात्र उपन्यास भी विशिष्ट हो सकता है किंतु एक बड़े उपन्यासकार के तौर पर प्रतिष्ठित होने के लिए ज़माने भर की हलचलों और विसंगतियों का बोध जगाना और एक बड़ी रेंज पर अनुभव का संक्रांत होना ज़रूरी है। हम यह नहीं कह रहे कि गुरचरण सिंह में यह सब है, पर समसामयिक जिंदगी के विविध पक्षों पर लिखने और उस दिशा में बढ़ने की ललक उनमें है।

गुरचरण उन लेखकों में से नहीं हैं जिनमें प्रतिभा का स्पार्क एक कौंध की तरह से चौंधियाता हो और बुझ जाता हो। वे धीरे-धीरे लगातार अभ्यास और लगन से अपनी प्रतिभा को निखारते रहे हैं और अपने हर नए उपन्यास में नई विषयवस्तु को उठाते रहे हैं। नागपर्व को उनकी विकास यात्रा के एक मोड़ के तौर पर भी देखा जा सकता है।

नागपर्व उपन्यास की बानगी राजनीतिक उपन्यास जैसी है। विषयवस्तु की दृष्टि से यह एक राजनीतिक उपन्यास का-सा आभास भी देता है। राजनीति और पुलिस तंत्र इस देश के आम आदमी के साथ जो क्रूर खेल खेलता है, उसका चित्रण इस उपन्यास में हुआ है। यह चित्रण हिंदी पाठकों के लिए परिचित ही है। लेखक ने इस तंत्र की भयावह और क्रूर शक्ति के विभिन्न स्तरों को इस तरह उघाड़ा है कि सभी उसके शिकंजे में कसे प्रतीत होते हैं। बीस वर्ष तक अपनी आस्था और मूल्यवत्ता को बचाये रखने वाले और उसके लिए कीमत चुकाने वाले डी.सी.पी. वर्मा भी अंततः इस तंत्र का हिस्सा बन जाते हैं। जो वर्मा बड़ी तकलीफ और बेचैनी से सोचा करते थे– 'कब तक चलेगा यह? कब तक चलाया जाएगा यह? धूर्त राजनीतिज्ञ कब तक यह खेल खेलते रहेंगे?' वही वर्मा भ्रष्टाचार के कुचक्र का खुद संचालन करने लगता है– बेकसूर हरभजन की गिरफ़्तारी करके और सुधा की हत्या का उपयोग करके। शुरू-शुरू में अपराधबोध उसे सालता है लेकिन बाद में नेताओं और मंत्रियों के सीधे संपर्क में आने से मूल्य और नैतिकता का उसके लिए कोई अर्थ नहीं रह जाता और इस तरह वह डी.सी.पी. से कमिश्नर बन जाता है। ईमानदार मि. वर्मा का भ्रष्ट मि. वर्मा में रूपांतरण अपनी स्थिति के प्रति घोर वितृष्णा और तीव्र मानसिक उद्वेलनों से पैदा हुआ है।

लेखक ने राजनीतिक संदर्भ और व्यक्ति की अंदरूनी जिंदगी को करीब लाना चाहा है और इस तरह एक फैंटेसी बुननी चाही है, भले ही वह उसमें पूरी तरह सफल नहीं हुआ है पर उसका एक ग्राफ यह उपन्यास देता ही है। यह ग्राफ राजनीतिक- दार्शनिक विचारों-विचारधाराओं पर टिका हुआ नहीं है। जो लोग राजनीतिक उपन्यास में विचारधाराओं का टकराव देखने के अभ्यस्त हैं, उन्हें यह उपन्यास पढ़कर निराशा हो सकती है, उन्हें भी जो इस ढंग के उपन्यासों में मूल्य-प्रतिबद्ध शक्तियों को राजनीतिक सत्ता की अमानवीयता के विरुद्ध संघर्ष करता हुआ दिखाते हैं। इन दोनों पद्धतियों को लेखक ने भी अपनाया है। उसने राजनीतिक तंत्र के कार्यकलापों और कार्य पद्धतियों का चित्रण करते हुए उससे घिरे हुए, दबे और सहमे हुए व्यक्ति की पीड़ा और त्रासदी को उभारने पर अपनी दृष्टि केंद्रित की है और इसके लिए उसने आंशिक तौर पर फैंटेसी के माध्यम को अपनाया है, खास तौर पर डी.सी.पी. वर्मा के पुत्र राकेश के लिए।

दरअसल, राकेश ही इस उपन्यास की केंद्रीय संवेदना का वाहक है यानी भ्रष्ट राजनीतिक माहौल में व्यक्ति के अकेले और कुंठित होते जाने की संवेदना। वह भयाक्रांत है और अकेला सपने के बोझ तले दबता जा रहा है। रात होते ही उसके सामने पहाड़ उगने लगते हैं और वह महसूस करता है उसे पहाड़ के नीचे धकेला जा रहा है। उपन्यास के प्रारंभ में उसकी मनःस्थिति का स्वप्न-विधान इस प्रकार किया गया है – 'उठता हुआ पहाड़ और अंधेरी गुफा... स्याह दैत्य के नुकीले हाथ ... महुए का पेड़ और पिशाचिन...' उसे लगता

है वह शिखर से लटक गया है दैत्य और विशाल दर्रे के बीच। 'दोनों ओर से मौत से सीधा साक्षात्कार।' उसे महसूस होता है– उसे बचाने के लिए दाईं ओर से एक कोमल-सा हाथ बढ़ता है।' ये सपने उसके अवचेतन का परिचय देते हैं जो एक ओर पिता से आतंकित होने की वजह से बना है, दूसरी ओर पुलिस के क्रूर व्यवहारों को देखकर। तभी तो वह निर्णय करता है कि वह पुलिस में नहीं जाएगा, कभी नहीं जाएगा। लेखक ने राकेश के अवचेतन को टटोला है लेकिन उसे औपन्यासिक स्थितियों में खोला नहीं है।

उपन्यास का संवेदनात्मक बिंदु राकेश है जबकि कथा मि. वर्मा के सहारे राजनीतिक दांव-पेचों से बयान की है। राजनीतिक प्रसंगों और संवेदना के केंद्रीय बिंदुओं में संतुलन का अभाव है।

उपन्यास का कथ्य राजनीतिक सत्ता और पुलिस तंत्र की मुट्ठी में जकड़े हुए आम आदमी की दुर्गति और नियति का बोध कराना है– पर इस तरह का बोध कराने में समर्थ राकेश को बार-बार उपन्यास की धुरी से परे धकेल दिया जाता है उपन्यास के अंत में भी ऐसा ही हुआ है। उपन्यास की अंतिम पंक्तियाँ हैं– 'मूर्ख है रामावतार। राजनीति में धैर्य की ज़रूरत होती है। उसने वही खो दिया है।' उपन्यास का इस ढंग का आकस्मिक अंत करने की क्या लेखकीय बाध्यता रही है, यह समझ पाना मुश्किल है।

डी-239, डी.डी.ए. राजौरी गार्डेन
नई दिल्ली-110027

डॉ. वेद प्रकाश अमिताभ

नागपर्व : औपन्यासिक उपलब्धि

व्यवस्था की अमानवीयता और राजनीतिक कदाचार को लेकर हिंदी में कई अच्छे उपन्यास लिखे गए हैं। 'दारुलशफा', 'एक और मुख्य मंत्री', 'सबहिं नचावत राम गुसाई', 'हीरक जयंती', 'महाभोज' आदि उपन्यासों में नीति विहीन होने की त्रासदी के साथ-साथ सत्ता के स्वार्थी, क्रूर और अवसरवादी चरित्र का उद्घाटन विस्तार से हुआ है। 'पहला रिपोर्टर' (निर्मल वर्मा), 'कटरा की आरज़ू' (राही मासूम रजा), 'शांति भंग' (मुद्राराक्षस), 'अभी शेष है' (महीप सिंह) आदि उपन्यासों में आपात स्थिति की निरकुंशता और अमानवीयता लिपिबद्ध है। ये सभी उपन्यास जनसेवकों, अधिकारियों और बुद्धिजीवियों के अधःपतन से क्षुब्ध हैं और मौजूदा व्यवस्था में सकारात्मक परिवर्तन के हामी हैं। गुरचरण सिंह कृत नागपर्व इसी परंपरा की विचारोत्तेजक कृति है।

हालाँकि गुरचरण सिंह एक समीक्षक के रूप में ख्यात हैं, एक अच्छे संपादक के रूप में जाने जाते हैं लेकिन सर्जनात्मक साहित्य में भी उनकी अच्छी गति है। बाल साहित्य के अतिरिक्त यात्रा, डूब जाती है नदी, अपना अपना सच आदि उपन्यास उनकी कारयित्री प्रतिभा का प्रमाण देते हैं। नागपर्व उनका नया उपन्यास है। यह उपन्यास अपने पहले पाठ में ही उपन्यासकार के समय-सजग और समाज-संपृक्त रचनाकार होने की गवाही देता है। यह उपन्यास राकेश की अप-सामान्यता के हवाले से शुरू होता है और नेताजी की तिकड़मों की जानकारी के साथ समाप्त होता है। राकेश के पिता पुलिस अधिकारी हैं। उन्हें प्रायः अपनी ईमानदारी और कर्त्तव्यनिष्ठा का खामियाजा भुगतना पड़ता है। वे प्रायः एक द्वंद्व से गुजरते हैं। उनके द्वंद्व में ही उपन्यास की मुख्य चिंता संश्लिष्ट है–

'हम जैसे संवेदनशील लोग, पढ़ी-लिखी जमात, कानून के रखवाले कहलाने वाले हम क्या करें? क्या वह चुपचाप इस लूट खसोट, सांप्रदायिकता, धार्मिक कट्टरता के फैलते ज़हर को देखता रहे? क्या वह स्वार्थी नेताओं मंत्रियों के इशारे पर नाचता रहे?'

अन्यत्र भी पुलिस अधिकारी का निर्भ्रांत मत है – 'ये जो हमारे नेता हैं यदि हस्तक्षेप करना छोड़ दें तो सभी चोरी चकारियां और गुंडागर्दी ख़त्म हो जाए। ये चोर-डाकू-बदमाश सभी नेताओं के पाले हुए कुत्ते हैं। उन्हीं के इशारों पर समाज को काट रहे हैं।'

इस तरह की सोच वाला डी.सी.पी. वर्मा भरसक इन विकृतियों के विरुद्ध लड़ता है लेकिन स्वयं पीड़ित-प्रताड़ित होकर हार मान लेता है। वह भी अंततः उसी जनविरोधी सत्ता का अंग बन जाता है। उसके साथ हो जाने से न केवल उसकी आर्थिक स्थिति सुधरती है अपितु वह आए दिन की प्रताड़ना से भी बहुत कुछ मुक्ति पा लेता है। वह नेता जी के कुचक्रों की बागडोर संभाल लेता है और उनकी सत्ता-प्राप्ति में बाधक तत्त्वों के सफाये में अहम भूमिका निभाता है। उसने एक बार अपने बेटे राकेश से कहा था- 'समाज, सत्ता,

व्यवस्था चारों ओर फैला भ्रष्टाचार कब मुझे भी गिर जाने के लिए विवश कर दे, कुछ कहा नहीं जा सकता।' अपने इस पतन को लेकर वर्मा खिन्न भी होते हैं। वे अपनी पत्नी से कहते हैं– 'मैं वह नहीं रहा हूँ, जिसने तुमसे विवाह किया था, जिसे तुमने इतने सालों तक चाहा और प्यार किया।' लेकिन यह पश्चाताप क्षणिक है, वे शीघ्र ही भ्रष्टाचार के पंक में आकंठ मग्न हो जाते हैं। बड़े भैया को जिताने के लिए वे विरोधी नेता हरिभजन को जिस तरह फंसाते हैं, वह उनकी गिरावट का प्रत्यक्ष प्रमाण है। चाहे सुधा की हत्या हो या दंगों में इन्सानों की हत्या, वे वही करते हैं, जो उनके आका चाहते हैं। फर्जी एन्काउंटर, झूठे आरोपों में गिरफ्तारी आदि कारनामों से वे प्रोन्नति पाने में सफल होते हैं। उन्हें नेताओं की शक्ति का पता चल चुका है, इसलिए वे अपने सीधे-सादे बेटे राकेश को नेता बनने के लिए प्रोत्साहित करते हैं।

उपन्यास के प्रारंभ में राकेश एक दुःस्वप्न देखता है। उसे प्रायः नीता नाम की एक लड़की सपने में दिखाई देती है। डाक्टरों को लगता है राकेश की समस्या अकेलेपन की है। उसे घर में कैद-सा रखा गया है, इंजीनियर-डॉक्टर बनाने के उद्देश्य से। नीता एक काल्पनिक चेहरा है, जो उसके अकेलेपन को कम करता है। आत्मविश्लेषण करते हुए राकेश पाता है– 'उसकी समस्या है प्यार। वह किसी से भी अपनत्व चाहता है। जो ज़रा-सा प्यार दे, वह उसी का हो जाना चाहता है।' उसे कभी-कभी लगता है कि वह अकेलेपन के बोझ को ढो नहीं पाएगा, क्योंकि वांछित प्यार उसे नहीं मिलता और न मिलने की संभावना है– 'अकेलेपन से पीड़ित व्यक्ति आत्मीयता चाहता है, अपनत्व और प्यार चाहता है। पर वह मिलना संभव नहीं।' उपन्यासकार ने राकेश को पिता की इच्छानुसार कॉलेज की राजनीति में भाग लेते दिखाया है। उसे जिताने के लिए डी.सी.पी. वर्मा और बड़े भैया झूठे अपहरण का नाटक करते है। इस षड्यंत्र से अनभिज्ञ राकेश चुनाव जीतकर कुछ नया करना चाहता है, लेकिन पिता का परामर्श उसकी गतिविधियों को सीमित कर देता है। उपन्यासकार राकेश के चरित्र को व्यवस्था विरोधी तेवर देकर अंधेरे में एक सकारात्मक दीप्ति जगा सकता था। तब वह अन्याय के ख़िलाफ खड़ी आज़ादी के बाद की पीढ़ी का समुचित प्रतिनिधित्व कर पाता।

इस उपन्यास में भ्रष्ट तत्त्वों की हर साजिश सफल होती दिखाई गई है और उपन्यास का अंत नेता जी की निश्चिंतता में हुआ है। ज़ाहिर है, उपन्यास का अंत परिवर्तन के प्रति आश्वस्तकारी नहीं है। हालाँकि एक स्थान पर उपन्यासकार ने यथास्थिति को बदलने के कुछ सूत्र अवश्य दिए है। 'स्वतंत्रता' और 'उत्तरदायित्व' इन दो शब्दों को व्यक्ति और समाज की उन्नति का निमित्त बताया गया है। नीता उत्तरदायित्व को अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व देती है। उसके अनुसार– 'यदि अपने उत्तरदायित्व को व्यक्ति समझ ले तो व्यक्ति खुद और उसका समाज, उसका देश कैसे उन्नति नहीं करेगा। पर हम सब स्वार्थी, कामचोर हैं। हमारा चयन उत्तरदायित्वपूर्ण नहीं होता।' उपन्यासकार ने बड़े भैया का चरित्र मनोयोगपूर्वक गढ़ा है। इस तरह का घाघ राजनीतिज्ञ पाठकों-आलोचकों को विश्वसनीय लगेगा। वह अपने नौकर किशन को विधायक बनाना चाहता है। उसे परामर्श देता है– 'मेरी लाइब्रेरी में संपूर्ण महाभारत है– टीका सहित। उसे पढ़ना। राजनीति में भाग लेना हो तो इससे उत्तम दूसरा ग्रंथ नहीं! आहा! क्या लोग थे वे। इतने पुराने समय में इतनी बुद्धि। क्या चाल चलते थे। हम तो उनके सामने कुछ भी नहीं।' किशन शीघ्र ही समझ जाता है कि बड़े भैया में महाभारत के कई पात्रों के गुणों का समावेश है। ये पात्र निश्चय ही शकुनि, दुर्योधन, दुःशासन ही होंगे। ऐसे जनसेवकों को देखते हुए उपन्यासकार का यह सोचना कितना सटीक है -'कहाँ गए वे वीर, जो हँसते हुए फांसी के फंदों पर झूल गए थे। अंग्रेजों की गोलियों का, उनके अत्याचारों का शिकार हुए थे। और आज ये नेता गांधी-नेहरू का मुखौटा पहन आदर्शों का बखान करते, जनता को, देश को लूटते जा रहे हैं।'

इस उपन्यास में पठनीयता का गुण खूब है। इसका कारण है कि उपन्यास की भाषा अत्यंत सहज और संप्रेषणीय है। बिना किसी कारीगरी और जटिलता के कहानी का गुण पाठक की सहायता करता है। ऐसा भी नहीं है कि भाषा एकदम सपाट है। अनेक अवसरों पर उसमें वक्रता और लाक्षणिकता का सौंदर्य है - 'कितना नुकीला है पढ़ाई शब्द जो उसके दिल में धंसता ही जा रहा है।' अथवा 'सत्य मिठास तो कभी-कभी ही देता है।' अपने विश्वसनीय 'कथ्य' को यथासंभव प्रभावशाली अभिव्यक्ति देने में गुरचरण सिंह को निश्चय ही सफलता मिली है।

डी-131, रमेश विहार,
ज्ञान सरोवर, अलीगढ़-6

डॉ. भ.प्र. निदारिया

'नागपर्व' में एकाकीपन का बोध

गुरचरण सिंह के उपन्यास नागपर्व में तीन कथा क्रम हैं। पहला राकेश की कुंठाएँ, उसका चिंतनशील एवं आधुनिकता की दौड़ में भागता व्यक्तित्व; दूसरा ईमानदार पुलिस अधिकारी मि. वर्मा द्वारा व्यवस्था के गंदे हथकंडों से समझौता और तीसरा, नेता जी यानी बड़े भैया के माध्यम से कुटिल राजनीति एवं उसके घिनौने पहलुओं का पर्दाफाश।

उपन्यास का आरंभ राकेश के भयावह स्वप्न से होता है और अंत नेता जी की शतरंजी जीत से। लगता है जैसे व्यवस्था में बड़े-बड़े नाग कुंडली मारे बैठे हैं। वे राजनीतिक धुनों पर मस्ती से नृत्य करते हैं। आम जीवन में दहशत फैलाते, वल खाते, रेंगते रहते हैं, अपने कुल विरोधी लोगों को डसते रहते हैं, उन्हें अपनी जिह्वा के दोनों सिरों का भली भाँति प्रयोग करना आता है। जो उन्हें दूध पिलाने की सामर्थ्य रखते हैं, उन्हें पालते-पोसते हैं वे थोड़ा-बहुत बचे रहते हैं। बाकी लोग शोषण और अत्याचार की अदृश्य चक्की में पिसते रहते हैं, मर-खप जाते हैं। वे यह कल्पना नहीं कर पाते कि जो कुछ घट रहा है, उसका कारण व्यवस्था के वातावरण में फैली कुटिल नीतियाँ हैं, विषाक्त समीकरण है।

उपन्यास में भ्रष्ट राजनीति और व्यवस्था के विविध पहलुओं के साथ-साथ अस्तित्ववादी विचारधारा भी मिलती है। इस विचारधारा को राकेश के माध्यम से अनेक स्थलों पर प्रस्तुत किया गया है। इस प्रस्तुतीकरण के मूल में है मुख्यतया राकेश का और कमोबेश अन्य पात्रों का एकाकीपन। यूँ, महानगरीय सभ्यता में यह एकाकीपन आश्चर्य की बात नहीं। अलग-अलग कारणों से लोग अपने आपको इस एकाकीपन से घिरा हुआ पाते हैं। एकाकीपन का यह बोध प्रेम एवं इच्छापूर्ति के अभाव से, कठोर अनुशासन से और भौतिक तथा दैनिक आपदाओं से होता है।

नागपर्व उपन्यास में महानगरीय सभ्यता के बीच जीते हुए पात्रों को लिया गया है। कभी भौतिक सुख-सुविधाओं की ओर दौड़ते, कभी प्रेम-सूत्रों को ढूँढते तो कभी जोड़-तोड़ की नीति में रत ये पात्र कहीं-न-कहीं स्वयं को टूटा हुआ, बिखरा हुआ, अकेला पाते हैं। इस उपन्यास में एकाकीपन से सर्वाधिक ग्रस्त व्यक्ति राकेश है।

आरंभिक दौर में राकेश की समस्या घर की चारदीवारी और पढ़ाई को लेकर है। माता-पिता उससे पढ़ाई करते रहने की बात अधिक करते हैं। अपनी ओर से वह भरपूर पढ़ाई भी करता है, पर उसकी और भी इच्छाएँ हैं, वह बच्चों के साथ खेलना चाहता है, दौड़ना चाहता है, हँसना चाहता है, शरारतें करना चाहता है, वह चाहता है कि माता-पिता उसे भरपूर प्यार करें। वह बुआ की कुटिलता और माँ का सीधापन—दोनों से खिन्न है। उसकी कल्पना में एक नीता है जिसे वह सबसे छिपाए रखना चाहता है, पर उसका सान्निध्य भी चाहता है। और इन सारी चाहतों की बाबत वह अपने आपको किसी के सामने अभिव्यक्त करना चाहता है, पर उसकी अभिव्यक्ति को निरंतर दबाए जाने के उपक्रम होते हैं घर में। इसलिए वह स्वयं को निपट अकेला पाता है। उसके भयानक सपनों के पीछे अकेलेपन की त्रासदी छिपी हुई है। उसका शारीरिक एवं व्यावहारिक विकास इतना कम हो पाया है कि लोगों की नज़रों में वह एक असामान्य प्राणी और सहपाठियों की नज़र में किताबी कीड़ा मात्र है। उसकी कुंठा शारीरिक बल तथा आत्मविश्वास की कमी को लेकर है जिसके बारे में वह कभी-कभी अवचेतन में चीख उठता है— 'वह कायर या डरपोक नहीं' कहकर। भीड़-भड़क्का, लंबी-चौड़ी सड़कों पर वह अपनी हीन भावना के साथ घूम नहीं सकता। उसे लगता है जैसे 'वह एक अंतहीन पगडंडी पर नंगे पैर चला जा रहा है, पैर गंदे हो गए हैं, उनमें छाले पड़ गए हैं, ख़ून बह रहा है।'

राकेश अपने एकाकीपन के मूल में 'शास्त्रीय धुन' यानी रूढ़िवादिता, परंपराओं और कठोर अनुशासन को पाता है। माता-पिता द्वारा उपेक्षित उसका कोमल मन अनुशासन में इतना अधिक जकड़ा हुआ है कि आत्मविश्वास की कमी उसे बेचैन करती रहती है। वह अपने जीवन का मार्ग खुद बनाने के लिए व्याकुल है। वह निरर्थक जीना नहीं चाहता। यही कारण है कि एक दुर्घटनाग्रस्त व्यक्ति को अस्पताल पहुँचा कर उसे लगता है कि उसने अपने अस्तित्व को अर्थ दे दिया है, अपने एकाकीपन को तोड़ दिया है, वह एक अजनबी के साथ ही सही जुड़ गया है। सिगरेट पीती लड़की को देख वह असमंजस में है। सोचता है— यह अपनी बोरियत को, अकेलेपन को दूर करने के लिए सिगरेट पीने जैसा ख़राब काम ही क्यों कर रही है? वह कोई और मार्ग क्यों नहीं

अपनाती?

अकेलेपन में वह अपने अस्तित्व के बारे में अनेक बार सोचता है– आख़िर वह क्या है? पर जान नहीं पाता। उसकी समस्या ज्यों-की-त्यों बनी रहती है। अपने खोल में समाया वह छटपटाता रहता है। अपनी पहचान चाहता है वह। पहचान-जो उसके एकाकीपन को नष्ट करके रख देगी। वह चाहता है कि कोई उसे जाने, समझे, प्यार करे। अपनी पहचान का दर्द उसे इतना व्यथित कर देता है कि वह स्वयं को ख़त्म हुआ समझने लगता है– शेल्फ में रखी या मेज़ पर पड़ी किताब की तरह उसे लगता है कि किसी अनजान शक्ति ने उसे इस दुनिया में सुख-दुख भोगने के लिए फेंक दिया है और वह लक्ष्यहीन भटक रहा है।

सबके सामीप्य के इच्छुक राकेश के भीतर एक विद्रोह पनपता रहता है। वह अपने खोल से बाहर निकलकर अपने अकेलेपन को भूलना चाहता है। गुमसुम व उदास न रहकर, अपने बदले व्यवहार से सबको चकित कर देने का उसका प्रयास उसे और उसके सहपाठियों को अच्छा नहीं लगता। वह स्वाभाविक, प्राकृतिक रूप से अंतर्मुखी होते हुए भी परिवर्तित स्वभाव के कारण स्वयं को कृत्रिमता में जकड़ा पाता है। उसे लगता है कि लोगों की नज़रों में वह पहले असामान्य था परंतु आज अपनी ही नज़रों में असहज हो गया है, औपचारिक हो गया है। कभी तो वह बोझ और अर्थहीनता से मुक्ति पाने के लिए ढूँढ़े गए बहानों में ही संतोष पाता है। कभी ये बहाने उसे और भी अधिक अकेला कर जाते हैं। दो उदाहरण द्रष्टव्य हैं –

(क) उसे लगता है हर क्षण वह जो अब बिता रहा है उसका अपना है। शेष सब व्यर्थ और बोझ है। वह हर क्षण के सुख को भोग लेना चाहता है।

(ख) दिल्ली में कौन है ऐसा जो (अकेलेपन के) इस बोझ से पिस न रहा हो। वह किसी से सिर्फ़ औपचारिकता निभाने के लिए बात करता है या कोई उससे करता है तो इससे अकेलापन टूटता नहीं बल्कि और बढ़ जाता है।

अकेलापन उसके जीवन में इतना घुल-मिल गया है कि उससे रहित अस्तित्व की कल्पना भी उसे ग्राह्य नहीं है-'वह ऐसे लोगों को अपना साथी भी नहीं बना सकता जो जोंक की तरह चिपक जाते हैं और किसी को अकेले होने का बोध नहीं होने देते।' इस प्रकार वह एकाकीपन की आवश्यकता को रेखांकित करते हुए उस चिंतनशील व्यक्तित्व का समर्थक है जो एक सार्थक जीवन जीने के लिए प्रयासरत है। एकाकीपन यानी स्व में लीन हुए बिना सार्थकता की बात सोचना शायद संभव भी नहीं है। परंतु राकेश– जो वैज्ञानिक बनना चाहता था, जिसे पिता पुलिस अधिकारी बनाना चाहते थे– परिस्थितियों के वशीभूत नेतागिरी की ओर झुकता है। वह उन तमाम स्थितियों को बदल देना चाहता है जो न्यूनाधिक रूप में व्यक्ति में अकेलेपन की भावना को बल प्रदान करती हैं। वह समझ गया है घर में घुटन होती है– घर से बाहर ज़िंदगी होती है। यह मनोभावना अपने आपसे निकलकर दूसरों से जुड़ने से संबंधित है। एकाकीपन से बचने का एक यह भी ढंग है– कई मामलों में सार्थक ढंग।

शुरू में राकेश का एकाकीपन कभी-कभी माँ के स्पर्श से दूर हो जाता था। ऐसे में उसे नीता का ध्यान आता था। नारी की प्रेम एवं वात्सल्यमयी मूर्ति के रूप में नीता का ध्यान उसे अकेला नहीं रहने देता था, किंतु नीता का यह ध्यान धीरे-धीरे यौनाकर्षण में बदलने लगता है। यौनाकर्षण की कल्पना में ही वह अपने एकांत को भूल जाना चाहता है।

उपन्यास में राकेश के अलावा अन्य पात्रों में भी यह मनःस्थिति वर्तमान है। अनेक विवशताओं के तहत जब मि. वर्मा का पहली बार नेता जी के साथ भ्रष्ट समझौता होता है तब उसके मन में भी एकाकीपन का यह बोध गहराता है– 'उन्हें लगा वो वर्मा नहीं हैं, पांडे हैं, सक्सेना हैं, मि. सिंह हैं या उन जैसे हजारों में से कोई एक हैं। उन्हें लगा वे घर जाएँगे तो शायद उन्हें कोई पहचान नहीं पाएगा।' वे स्वयं को सबसे कटा हुआ अनुभव करते हैं। आत्मग्लानि से निःसृत यह एकाकीपन उन्हें अनेक बार झकझोरता है। भावावेश में वे कह उठते हैं– 'खुद को मारकर सुख का, खुशी का अनुभव नहीं किया जा सकता। न जाने क्यों मुझे लगता है कि मैंने अपने आपको मार डाला है।'

श्रीमती वर्मा यानी माँ को तो राकेश ने बचपन से ही चुप, खामोश, सब कुछ सहते हुए देखा है। घर की चारदीवारी में बंद जैसे उनकी कुछ क़हने, चाहने, पाने की कोई इच्छा ही न हो। दिन भर अकेली रहने वाली श्रीमती वर्मा पति और पुत्र के घर लौटने पर उसकी मनःस्थिति का ध्यान रखते हुए ही बातें करती हैं अन्यथा एक अकेलापन उन्हें आरंभ से अंत तक घेरे रहता है।

ईमानदार, सीधे-सादे और सेवाभाव रखने वाले हरभजन जी जैसे लोग भ्रष्ट व्यवस्था में पूरी तरह अकेले पड़ जाते हैं। उपन्यास में कॉलेज चुनावों में विरोधी पार्टी के उम्मीदवार बेकसूर होते हुए भी मिमियाते रह जाते हैं। सुधा कांड में घिरे नेता भी स्वयं को एकबारगी निपट अकेला, असहाय पाते हैं और राजनीति तो अकेलों का ही खेल है– जहाँ कोई किसी का नहीं होता।

एकाकीपन का यह बोध अनेक स्तरों पर उपन्यास में मिलता है। अंतर्मन से उपजे एकाकीपन का शिकार राकेश है तो आदर्श भारतीय नारी की तरह इसे अपनी इच्छा से श्रीमती वर्मा ने ओढ़ रखा है। भ्रष्ट व्यवस्था से समझौता करके मि. वर्मा भी इसको स्वयं अपनाते हैं और अपनी सीमाओं में घिरी व्यक्तिगत स्वतंत्रता तथा उत्तरदायित्व की भावना की समर्थक नीता यानी प्रभा का राकेश के प्रति समर्पण का भाव भी कहीं-न-कहीं इस एकाकीपन को तोड़ने का प्रयास है।

उपन्यासकार ने नीता के माध्यम से एक बात कही है– 'समय का और अनुभव का व्यक्ति के चिंतन पर प्रभाव पड़ता है। व्यक्ति का दर्शन बदल जाता है, उसकी विचारधारा बदल जाती है।' उपन्यास के अधिकांश पात्रों पर ये उक्तियाँ खरी उतरती हैं। सभी पात्रों में यह बदलाव मिलता है। एकाकीपन के सर्वाधिक शिकार राकेश की विचारधारा भी समय और अनुभव के साथ परिवर्तित होती है– सबसे पहले बुआ को लेकर, फिर माता-पिता को लेकर और फिर नीता व समाज को लेकर। इससे लगता है कि एकाकीपन का यह बोध धीरे-धीरे स्वयं ही तिरोहित हो जाता है। उपन्यास के अंतिम चरण में राकेश की बजाय नेता जी के प्रकरणों को दिया जाना एकाकीपन के इस बोध के स्वतः ही दूर हो जाने का संकेत देता है। यूँ राकेश उपन्यास की केंद्रीय संवेदना है। उपन्यासकार ने उस संवेदना को अंत तक नहीं निबाहा। उपन्यासकार ने राकेश के चरित्र को और गहराया होता तो उपन्यास का अंत इतना नाटकीय नहीं होता जितना हो गया है। बहरहाल, एकाकीपन के बोध संबंधी विविध आयाम इस उपन्यास में निरूपित हुए हैं।

10841/44, नानकपुरा
करोल बाग
नई दिल्ली-110005

डॉ. सुभाष रस्तोगी

राजनीति और पुलिस तंत्र पर करारा व्यंग्य

बहुआयामी प्रतिभा के साहित्यकार डॉ. गुरचरण सिंह की रचनात्मक प्रतिभा को किसी एक विधा विशेष की हदबंदी में नहीं बांधा जा सकता। उनके बारे में यह तय कर पाना वाकई मुश्किल है कि उनकी मूल रचनात्मक विधा साहित्य है अथवा आलोचना। यही नहीं, चीज़ों को वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में पड़ताल करने वाले एक तत्त्वान्वेषी संपादक के रूप में भी डॉ. सिंह की कारयित्री प्रतिभा किसी औपचारिक परिचय की मोहताज नहीं है। एक बाल साहित्यकार के रूप में भी डॉ. साहब का अवदान महत्त्वपूर्ण है। वास्तव में विभिन्न रचनात्मक विधाएँ एक दूसरे की पूरक हुआ करती हैं और रचना कागज़ पर उतरने से पहले अपनी विधा विशेष का चुनाव स्वयं कर लेती है। रचनात्मक विधाओं के द्वार एक दूसरे के लिए सदैव खुले रहते हैं, और होता यह भी है कि एक विधा के अंतर्वर्ती सूत्र प्रायः दूसरी विधा में मुखर हुआ करते हैं। मेरी यह मान्यता है कि सभी रचनात्मक विधाएँ विराट शब्द पुरुष की एकोऽहम् बहुस्याम की अवधारणा का प्रतिफलन ही है। यही वजह है कि आलोचना ने डॉ. गुरचरण सिंह के कथाकार को तर्क की रोशनी प्रदान की है, और उनकी संपादन प्रतिभा ने कथा दृष्टि को एक विशेष महीन धार से संपन्न किया है। यह महीन धार व्यंग्य का ही दूसरा रूप है। इसलिए व्यंग्य की एक समानांतर नदी उनके कथा साहित्य में निरंतर प्रवाहमान रहती है। शब्दों के भीतर बजती बाँसुरी की धुन की तरह जो भले ही दिखाई न दे, एक गूँज निरंतर पाठक को अपने सम्मोहन पाश में बांधे रखती है। कथा साहित्य में कार्य-कारण की जिस शृंखला का गुंथा होना, उसकी संभाव्यता वेफ लिए बेहद ज़रूरी है, उसकी भी डॉ. सिंह के कथा साहित्य में कमी नहीं है। इस कार्य-कारण की शृंखला ने डा. गुरचरण सिंह के कथा साहित्य को जीवन-वास्तव का सहोदर तो बनाया ही है, उसे पर्याप्त रोचकता भी प्रदान की है। यहाँ यह बात विशेष तौर पर गौरतलब है कि पठनीयता डॉ. साहब के कथा साहित्य का सबसे बड़ा गुण है जो धीरे-धीरे नमूदार होता है और बाद में एक विराट शक्ल अख़्तियार कर लेता है। उस पठनीयता का जादू पाठक के सिर चढ़कर बोलता है और निरंतर आगे के

घटनाक्रम को जानने की जिज्ञासा पाठक में लगातार बलवती होती जाती है।

यात्रा (1980), डूब जाती नदी (1984), अपना-अपना सच (1989) के बाद नागपर्व (1991) डॉ गुरचरण सिंह का चौथा और अब तक प्रकाशित अंतिम उपन्यास है। यह एक राजनीतिक उपन्यास है और व्यंग्य इस उपन्यास की मुख्य टेक है। आज़ादी के बाद के दशकों में राजनीति और पुलिस का जिस तरह से गठजोड़ हुआ है और उसमें एक ईमानदार पुलिस अधिकारी की गुजर जिस तरह मुश्किल से मुश्किलतर होती जा रही है, उस संपूर्ण रोज़नामचे के एक दस्तावेज के रूप में यह उपन्यास हमारा ध्यान आकृष्ट करता है। वर्तमान राजनीति और पुलिस तंत्र नाग की तरह जनता को डस रहे हैं और इनसे चिपके लोग पर्व मना रहे हैं। भारतीय राजनीति के इसी अभिशाप को डॉ. गुरचरण सिंह ने नागपर्व की संज्ञा दी है। इस प्रकार नागपर्व भारतीय राजनीति के कोढ़ के एक धारदार प्रतीक के रूप में सामने आया है। उपन्यास की यह भी एक विरल खासियत है कि यह बिना किसी फतवेबाजी अथवा निष्कर्षात्मक टिप्पणी के समाप्त हो जाता है और इस तरह से यह यक्ष प्रश्न अनुत्तरित हीं रह जाता है कि राजनीति और पुलिस के जबड़ों के बीच फंसी निरीह जनता को इससे मुक्ति कब मिलेगी? संभवतः कभी नहीं अथवा तब, जब जनता चेतेगी, लेकिन जनता के चेतने का कोई लक्षण उपन्यास में संपूर्ण घटना क्रम के पटाक्षेप के बाद भी दिखाई नहीं देता। ऐसे में उपन्यास में 'बिटवीन दी लाइन्स' जो विकल्प उभरता दिखाई देता है, वह यह कि जनता लामबंद हो, यह पहचाने कि हमाम में सब नंगे हैं, सत्ता पक्ष और विपक्ष दोनों ही उसे अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए जो मोहरा बनाने का खेल खेलते जा रहे हैं, वह इस यथास्थिति के ख़िलाफ बगावत करे। अपनी शक्ति को पहचानने में ही उसकी मुक्ति है। उपन्यास में अंधकार का जो पटाक्षेप है उसमें हड्डियों की हद तक नंगी हो गई जनता के लिए मुक्ति की रोशनी की मात्र यही लकीर फूटती दिखाई देती है।

उपन्यास का केंद्रीय पात्र डी.सी.पी. वर्मा बुनियादी तौर पर एक ईमानदार पुलिस अधिकारी है। उसे अपनी इस ईमानदारी का पुरस्कार भी जब-तब मिलता रहता है। उसके जूनियर तरक्की करके रातों रात शिखर पर काबिज हो जाते हैं और वह वहीं का वहीं अपनी ईमानदारी के यातना-शिविर का बंदी बने रहने के लिए अभिशप्त है। उसके सामने पहली दफा यह सच्चाई अपने वीभत्स रूप में तब उजागर होती है जब उसे न चाहते हुए भी पुलिस कमिश्नर के आदेश पर हत्यारे, स्मगलर और डाकू माखन को छोड़ना पड़ता है। घर में भी डी.सी.पी. वर्मा को अपमान की यातना ही भोगनी पड़ती है। डी.सी.पी. वर्मा अपनी बहन की आर्थिक सहायता करना चाहता है लेकिन यहाँ भी अपनी ईमानदारी के कारण अपनी बहन की उतनी आर्थिक सहायता नहीं कर पाता, जितनी करना चाहता है। अपने बेटे राकेश के लिए भी डी.सी.पी. वर्मा वह सब सुविधाएँ नहीं जुटा पाता, जो उसके स्तर के पुलिस अधिकारी अपने बेटे-बेटियों के लिए सहजता से जुटा लेते हैं। इस हालात के चक्रव्यूह से मुक्ति का एक ही विकल्प डी.सी.पी. वर्मा को दिखाई देता है कि वह अपनी ईमानदारी का लबादा उतार फेंके। और अंततः तमाम सत्यों और मर्यादाओं, नैतिकताओं को तिलांजलि देकर वह भी भ्रष्टाचार की मुख्य धारा में बहने के लिए विवश हो जाता है। आखिरकार इस सच्चाई को डी.सी.पी. वर्मा को स्वीकारना ही पड़ता है कि उस जैसे तीन-चार हजार रुपया पाने वाले मामूली से पुलिस अधिकारी की यह हैसियत नहीं है कि माखन जैसे बड़े आदमी को हाथ लगाए। देखें ये पंक्तियाँ जो इस लिहाज से गौरतलब हैं, 'हाँ वह हत्यारा है, स्मगलर है चोर है, डाकू है। क्या नहीं है वह? वह बहुत बड़ा आदमी है उसकी जेब में हजारों वोट हैं लाखों के नोट हैं। फिर हम तीन-चार हजार रुपया पाने वालों की क्या हिम्मत जो उसे हाथ लगाएँ?'

जिस व्यवस्था में प्रेस से लेकर अदालत तक, संतरी से लेकर मंत्री तक सभी बिकाऊ माल की भूमिका में शो केसों में सजे हुए हों, उसमें एक ईमानदार पुलिस ऑफिसर की भला कहाँ गुजर है। देखें ये पंक्तियाँ जो मिस्टर वर्मा के भ्रष्ट होने के कारणों का परत दर परत खुलासा करती हैं। अपनी इस पीड़ा और घुटन का राजदार बनाता है वह अपने बेटे राकेश को यह पूछने पर कि ये अचानक इतने पैसे कहाँ से आ गए, उसकी पीठ पर हाथ रखते हुए डी.सी.पी. वर्मा अपनी संपूर्ण पीड़ा उड़ेलकर मानो अपराध-बोध से मुक्त हो जाता है 'राकेश, मैं हार गया। जिन सिद्धांतों को लेकर इतनी देर लड़ता रहा, उन पर टिक नहीं सका। अपमान, ग्लानि सहने की एक सीमा होती है। लोग हर चीज को पैसे से नापते हैं

ईमानदारी दिखाकर क्या पाया मैंने। आत्मसंतोष मिलता तब भी शायद मैं अपने आदर्शों पर टिका रहता। पर राकेश इस ईमानदारी का क्या इनाम मिला मुझे? बार-बार ट्रांसफर, विपरीत सी आर ... प्रोमोशन भी नहीं मिल सकी मुझे। ईमानदारी से, मेहनत से अधिक समय काम करने पर भी मुझे एक घटिया, अयोग्य अफसर ठहराया गया। एक सच्चा, सीधा ईमानदार आदमी ऐसे परिवेश में सांस भी नहीं ले सकता।' पिता की इन पंक्तियों की रोशनी में राकेश को लगता है कि उसकी मम्मी भी तो जाने-अनजाने यही मार्ग चुनने के लिए प्रेरित करती रही है। उसे याद आता है कि जब भी मम्मी-पापा किसी पार्टी से लौटते थे तो मम्मी नाराज होती थीं। घर आकर बोलती थी, 'आप मेरा क्यों अपमान करवाने के लिए पार्टियों में ले जाते हैं। कितनी बातें सुननी पड़ती हैं मुझे।' पापा गुस्से से कहते थे– 'तो तुम चाहती हो कि मैं भी उन्हीं की तरह बन जाऊं। रिश्वत लूँ और तुम्हारे गले में सोने के हार डालूँ।'

'नहीं डाल सकते तो मत ले जाया करो ऐसी पार्टियों में।'

लेखक की आंखिन देखी का नतीजा है यह उपन्यास। गहरे पानी पैठकर सच्चाई के जो आबदार मोती लेखक के हाथ लगे हैं, उनसे निर्मित हुआ है डी.सी.पी. वर्मा का चरित्र, इसलिए यहाँ राई-रत्ती भी मिथ्या नहीं है। डी.सी.पी. वर्मा ही क्यों, काजर की कोठरी बनी इस व्यवस्था में कौन है ऐसा माई का लाल जिसके दामन पर कालिख न पुती हो। वर्मा इस भ्रष्ट व्यवस्था का अंग क्या बने, सुविधाओं के सारे रास्ते उनके कदमों में बिछ गए। नेताजी के साथ उनकी गोटी ऐसी सधी कि तरक्की देकर पुलिस के अतिरिक्त आयुक्त बना दिए गए। पुलिस के सर्वोच्च मैडल के लिए भी उनके नाम की संस्तुति की गई।

पुलिस भ्रष्ट इसलिए है कि राजनेता भ्रष्ट हैं। वास्तव में यह उपन्यास पुलिस की बनी बनाई छवि को तोड़ता है और पुलिस में व्याप्त भ्रष्टाचार के असली कारण पर प्रकाशवृत्त केंद्रित करता है। देखें ये पंक्तियाँ जो हमें सोचने की एक और सही दिशा देती हैं, 'पॉलिटिकल प्रेशर और पैसा, इसने किसी भी पुलिस कर्मचारी को ईमानदार नहीं रहने दिया।'

सूत्र रूप में कहें तो उपन्यास सच्ची घटनाओं का कच्चा चिट्ठा है। लेखक की कल्पना का कमाल है तो सिर्फ इतना कि उसने इन घटनाओं को बड़े ही कलात्मक ढंग से परस्पर गूँथ दिया है। बड़े भैया (नेताजी) का चरित्र एक घाघ नेता का प्रतीकीकृत चरित्र है जो अपना स्वार्थ साधने के लिए किसी भी हद तक जा सकते हैं। फर्जी एनकांउटरों में जिस तरह से भोले-भाले युवाओं को नंबरी बदमाश के तौर पर पेश करके उन्हें मार गिराया जाता है और जिस तरह से तथाकथित हत्याओं और आगजनी के तथाकथित मामलों का हल खोजकर सत्ता पक्ष के इशारे पर पुलिस वाहवाही और पदक लूटती है उस संपूर्ण रोचनामचे की बड़ी पुख्तगी से निशानदेही करता है यह उपन्यास। बड़े भैया जैसे नेताओं के लिए अपनी कुर्सी ही सर्वोपरि होती है। देश भाड़ में जाए तो जाए। सांप्रदायिक दंगों में लोग मरें तो मरें। ऐसे में हरभजन जैसे ईमानदार नेताओं की नियति जेल के सीखचों के भीतर सड़ना ही होती है। बड़े भैया जैसे नेता तो अपनी कुर्सी हिलते देख अपनी पार्टी के विरुद्ध भी जोड़-तोड़ करने और किसी निरीह की बलि देने से भी नहीं चूकते। यहाँ तक कि प्रधानमंत्री की कुर्सी भी ऐसे ही शातिर नेताओं के रहमोकरम की मोहताज होती है। इन्हीं नेताजी का चमचा किशन वैसे तो टाइप्ड चरित्र है, लेकिन उसके चरित्र का गठन नितांत मौलिकता लिए हुए है। वास्तव में किशन जैसे चमचे किसी भी घाघ राजनीतिक नेता के करियर की सफलता की धुरी होते हैं। अपने नेता की छवि बनाने-सँवारने में किशन जैसे चमचे वास्तव में नींव की पत्थर का काम करते हैं।

डी.सी.पी. वर्मा और नेताजी की पटरी एक दूसरे के साथ इतनी सीधी बैठती है कि दोनों काजर की कोठरी में एक दूसरे के पूरक बन जाते हैं। नेताजी के दब्बू बेटे राकेश को दिल्ली के छात्र संघ का जोड़-तोड़ करके अध्यक्ष तो बनवाते ही हैं, यह आश्वासन भी उसे देते हैं– 'बस बी.एस.सी. कर लो। सीधा लोकसभा की सीट दिलवाऊँगा। आप और मेरा बेटा यंगेस्ट मिनिस्टर होंगे। करियर बन जाएगा।'

वर्मा जी जब स्वयं को एडिशनल कमिश्नर (क्राइम) बनाए जाने पर नेताजी का धन्यवाद करते हैं तो नेताजी का यह कथन उनके चरित्र की तमाम कच्ची बखिया उधेड़कर हमारे सामने रख देता है, 'वर्मा जी, अपने सिर पर न तो किसी का अहसान रखते हैं और न किसी के सिर पर रहने देते हैं। हमारा तो वर्मा जी सिद्धांत है इस हाथ दे, उस हाथ ले। आपने मेरे लिए कुछ किया। हमने आपके लिए कर दिया। संसार ऐसे ही चलता है।'

हिंदी में राजनीतिक उपन्यासों की कमी नहीं है। लेकिन

ऐसे राजनीतिक उपन्यास निश्चित ही बहुत अधिक नहीं हैं जिनमें व्यंग्य की मार्फत राजनीतिक पाखंड की निशानदेही की गई हो। व्यवस्था का इससे बड़ा विद्रूप और क्या हो सकता है कि क्राइम के सरगना मिस्टर वर्मा को घाघ नेताजी की सिफ़ारिश पर एडिशनल कमिश्नर (क्राइम) बना दिया जाता है। वर्मा जी भी नेताजी के इस उपकार का बदला हाथों हाथ चुका देते हैं। नेताजी के इशारे पर जिन दो लोगों को हरियाणा बार्डर के पास फर्जी मुठभेड़ में मार गिराते हैं उनकी शिनाख़्त मारे गए आतंकवादियों के रूप में की जाती है। बदले में सिपाहियों को नकद पुरस्कार और वर्मा को पुलिस वीरता मैडल दिए जाने की घोषणा नेताजी के संकेत पर दूरदर्शन पर सरकार की ओर से की जाती है। वास्तव में डॉ. गुरचरण सिंह का यह उपन्यास नागपर्व हमारे समय का एक व्यापक बिंब उपस्थित करता है और राजनीति और पुलिस तंत्र के गठजोड़ से पनपी भ्रष्ट व्यवस्था को तीखे व्यंग्य के साथ बेनकाब करता है। छोटे-छोटे संवाद इस उपन्यास की बड़ी शक्ति हैं। कथा के प्रवाह का तो यह प्राणतत्त्व ही है। उपन्यास में आये विभिन्न चरित्रों के गठन को उभारने में भी यह महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

1216ए/41बी, चंडीगढ़-36

डॉ. अनुपम माथुर

वर्तमान राजनीतिक पतन और उसके पाशविक परिणामों से चेताता एक गंभीर यथार्थदर्शी उपन्यास

स्वातंत्र्योत्तर भारत की राजनीति ने आदर्शों से स्वार्थों तथा निकृष्ट कोटि की महत्त्वाकांक्षाओं तक की यात्रा बहुत कम समय में तय कर ली है तथा अब यह हर आवरण हटाकर अपने अत्यंत विकृत एवं घिनौने रूप में हमारे समक्ष अट्टहास करती अपनी कुटिल जीत के वीभत्स जश्न मना रही है। राजनीति के एक आम आदमी पर पड़ने वाले प्रभाव ने हमारे सामाजिक जीवन को भी विडंबना से भर दिया है। उसके चारित्रिक बल को एकदम क्षीण कर उसे नपुंसकत्व से भर दिया है। इसी नपुंसकता का परिणाम समाज में आपराधिक आँकड़ों की निरंतर बढ़ोत्तरी के रूप में सामने आ रहा है। राजनीतिक भ्रष्टता की स्थिति यह है कि यह सरकारी तंत्र में जुटे सच्चरित्र और ईमानदार व्यक्ति को या तो श्रेय से हीन होकर अकर्मण्य होने के लिए विवश करती है अथवा भ्रष्टाचार का सरल किंतु पतनगामी पथ ग्रहण करने पर। राजनीति में दिन-प्रतिदिन बढ़ते विकारों और उसके प्रभाव से हमारे सामाजिक सांस्कृतिक मूल्यों के ह्रास पर चिंतित संवेदनशील रचनाकारों ने इस विषय को यथार्थता एवं जागरूकता के स्तर पर विस्तृत भावभूमि प्रदान की है– अधिकतर तीक्ष्ण व्यंग्य के साथ। इसी श्रेणी में एक सशक्त उपन्यास गुरचरण सिंह द्वारा रचित **नागपर्व** है।

उपन्यास का प्रारंभ एक विस्तृत सांकेतिक स्वप्न बिंब द्वारा हुआ है। राकेश के अवचेतन पर छाए गहरे अंधकार में आदर्शों से भरी स्वच्छ शीतल जलधारा बह रही है, वहीं दूसरी ओर राजनीति का स्याह भयावह दैत्य है जो उसे उसके मूल स्वप्न से भटकाकर अल्प समय में यश, धन और सत्ता-प्राप्ति का लोभ दे रहा है। इन दोनों के मध्य लटके राकेश का दोनों ही ओर मौत से सीधा साक्षात्कार है। पहली स्थिति में एक चिर संचित आदर्श स्वप्न की मौत है और दूसरी में मानवीय मूल्यों का पूर्ण ह्रास निश्चित है। उसके सभी स्वप्नों में सर्प विद्यमान है जो उसकी आंतरिक कुंठाओं और एकाकीपन का प्रतीक तो है ही, राजनीतिक विष का भी द्योतक है जो राकेश रूपी हमारे देश के भविष्य को निगलने को सचेष्ट है।

वर्तमान राजनीति में मुख्य धारा के नेता हों या कस्बों के छुटभैये लीडर, सत्ता में अपना छोटा स्थान बनाए रखने के लिए तरह-तरह की चालें चलते रहते हैं। सरकार भी तो ऐसे नेताओं के सामूहिक गठबंधन से बनती है। नागपर्व में ऐसे निकृष्ट राजनीतिक हथकंडों को कई स्थलों पर प्रदर्शित किया गया है– 'पर सरकार ने भी तो कच्ची गोलियाँ नहीं खेली हुई। मुख्य विपक्षी नेता को उसी दिन किसी डेलीगेशन का अध्यक्ष बनाकर विदेश भेज दिया गया और उसी दिन उसी बात को शोर-शोर से प्रकाशित किया गया कि सरकार निष्पक्ष है। विपक्ष के लोगों का भी कितना ध्यान रखती है। अगले दिन रिंग रोड पर कार को ढूँढ निकाला गया। और उसी दिन शाम को दो नौजवानों को एनकाउंटर में मारकर बमकाण्ड हत्यारों को मार डालने का श्रेय पुलिस ने अपने सिर पर ले लिया।' लेखक का मानना है कि नेताओं का

हस्तक्षेप हमारे पुलिस एवं न्याय तंत्र से समाप्त हो जाए तो समाज से अपराध और गुंडागर्दी स्वतः ख़त्म हो जाए। और इसका कारण है हमारी वैचारिक जड़ता जो हर व्यक्ति को' चाहे वह बुद्धिजीवी-मनीषी हो या सामान्य नौकरी पेशा, धीरे-धीरे स्वकेंद्रित बनाती जा रही है। हमें ख़ुद से अलग होकर व्यापक परिप्रेक्ष्य में सोचना ही होगा। हम जड़ हो गए हैं। आस्था की जड़ता, मूल्यों की जड़ता। कुछ नया होना ही चाहिए। यह भी सच है कि अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ सकता। यहाँ पर 'घर फूँके आपना' के दृढ़ निश्चय के साथ ही राजनीति के घिनौनेपन का भंडाफोड़ करना होगा। इस राजनीति ने आम आदमी की स्वतंत्रता को छीना है, अपने नैतिक मानदंडों की धरा पर चैन से जीने और उन्नति करने के उसके मूल अधिकार से उसे वंचित किया है।

कोरी स्वार्थ निहित राजनीति के विभिन्न पक्षों को उपन्यासकार ने अंदरूनी गहराई से पकड़ा है। नेतागिरी का वर्तमान कुत्सित चेहरा निश्शंक होकर गांधी जी के आदर्शों और विचारों का मुखौटा पहने हुए है। प्रत्येक नेता के घर में गाँधी है। इच्छा-अनिच्छा से सभी नेताओं ने उसे पढ़ा है और कुछ बातों को रेखांकित किया है। पिछले चालीस-पचास वर्षों में राजनीतिक क्षेत्र में घटी महत्त्वपूर्ण घटनाएँ जैसे आपातकाल अनंतर चुनाव आदि भी यथास्थान चिंगारी-सी झलकती हैं। जिसे राजनीति का क, ख, ग भी न आता हो, जो अभी-अभी लोकसभा में आया हो, वह भी रातों-रात राष्ट्रीय नेता बन सकता है। अनुभवहीनता के बाद भी भारत जैसे राष्ट्र के संचालन की नौकरी हमारी ही भ्रष्ट और विकट राजनीति में शान से हमारे नेताओं के वंशजों को उत्तराधिकार में प्रदान की जाती है।

डी.सी.पी. वर्मा जैसे आदर्श पात्र का ऐसे भ्रष्ट सत्ता तंत्र के समक्ष अंततः घुटने टेक देना कथानक को दुःखद और हताशायुक्त तो बनाता है किंतु यथार्थ की विद्रूपता के यथातथ्य अंकन के बिना शायद प्रभाव की गहनता अधूरी रह जाए। प्रारंभ में यह चरित्र दृढ़ प्रदर्शित होता है जो न्याय और सच्चाई के राज्य का पक्षधर है और इस विकट आग के शमन हेतु स्वयं झुलसने को भी तत्पर है। अपने आदर्शों के कारण यह पात्र भीड़ से अलग दिखाई देता है किंतु प्रारंभिक पृष्ठों तक। शायद स्वयं लेखक को भी इससे अधिक सहनशीलता और त्याग की अपेक्षा एक पुलिस अधिकारी से नहीं है। इसीलिए वह यथार्थ पर अपनी अर्जुन दृष्टि साधे हुए इस चरित्र को शीघ्र ही पतन की राह दिखा देता है। पतन के गर्त में गिरने का पछतावा भी क्षण भर का है, उसके तुरंत बाद है दौलत और शोहरत के अनुपेक्ष्य आकर्षण। मिस्टर रावत के चले जाने के बाद वर्मा जी को लगा, यह उन्हें क्या हो गया है? क्या कर रहे हैं वे? शायद ऐसे काम तो पाण्डे ने भी नहीं किए होंगे? यह कौन-सा रास्ता चुन लिया है उन्होंने? पर उन्हें अच्छा लग रहा था। वे एकदम प्रकाश में आना चाहते थे। ... पर मिस्टर वर्मा को लगा वे एक ही दिन में काफी समझदार हो गए हैं'।

वर्मा जी के बेटे का वैचारिक व्यक्तित्व एवं चिंतन-मनन लेखक की अपनी विचारणा का प्रतिपादन है। इसी पात्र के माध्यम से हम समाज एवं व्यक्ति को वर्तमान राजनीति के परिप्रेक्ष्य में देखते-समझते हुए भी एक सुखमय आदर्श भविष्य की, क्षीण ही सही, परिकल्पना करते हैं। अंतर्मुखी राकेश के भीतर अस्तित्व और महत्ता का प्रश्न हो या समाज में गहरे पसरती संवेदनहीनता से भरे आकुल कर देने वाले दैनिक हादसे, उसे स्वयं अपना चिंतन अव्यावहारिक और दिमाग़ की जुगाली भर लगता है, क्योंकि इसका सक्रिय और प्रत्यक्ष परिणाम कुछ भी नहीं है। उसका मूल स्वप्न वैज्ञानिक बनकर समाज हित में प्रयोगरत रहना है। लेकिन सीधे रास्तों से अपने सपने पूरे कर लेना एक आम आदमी के लिए संभव नहीं है। इसलिए मि. वर्मा और राकेश राजनीति के माध्यम से इस सपने को और समाज सेवा की अपनी पिपासा को पूर्ण करने का प्रयास करते हैं। कम से कम इस सुलभ-सरल राह से राकेश अपने सूने कमरे और किताबों के संसार से बाहर आकर जीवन को देखता-परखता है और पिता के प्रभाव के संरक्षण में ही सही, छात्र कल्याण के लिए अपना समय देता है। कहा जाए तो राजनीति के माध्यम से उसे अपना पथ भी मिलता है और कई प्रश्नों के उत्तर भी। 'इस देश में कितने लोग हैं जो अपनी अभिलाषा को पूरा कर पाते हैं - अपनी इच्छा के अनुरूप जीते हैं। यह रास्ता तो बड़े स्वाभाविक ढंग से बन रहा है। मुझे लगता है मेरे लिए यही रास्ता है। वैज्ञानिक बनकर तो मैं फिर अकेला प्रयोगशाला में बंद रह जाता।'

यकीनन राजनीति एक दलदल की तरह है जिसमें साफ चरित्र की रत्ती भर भी गुंजाइश नहीं है लेकिन इस राह पर धैर्यपूर्वक चलते हुए मानवीय मूल्यों की रक्षा का परोक्ष समाधान इस उपन्यास में है। कथा का अंत योजित नहीं है

अर्थात् कोई निश्चित अंत नहीं, किसी समस्या का समाधान नहीं, सुखपूर्ण भविष्य का दिलासा नहीं। लेकिन एक अनुभवी सामाजिक व्यक्ति का सांकेतिक सूक्ति-वाक्य अंत को स्मरणीय बना देता है। 'राजनीति में धैर्य की ज़रूरत होती है।' यही धैर्य हमारी युवाशक्ति की उर्जस्विता को राजनीति रूपी पंक की सफाई और अपनी उच्च किंतु परार्थयुक्त महत्त्वाकांक्षाओं को पाने में प्रवृत्त रखने में सहायक होगा।

महानगरीय जीवन की अनात्मीयता को उपन्यासकार ने संवेदना के स्तर पर गहरे जिया है। रोज़ लाखों की भीड़ से रूबरू होकर भी अकेलेपन और असुरक्षा के घेरे में आज हर व्यक्ति खड़ा है। असंपृक्तता की त्रासदी को यत्र-तत्र व्यंग्यात्मक और गंभीर चिंतनयुक्त व्यंजना मिली है। एक जख्मी व्यक्ति को अस्पताल ले जाने के प्रश्न पर लेखक का व्यंग्य प्रहार देखिए– 'घंटों बस स्टाप पर खड़ा रहने वाला व्यक्ति बहुत व्यस्त है। वह किसी को अस्पताल ले जाने के लिए भला समय कैसे निकाल सकता है। कोई नहीं सोचता कि किसी भी क्षण उसके साथ भी ऐसा हो सकता हैं। दुर्घटना की संभावना है और संभावना का कोई निश्चित समय नहीं होता।' 'मनुष्य रूपेण मृगाः चरन्ति' की उक्ति हमारे ही समाज पर चरितार्थ हो रही है क्योंकि इन हादसों को हमने अपने जीवन का एक अभिन्न अंग मान लिया है। जिस समाज और राष्ट्र का चारित्रिक बल क्षीण हो जाए, वहाँ जीवन के हर पहलू में विकार और गिरावट उपस्थित होगी ही।

गाँधी जी ने कहा था कि उनका विरोध अंग्रेज़ों और अंग्रेजी सत्ता से नहीं अपितु उसकी अमानवीय और लोकविमुखी नीतियों से है। यदि यह स्थिति उन्हें स्वदेशी सत्ताधारियों से मिलेगी तो वे उनका भी विरोध करेंगे। आज वस्तुतः यही हालात हैं। गाँधीजी तो पुनः नहीं होंगे किंतु हमारे साहित्य ने विरोध का यह बीड़ा उठाया है। लोकतंत्र के नाम पर लोकजीवन का लहू निरंतर चूस रही इन शोषक ताकतों को अनावृत करने वाला यह उपन्यास निस्संदेह पाठक के मन-मानस को विचलित एवं आंदोलित कर उसे इस विषय पर पुनर्चिंतन और चिंता करने को विवश करने में सफल हुआ है।

एल-704, अग्रसेन आवास,
66-आई.पी.एक्स., पटपड़ गंज, दिल्ली-92

डॉ. रमेश चंद्र मिश्र

सदा सु सबदौ माहिं : नागपर्व

सन् 1991 में प्रकाशित डॉ. गुरचरण सिंह का चौथा उपन्यास नागपर्व पढ़ते हुए उपन्यास के घटना-विधान, कथानक-चरित्रों और भाषा से लेखक का व्यक्तित्व ही झांकता दिखाई देता है। इस संबंध में संत रज्जब की एक साखी याद आती है, जिसमें उन्होंने व्यक्तित्व शैली में, रचनाकार का पूरा व्यक्तित्व समाया हुआ बताया है। सिरजनहारे सबद के सदा सु सबदौ माहिं। अंग्रेजी के एक लेखक ने भी 'स्टाइल इज़ द मैन हिमसेल्फ' कथन के द्वारा यही बात कही है। लेखक अपने व्यक्तित्व से भागकर कोई भी बड़ा उद्देश्य पूर्ण नहीं कर सकता। गाँधी ने अपने व्यक्तित्व के अनुरूप ही, अहिंसा-विचार जैसे अस्त्र से, जीवन की इतनी बड़ी लड़ाई लड़ी। यही बात डॉ. गुरचरण सिंह के संबंध में कही जा सकती है। यदि वे अनेक प्रकार की कल्पनाएँ करते हुए, उपन्यास **नागपर्व** को, अनेकानेक पात्रों की योजनाओं से बड़ा डीलडौल बनाकर पेश करते, तो निश्चित ही जो रेखांकित करके कहना चाहते थे, वह उपन्यास के आकार अथवा घटना-प्रतिघटना में ही कहीं गुम होता दिखाई देता। नागपर्व-उपन्यास का मुख्य संदेश है - समाज में व्याप्त भ्रष्टाचार। यह भ्रष्टाचार व्यवस्था के अंग के रूप में, संस्कार होकर सर्वव्याप्त हो रहा है। भ्रष्टाचार के विरोध में शब्द का हाहाकार तो सर्वत्र सुनाई देता है, पर उस को मिटाने के लिए व्यक्ति का संकल्प एवं सामूहिक जिजिविषा कहीं कार्यशील नहीं दिखाई देती। जो विरोध अथवा प्रतिरोध करते हैं वे भी ढर्रे पर आकर उसी के अंग बनकर जीवन की अपेक्षाओं के हाथ समर्पित हो जाते हैं। उपन्यासकार गुरचरण सिंह ने उपन्यास के माध्यम से भ्रष्टाचार-तंत्र की सूक्ष्मता को, बहुत ही सहज भाव से धीमे ग्रहण किए जाने वाले विष-चक्र 'स्लो पाइज़निंग' की तरह से, एक परिवार एवं उसके रोटी-रोजी कमाने के सहज क्रम के द्वारा ही प्रेषित कर दिया है। इसके लिए पाठक को, बहुत बड़े लेखकीय कौशल से नहीं गुजरना पड़ता। लेखक की यही स्वाभाविक प्रस्तुति, पाठक-चेतना को सहज ही अभिभूत कर लेती है। लेखक ने भ्रष्टाचार के विरुद्ध बड़े-बड़े नारे लगाने वाले नेताओं, वेतनभोगी कर्मचारियों, विशेषतः पुलिस विभाग के कर्मचारियों के ईमानदार बने रहने के मनोभावों को और उन नवयुवकों को जो जीवन में एक सीमा तक प्रतिरोध कर सकते हैं व्यंग्यपूर्ण अभिव्यक्ति दी है। नेताजी-वर्माजी और राकेश के द्वारा घुटने टेक देने के द्वारा बता दिया है कि भ्रष्टाचार के विरोध की लड़ाई बहुत कठिन और लंबी है। पर लेखक के पास

शब्द तो होते हैं। वह कभी हार नहीं मानता। इसीलिए उसने उपन्यास को अन्याय के ख़िलाफ खड़ी आशादी के बाद की पीढ़ी को ही समर्पित किया है। उपन्यासकार के लिए महत्वपूर्ण यह है कि किसी भी मुद्दे को कितनी सहजता से प्रस्तुत किया जा सकता है– उन्हीं परिचित पात्रों के द्वारा जिनके बीच में हम जीते हैं और पाठक बिना किसी दवाव के इसे स्वीकार भी करता चलता है। समाज में भ्रष्टाचार-अन्याय जब हाहाकर बनकर चीखेगा, तभी बहरे कानों में कुछ गूँज होगी। अभी तो वह लोगों की सोच के साथ आत्मसात होता जाता है। भ्रष्टाचार का प्रतिरोध, पहले एक कहानी 'नमक का दरोगा' के द्वारा मुंशी प्रेमचंद ने भी किया था। उस युग के अनुरूप लेखक ने वहाँ आदर्श की विजय दिखा दी है। पर नागपर्व उपन्यास के नायक डी.सी.पी. वर्मा भ्रष्ट आचरण से बचते हुए भी आदर्शवादी नहीं हैं। वे जानते हैं कि राजनीति के ही एक अंग पुलिस तंत्र में, बिना किसी जैक के आगे बढ़ना असंभव ही है। इसीलिए लेखक ने बड़ी बारीकी से पुलिस तंत्र और राजनीतिक लोगों के बीच संबंधों को उजागर करके, कमजोरियों का मनोवैज्ञानिक धरातल पर पर्दाफाश किया है। लेखक की मान्यता है कि भ्रष्टाचारी व्यवस्था में, विषैले नाग की तरह से दो जीभें होती हैं। वाहर दिखने वाली जीभ, दूसरी जीभ के जहर का विष वमन नहीं करती। धीरे-धीरे श्वासों से ही यह व्यवस्था का विपैला नाग, परिस्थिति-पात्रों को अपने शिकंजे में कसता चला जाता है जब तक कि व्यक्ति का व्यक्तित्व– स्वावलंबन धराशायी नहीं हो जाता।

समीक्ष्य उपन्यास नागपर्व, आकार में छोटा सा, कुल 150 पृष्ठों का उपन्यास है। इसमें पात्र भी बहुत कम हैं और कथानक वर्मा जी के छोटे से परिवार को केंद्र में रखकर आगे बढ़ता हुआ भी वहीं वने रहता है। पर यह परिवार पूरे समाज, पूरे देश के परिवार की इकाई का प्रतिनिधि बनकर आया है जिसमें एक बच्चा राकेश है, जो प्रारंभ में जब तीन वर्ष का होता है, तब ही अपनी माँ पर बुआजी द्वारा किए गए व्यंग्य-बाणों एवं अन्य प्रकार के दवावों को महसूस करता है। बोल नहीं पाता पर, प्रतिरोध अवश्य करता है। एक दिन सोती हुई बुआ पर, जाड़ों के दिनों में, फ्रिज से निकाल ठंडा पानी डाल देता है। डांटा भी जाता है, पर बोलता कुछ नहीं। कॉलिज शिक्षा तक पहुँचते-पहुँचते उसका यह प्रतिरोध तब बिल्कुल समाप्त हो जाता है, जब वह पिता के कहने पर कॉलिज छात्र-संघ का चुनाव लड़ता है और जीत जाता है। वह अपनी मित्र की बात भी नहीं मानता और पिता वाले ढर्रे पर चलने के लिए तत्पर दिखाई देता है। इस प्रकार उपन्यास में कहीं-कहीं सूक्ष्म ढंग से और कहीं परोक्ष ढंग से परिवार के सदस्यों के पारस्परिक संबंध और नेताओं के साथ जुड़ने वाले संबंधों का अंकन, सशक्त मनोवैज्ञानिक भूमिका में उद्घाटित हुआ है। उपन्यास में प्रारंभ से अंत तक कहीं कोई फेमिनिज्म नहीं है। थोड़ा-बहुत है तो वह कॉलिज स्टुडेंट्स की मनोवैज्ञानिक भूमिका में ही है। कथा-प्रवाह बड़ी मंथरगति से चलता रहता है। कहीं भी घात-प्रतिघातों का दबदबा नहीं है। कम शब्दों में पूरी परिस्थिति ही उभरकर सामने झांकती दिखाई देती है।

चरित्रों में वर्मा जी एवं राकेश ही ऐसे हैं, जिन पर लेखक की निगाह लगातार बनी रही है। राकेश की माँ कमला अथवा नेताजी और उनके कुटिल परिवार को बड़ी सहजता से लेखक ने चित्रित है। लेखक ने दिखाया है कि वर्मा जी की ईमानदारी धीरे-धीरे किस प्रकार छंटती चली जाती है और वे एक दिन उस भ्रष्ट व्यवस्था के सहज ही कुशल घटक बनकर अपना स्वार्थ सिद्ध करने लगते हैं। राकेश का प्रारंभिक चरित्र आक्रोश को अंचल में समेटे हुए लगता था, जो कॉलिज़ तक पहुँचते-पहुँचते सहज ही ढर्रे का अंग बनने लग जाता है। पात्रों के अंदर प्रतिरोध अथवा पश्चाताप प्रायः सुप्त पड़ा रहता है। यदा-कदा ही उभरता है। जैसे अंत में वर्मा जी अपनी सफलता पर भी उदास होकर कहते हैं– 'कमला, ईमानदारी ने प्रोमोशन नहीं होने दी। बेईमान बनते ही प्रोमोशन मिल गई। कितना अजीब लग रहा है। क्या होगा हम सब का, हमारे देश का?' (पृष्ठ-140)। एक अन्य स्थान पर, वर्मा जी पुत्र राकेश को समझाते हुए कहते हैं– बेटा, पॉलिटीकल प्रेशर और पैसा, इसने किसी भी पुलिस कर्मचारी को ईमानदार नहीं रहने दिया। (पृष्ठ-123)

उपन्यास का प्रारंभ बहुत ही सांकेतिक और अनेक संभावना से भरा हुआ दिखाई देता है। प्रतीक के कलेवर में कही गई बात बहुत दूर तक मार करती है। प्रारंभ की ये पक्तियां पढ़कर तो देखिए – 'अंधेरी गुफा के दूसरे कोने से एक पहाड़ उठता है। स्याह दैत्य के नुकीले हाथ बढ़ते हैं। पहाड़ों के पीछे, सूर्य छिपने लगा है। फैलते अंधेरे में बढ़ती हुई परछाइयां भयावनी लगने लगी हैं। राकेश फिर उठते हुए पहाड़ और अंधेरी गुफा को देखता है। शिखर पर पहाड़ दो फांकों में बंट गया है। दूसरी ओर एक विशाल गहरा दर्रा है - हजारों फीट नीचे गहरा अंधकार। राकेश शिखर से लटक गया है दैत्य और विशाल दर्रा के बीच।' प्रारंभ का यह प्रतीक-बिंब बहुत दूर तक राकेश का, स्वप्न के माध्यम से, पीछा भी करता है। पर, फिर सब ढर्रे में सपाट हो जाने को ही लेखक का मंतव्य समझना चाहिए। कुल मिलाकर आज के ढर्रे-जीवन को समझने के लिए उपन्यास में बड़ी संभवनाएँ हैं। उपन्यास सर्वसाधारण पाठक के लिए भी पठनीय है।

ए1/341, जनकपुरी
नई दिल्ली-110058

डॉ. रमाशंकर श्रीवास्तव

राजनीति और पुलिस तंत्र का यथार्थ

पुलिस की चाल और राजनीति की पैंतरेबाजियों का यथार्थ चित्रण उपस्थित करने वाला उपन्यास **नागपर्व** गुरचरण सिंह की चौथी कथा कृति है।

सच पूछें तो नागपर्व भारतवर्ष के वर्तमान परिवेश से उपजी वह कथा रचना है जिसमें मनुष्य के ढहते आदर्श की पीड़ा व्यक्त हो रही है। आदर्श बड़ी-बड़ी समस्याओं का समाधान करते हैं और सकारात्मक धरातल पर उनकी शक्ति को स्वीकार किया जाता है। किंतु परिस्थितियाँ जब प्रतिकूल हो जाती हैं और मनुष्य भले-बुरे के आत्म-द्वंद्व में फंस जाता है तब आदर्शों को मिटते देर नहीं लगती। सुंदर सपने की भोर जैसी उनकी परिणति होती है।

गुरचरण सिंह ने यह सवाल सीधे ढंग से नहीं उठाया है कि हमारा देश आज पतन की राह पर क्यों जा रहा है। किंतु उन्होंने अपने पात्रों को जिस ढंग से निर्मित किया है, उनके क्रिया कलाप, संवाद और भावनालोक की ऊहापोह को दर्शाया है वे सभी इस महत्त्वपूर्ण सवाल का समुच्चय हैं। उन्हें जो दिखाना है और अपने विचारों को व्यक्त करना है उसके लिए व्यंजना का मार्ग सर्वथा उपयुक्त है। मधुर-तिक्त व्यंग्यों के प्रहार से गूँज रहा है नागपर्व। विष का लक्षण है कि वह स्वयं नहीं दिखाई पड़ता, किंतु उसका असर सामने होता है। इस विशाल देश में नाग के रूप में कौन लोग हैं और अपना ज़हर फैलाकर अपने उत्सव पर्व में आनंद लेने में किस प्रकार मगन हैं, इस दिशा को बड़े खूबसूरत ढंग से प्रस्तुत करने में लेखक को सफलता मिली है। गुरचरण सिंह ने कथा को कथा रस के लिए नहीं लिखा है, बल्कि अपनी पीड़ा को व्यक्त किया है। पुलिस तंत्र और नेता तंत्र के कारण आज़ादी के बाद भारत किन विद्रूपताओं के चंगुल में जा फंसा है उसकी तस्वीरों का आकलन है यह उपन्यास। रिश्वत और सत्तांधता इस देश के दो भाग हैं।

भाषा की बनावट खुद बता देती है कि उसकी भावनाओं से कितनी दूरी है। जटिल लोगों को सरल भाषा में बताना बड़ा कठिन है। लेखक की सरलता और साफगोई ही उसकी औपन्यासिक संरचना की शक्ति है। न कहीं बड़बोलापन और न कहीं बनावट। आज यह देश कुछ और होता यदि यहाँ वर्मा जी जैसे पुलिस के डी.सी.पी. और बड़े भैया जैसे राजनेता पैदा नहीं होते। किंतु उनका भी अपराध नहीं है, परिस्थितियों ने उन्हें पैदा कर दिया है और जब वे अस्तित्व में आ गए तो अपनी भूमिका की लड़ाई लड़ेंगे ही।

विकास के दो प्रमुख स्तम्भ पुलिस और राजनेता यदि सुधर जाएं तो इस देश का जन-जीवन सुखी बन जाए। नागपर्व की प्रतीकात्मकता लेखकीय व्यंग्य विधान का सौंदर्य बन गई है। यह विषय ऐसा है जिस पर व्यंग्यास्त्र से ही प्रहार किया जा सकता है। पात्रों की स्थिति और उनके संवादों में लेखक का आक्रोश, विद्रोह और नैराश्य छिपा हुआ है। लेखक ने कहीं भी ऐसा आश्वासन नहीं दिया है कि जो बुरी स्थिति है वह एक दिन सुधर जाएगी और इस देश के लोग सुखी हो जाएंगे। भविष्य कैसा होगा, भारत भूमि पर लोगों का जीवन कैसा होगा इसका अनुमान पाठकों पर छोड़ दिया गया है।

इस कथा के तीन कोण हैं जो इस देश के पतन के साक्षी हैं। डी.सी.पी. वर्मा अपनी ईमानदारी और कर्त्तव्य चेतना के प्रति काफी सजग हैं। नौकरी उनके लिए आजीविका नहीं है, राष्ट्र-सेवा है। जन-जन की पीड़ा हरने का माध्यम है। जब तक उन्होंने ईमानदारी और सच्चाई पर भरोसा किया तब तक वे बड़े सुखी रहे, अपने बीवी-बच्चों से बढ़कर उनकी ड्यूटी रही। इसके लिए उनके भीतर कभी द्वंद्व नहीं मचा।

बड़े भैया नेता हैं, देश के वित्तमंत्री हैं। उनमें साम-दाम दंड-भेद के सारे चोंचले अपना सिर उठाये सत्ता की रक्षा के लिए सचेत हैं। उनकी शतरंजी चाल को समझना आम आदमी के बूते की बात नहीं। उनका कंठ जो कहता है उसका लगाव हृदय से तनिक नहीं है। गावतकिए का सहारा लेकर हँसते-मुस्कराते वे बड़े-बड़े दांव-पेंच का जाल बुन डालते हैं और सफल हो जाते हैं। उनके डंसने से विष का असर बाद में होता है और ऐसा कभी नहीं हुआ कि उन्होंने जो जाल फैलाया वह विफल हो गया। रामावतार हो या किशन सभी उनके शिकार हैं। पब्लिक प्लेटफार्म से लेकर उन्हें पुलिस थाने या जेल की कोठरियों तक अपनी ताक़त फैलानी थी, इस कार्य के लिए वर्मा जैसा डी.सी.पी. फंस गया और बड़े भैया की कुटिल मुस्कान ठहाके में बदल गई।

जो वर्तमान अतीत की कोख से निकलकर आया है उसका भविष्य भी होता है। वर्मा और बड़े भैया कथानक के वर्तमान हैं तो वर्माजी का पुत्र राकेश इस देश का भविष्य है। राकेश का जब सामना होता है तो पाठक चिंतित हो जाता है कि जो छात्र देश के भविष्य माने जाते हैं, उसका निर्माण राकेश के रूप में हो रहा है। सुबह का सूरज काले बादलों से घिर जाता है और अनुमान करना कठिन नहीं कि आज का दिन अंधकारपूर्ण ही रहेगा। पैसे की प्यास इन तीनों पात्रों को ले डूबती है। पैसे की माया और प्रतिष्ठा

की भूख से कोई नहीं बच सका। अगर पुलिस अपफसर अपने कर्तव्य से डिग गया, नेता जी ने छल-छद्म अपना लिया और राकेश ने छात्र जीवन के सपने को कुचल दिया तो क्या बुरा किया। वह वैज्ञानिक बनना चाहता था किंतु छात्र-नेता बन अपने लक्ष्य से भटक गया। सत्ता का रस एक बार जब कोई चख लेता है तब दूसरे रस में उसे स्वाद नहीं मिलता। राकेश अपनी प्रेमिका नीता से कहता है—'नीता, इस देश में कितने लोग हैं, जो अपनी अभिलाषा को पूरा कर पाते हैं— अपनी इच्छा के अनुरूप जीते हैं। यह रास्ता तो बड़े स्वाभाविक ढंग से बन रहा है। मुझे लगता है मेरे लिए यही सही रास्ता है। वैज्ञानिक बन कर तो मैं अकेला प्रयोगशाला में बंद रह जाता। नीता, मैं मुक्त होना चाहता हूँ अपने कमरे की चारदीवारी से बाहर निकलना चाहता हूँ।'

राकेश की तरफ देखते हुए नेता जी कहते हैं - 'बस बी.एस. -सी. कर लो सीधा लोकसभा की सीट दिलवाऊंगा। आप और मेरा बेटा यंगेस्ट मिनिस्टर होंगे। करियर बन जाएगा। क्या पड़ा है छोटी-मोटी नौकरी में। राकेश, अब राजनीति को सीरियसली लो। यही तुम्हारा जीवन है।'

नेता जी का यह सुझाव देश की भावी पीढ़ी का मार्गदर्शक बन जाता है। अब संसद-भवन से लेकर गाँव के गली-कूंचे तक राजनीति को सीरियसली लिया जा रहा है।

इसमें संदेह नहीं कि सत्ता का सुख बड़े-बड़ों को अपने सिद्धांतों से डिगा देता है। एक स्थान पर राजनेता की स्थिति पर विचार करते लेखक कहता है— 'राजनीति में वही टिक सकता है जो जड़ों में पानी देने वाले की भी ख़बर रखे और जड़ों को काटने वाले की भी।'

वर्मा जैसे पुलिस अफसरों की भी अपनी समस्याएँ हैं। ईमानदार वर्मा के पास अपने घर-परिवार की छोटी-छोटी ज़रूरतों के लिए पैसे नहीं हैं। बहुत-सी इच्छाओं का दमन करना पड़ता है। वर्मा आत्म-विश्लेषण करते हैं— 'मैंने ईमानदारी दिखाकर क्या पाया, मैं दो पाटों के बीच पिसता रहा।' वे आगे कहते हैं— 'पैसों में बहुत ताक़त होती है। इस ताक़त को बीस साल की नौकरी करने के बाद पहचाना है मैंने।'

उधर उनका बेटा राकेश सोचता है— 'दिल्ली जैसे शहर में कई डी.सी.पी. घूमते हैं। एम.पी. मिनिस्टर घूमते हैं— कौन परवाह करता है किसी की। इस शहर में सभी व्यस्त हैं। हाथ, बगल, सिर पर फाइलों के बोझ से लदे। फाइलों में भर गए हैं थैले और थैलों से भर गई है सड़कें और व्यक्ति नाक-कान पर ऐनक चढ़ाए घिस रहा है कलम। लोग जीते हैं कुर्सी पर बैठे, फाइलों में मरने के लिए।'

उलझन में पड़े रहने के बाद अंत में वर्मा अपने बीस वर्षों की निष्ठापूर्ण सेवा और आदर्शों को तिलांजलि देकर समय की वर्तमान धारा में कूद पड़ते हैं। यहाँ तक कि वे अपने बेटे राकेश को भी यूनिवर्सिटी का चुनाव लड़ने के लिए प्रेरित करते हैं।

वर्मा का यह कदम यद्यपि सराहनीय नहीं है तथापि आज के संदर्भ में व्यावहारिक अवश्य है। कब तक कोई अभावों से जूझता रहेगा और शक्तिहीन बना नेताओं की उपेक्षा को सहन करता रहेगा। वर्मा के इस कदम से आजकल के प्रगतिकामी लोगों की मानसिकता का व्यंग्य उभरता है। अपनी पत्नी कमला को वर्मा जवाब देते हैं— 'बेईमान बनते ही प्रोमोशन मिल गई। कितना अजीब लग रहा है। क्या होगा हम सबका, हमारे देश का।' वर्मा अतिरिक्त पुलिस आयुक्त बना दिये जाते हैं।

नागपर्व इस देश की जीवंत तस्वीर है। उपन्यासकार ने पाठकों के सामने सवाल रखा है जहाँ निष्ठा और प्रतिभा पैसों से खरीद ली जाए वहाँ देश कैसे आगे बढ़ेगा? ऐसी स्थिति में इस देश का क्या होगा? लगता है इसका उत्तर फिलहाल हमारे पास नहीं है? समय बदल जाए, लोगों की मानसिकता बदल जाए तो शायद हमारे राष्ट्रीय चरित्र में सुधार आ जाए। नहीं तो सामने जो दिखाई पड़ रहा है वह शक्ति और सत्ता की भागदौड़ है, जो चिंता का विषय है।

नागपर्व के लेखक ने इस उपन्यास के बहाने देश की वर्तमान दशा का दिग्दर्शन कराया है। सामान्यतः हम सभी राजनीति, पुलिस और सत्ताधारियों की अलग से आलोचना करते हैं किंतु गुरचरण सिंह ने राजनीति के अंदरूनी दांव-पेंच एवं उनके चिंतन का विश्वसनीय चित्र सूक्ष्मता से खींचा है। वे राजनीति के आदमी न होकर भी राजनेताओं पर कितनी पैनी दृष्टि रखते हैं, यह उनकी लेखकीय क्षमता का प्रमाण है।

आर-7, वाणी विहार
नई दिल्ली-59

डॉ. चन्द्रशेखर तिवारी

विवेकी राय के उपन्यास

स्वातंत्र्योत्तर भारतीय गांवों के सांस्कृतिक स्वरूप का दर्शन

"भारतीय संस्कृति का उज्ज्वल रूप ध्वंस के पश्चात् भी यदि कहीं पूर्ण सुरक्षित रूप से अवशिष्ट है तो इन ग्राम-गीतों में ही। यहां प्रत्येक पुरुष राम है। प्रत्येक स्त्री सीता है। चौकी और खाट चंदन की हैं तथा लोटा थाली भी सोने-चांदी से कम के नहीं। आजकल कुछ गांवों में खड़ी बोली के नए गीत और सिनेगीत स्त्रियों के समाज में आ रहे हैं। इन्हें सुनकर ऐसा लगता है जैसे गीतों ने आत्महत्या कर ली।" (डॉ. विवेकी राय, नमामि ग्रामम्, पृष्ठ 53-54) मांगलिक अवसरों पर गांव की महिलाएं एवं युवतियां जी खोलकर उन्मुक्त भाव से नाचती-गाती हैं, जो किसी के भी हृदय को रससिक्त करने के लिए काफी है। खासकर विवाह के दिन परिछवना, माटी कोड़ने, किसी देवकुर पर कोई पुजइया आदि के अवसर पर ऐसा देखने में आता है। विवेकी राय ने अपने उपन्यास 'सोनामाटी' में इस तरह के अनेक प्रसंग दिए हैं जिनको पढ़कर ही पाठक आनन्द सागर में गोता लगाने लगते हैं। होली आदि पारम्परिक त्योहारों पर पुरुषों को भी नाचते-गाते देखा जाता है। भारतीय संस्कृति और ग्राम-जीवन के प्रतीक 'नृत्य-गीत' को डॉ. राय ने अपने साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान दिया है। वे प्रायः सभी करमठों पर गाये जाने वाले गीतों जैसे- द्वारपूजा गीत, विवाह गीत, गारी गीत, माड़ो गीत, कोहबर गीत, फिल्मी धुन पर आधारित लोकगीत, मनोरंजन गीत, परिछन गीत, हल्दी गीत, चुमावन गीत, जलुवा गीत आदि गीतों के साथ ही लोकगीत, लोरी, सुरसती मइया की लोरी, भोजपुरी लोरी, क्रीड़ा-गीत, भोजपुरी लोरियों का राष्ट्रीय रूपान्तरण, होली गीत, जोगीरा आदि की इतनी सूक्ष्म पकड़ रखते हैं कि उसे पढ़ते ही हमारे मानस-पटल पर करइलांचल का सांस्कृतिक स्वरूप साकार हो उठता है।

अगर किसी का दूल्हा परीक्षा में फेल गया हो तो दुल्हन का उसके प्रति क्या दृष्टिकोण होगा? पूर्वांचल की इस नारी की भावना की एक बानगी देखिए—

'महटरवा कइलसि फेल
फिकिरि जनि करिहो ए सैंया।
'झुलनी बेचिके तोहके पढ़इवो
अपना बलम के दरोगा बनइबो
कीनबो हंसुली-हुमेल।
फिकिरि जनि करिहो ए सैंया।' (समर शेष है, पृष्ठ 423)

क्या गांव की इस नारी का स्वरूप किसी आधुनिक नारी में दीख सकता है? नहीं, निश्चित रूप से इस तरह का भाव देखने को गांवों में ही मिल सकता है। किसी को कुछ सिखाना-बताना हो, त्याग की बात समझानी हो तो भी गांव के लोग कितनी चालाकी से अपनी बात दूसरे के सामने रखते हैं, द्रष्टव्य है—

बाबा हो, मोर ब्याह करा द, तोरा से न होइहें निबाह हो।
अरईल बन के खरइल कटइह, बृन्दावन के बांस हो।
ऊँचहि मंड़वा छवइह ए बाबा, निहुके न कंत हमार हो।
सुखसागर से सेनुरा मंगइह, अमरपुरवा के बर हो।
पसरन भंगिया भरइह ए बाबा, झमकत जइबो ससुरार हो।
धरमदास मुख मंगल गावें, संत सब लेहु विचार हो।
(सोनामाटी, पृष्ठ 74)

गीत हमारी संस्कृति की पहचान रही है जो अनादि काल से सतत स्रोतस्विनी सलिला की भांति सबको अपनी अमृत बूंद से सींचती चली आ रही है। वैसे तो इस परम्परा को हम यदि पीछे तक खींचकर ले जाना चाहें तो यह वैदिककालीन संस्कृति के रूप में दिखाई देगी। इसके प्राचीन स्वरूप की झलक हमें वेदों, ऋचाओं, पुराणों, धर्मग्रन्थों तक में किसी न किसी रूप में मिलती है किन्तु हिन्दी साहित्य में गीतिकाव्य परम्परा की शुरुआत जयदेव से मानते हुए भी हम विद्यापति कृत 'विद्यापति पदावली' में गीत का मार्मिक एवं विकसित रूप पाते हैं। जब 'पदावली' की नायिका नायक के वियोग में मुंड़ेर पर बैठे हुए कौवे को सम्बोधित करते हुए कहती है—

मोरा रे अंगनवा चनन केरि गंछिया, ताहि चढ़ि कुरुरै काग रे।
सोने चोंच तोहे मढ़ि देबो बायस, जौ पिय आवत आजु रे।।

तब हमें गीत की पुरानी मिठास का आभास होता है और इस गीत के रस को हम गूंगे के गुड़ के समान अंदर ही अन्दर महसूस तो कर सकते हैं किन्तु स्पष्ट वर्णन नहीं कर सकते। कुछ इसी प्रकार के गीतों का प्रस्फुटन, जो व्यक्ति के हृदय की संवेदना को झंकृत और स्पन्दित कर दे, विवेकी राय के उपन्यासों में (खासतौर से 'सोनामाटी' में) हुआ है।

लोकगीत के सन्दर्भ में अपना मन्तव्य स्पष्ट करते हुए डॉ. मान्धाता राय लिखते हैं कि 'लोकगीत से अभिप्राय सामान्यतः लोक में प्रचलित गीत, लोकनिर्मित गीत अथवा लोकविषयक गीत से लिया जाता है। इस प्रकार लोकगीत का सम्बन्ध उन गीतों से है जो जनसामान्य के बीच परम्परा गत रूप से चले आ रहे हैं और

जिनका सम्बन्ध जनसामान्य के सांस्कृतिक जीवन से है। जनसामान्य के बीच मनाये जाने वाले विभिन्न संस्कारों के पूर्व, त्यौहारों के अवसर पर गाये जाने वाले गीत इसके अन्तर्गत आ जाते हैं। इसके साथ-साथ विभिन्न ऋतुओं से सम्बन्धित गीत, मनोरंजन के गीत तथा विरह के गीत भी इससे सम्बन्धित हैं।' ऐसे गीतों में सहजता, सरलता, कर्णप्रियता एवं जीवन से अभिन्न रूप से जुड़े होने का गुण नैसर्गिक रूप से विद्यमान होता है तथा 'गेयता- प्राण तत्व होता है। समाज का वास्तविक रूप इन गीतों में ही ध्वनित एवं प्रतिबिम्बित होता है। सच कहा जाय तो सारा समाज ही इन लोकगीतों का सर्जक है। हां, यह जरूर है कि इन लोकगीतों में पीड़ा की अपेक्षा सहज आनन्द का अतिरेक अधिक है।

भारतीय लोकजीवन और लोक संस्कृति के सजग चितेरे, सांस्कृतिक विरासत के स्रष्टा एवं द्रष्टा डॉ. विवेकी राय ने अपने उपन्यासों में गीतों के विभिन्न रूपों का प्रतिपादन किया है। जैसे—

मातादाई का गीत : तिलकहरू लोगों के कदम वर-पक्ष के दरवाजे पर पड़ते ही ब्राह्मणियां समवेत स्वर में मातादाई का मंगलगीत कढ़ाती हैं-

'माता जे उतरेली बाग में, लोग तमासा जाइ।

पान अइसन माता पातरी, फुलवा नियरि सुकुवारि।

....देखत पाय पराइ' (सोनामाटी, पृष्ठ 136)

पुरखा जगाने का गीत :

'नदियन दहिया जमावसु, अमृत जोरन। हाटे चालु बाटे चालु, राजा रामचन्द्र।

रानी रौतिन पूछेली, के तोरा हृदय संवारल, अगर चनन ले ले।

बाबा जे हमरे तुलसी खां बाबा, उन्हें भोरा दृश्य संवारना अगर चनन ले ले।'

(सोनामाटी, पृष्ठ-137)

सगुन गीत : 1. 'आरे आरे सगुनी, सगुनवा ले ले आउ। तोरा सगुनवा रे सगुनी होला बिआह।'

2. 'मलिया के आंगना चननवा करे गांछ। तंहवा बिनोद दुलहा खेले जुआ सारि।

आरे, तहंवा कमली देई रचेली धमोई, देखु रे अम्मां दुलहवा बेवहार।।

बंहिया झकझोरे टूटे गजमोती हार।'

(सोनामाटी, पृष्ठ 137 व 138)

तिलकोत्सव गीत : 1. 'ई जनि जनिहो समधी आंगन छोट बाड़े अंगना के मालिक हवें रघुनाथ बाबू

तिलक लीहें नव लाख जी।' (सोनामाटी, पृष्ठ 138)

2. मोरे बबुआ पढ़े रंगरेजी, तिलक काहें थोर जी?'

(सोनामाटी, पृष्ठ 140)

3. जरा टारच दिखा दो तिलक गिनूंगी। .. तिलकहरू सालों को खम्भे में बांधूगी।'

'ठग लिया लड़का हमारा रे समधी बेइमान। सोने के थारा के कउल किया था, पीतर के थारा चढ़ा दिया रे...।' तिलक चढ़ाते समय की गारी (सोनामाटी, पृष्ठ 141)।

जेवनार (गारी) गीत : 1. 'नावन नावन गोपी आवेली, कृष्ण गरूड़ चढ़ि आवें जी।

जेवहिं बइठेलें राम आ लछुमन, देली सखिन सभ गारी जी।।'

2. 'कोरी-कोरी नदिया में दहिया जमवलीं।' 'छोड़-छोड़ भइया मास्टर जी होला बड़ी पीरा।'

3. रिमझिम-रिमझिम देव बरीसेंले, अंगना में लागी गइली काई जी,

तहंवा रामरूप मास्टर जी की बहिना बंड़ेरी फानेली, पड़ि गइली नजर हमारी जी

काहें तुहू सुन्दरि बंड़ेरी फानेलू? मारेलू करेजे कटारी जी। (सोनामाटी, पृष्ठ 141-142)

माड़ो गीत : 1. 'गाई का गोबरे महादेव आंगन लिपाइ, गज मोती आहो महादेव चउक पुराई।'

2. बाबा हो बिलास बाबा, मंड़उवा छाइ मोहि द।

भींजेला मोर राज कुंअर।' (सोनामाटी, पृष्ठ 163)।

3. बेरिया की बेरी तोके बरजीं ये बाबा, झांझर मंड़उवा जनि छाव।

बन पइसि बाबा बांस कटावे लें, ओही के मंड़वा छवायो, जनकपुर माड़ो।

पानन मोरे बाबा मंड़वा छववले, फुलवन झालरि लावे, जनकपुर माड़ो।' (सोनामाटी, पृष्ठ 170)

माटी कोड़ते समय का गीत :

1. माटी कोड़े गइलों से ओही माटी कोड़वा

(सोनामाटी, पृष्ठ 167)

2. 'पीपरा के पतवा पलउवा डोले रे ननदी, ओइसे डोले जिअरा....।'

3. करिया-करिया भेंड़वा के उज्जर-उज्जर बार रे, कहां जाला भेंड़वा अन्हरिया रात रे।'

4. कहंवा के पीयर माटी कहंवा के कुदारी, कहंवा के पांच सहेली माटी कोड़े अइली हो।'

(सोनामाटी, पृष्ठ 168)

हल्दी गीत : 'कोइरिनि-कोइरिनि तुहूं मोरी रानी रे, कहवां के हरदी ऊपर कइलू आजू रे।

हमरो कमली देई अति सुकुवार रे, सहि नाहीं सकेली, हरदिया के झांक रे।' (सोनामाटी, पृष्ठ 171)

चुमावन गीत : साठी केचउरा लहालरि दूबि रे, चूमहिं चलेली लछिमीना देई रानी रे,

मथवा चूमेली मुखे देलीं असीस रे, जीअसु बिनोद दुलहा लाख बरीस रे।' (सोनामाटी, पृष्ठ 171)

द्वारपूजा गीत : 1. आपन खोरिया बहोर हो अजीत बाबू, आवत बाड़े एमेले दमाद।' (सोनामाटी, पृष्ठ 337)

2. आपन खेरिया बहोर हो काली बाबू, आवत बाड़े दुलरू दमाद।

बइठे के मांगे दुलहा लाल गलइचा, लड़ने के मांगे मैदान।।' (सोनामाटी, पृष्ठ 452)

डालपूजा गीत : 1. ओरी तर ओरी तर बइठे बरनेतिया, काढ़ न अजीत बाबा अपनी पुतरिया।

...का हम काढ़ों ये समधी अपनी पुतरिया, हमरो कुमुद बेटी आंखि के पुतरिया।

2. 'आइगइले डाल दउरी आइ गइले सीर मउरी, आइ गइले धिआ के सोहाग कि धिआ ले चउक बइठे।

3. 'देखो-देखो बाबा की बड़ाई बाबा पनवन मंड़वा छवाई। बाबा मोतियन झलर लगाई।

देखो-देखो भसुर की बड़ाई, भसुर पीतल का टीका ले आई।

4. 'जइसन करइल देस के चक्का, अइसन पंडित जी उचक्का।' (सोनामाटी, पृष्ठ 344)

कन्यादान गीत : 1. बइठे अजीत बाबा खरई उसाई रे, जंघिया कुमुद बेटी लट छिटकाई रे।'

2. मंडवा के बांस छइले रोवेलें अजीत बाबू। हाथे रूमाल मुख पान।

ई धिया समधी केकरा के संउपी, केही करी प्रतिपाल?'

3. बनवा में फूले ले बेइलिया, त देखत सोहावन।

मंड़वा में फूलेली कुमुद धिया, देखत सुहावन।

जब बाबा कुसवे संकल्पिहें, तब तुंहु बिअह।'

(सोनामाटी, पृष्ठ 347)

विवाह गीत : 1. 'आरे दुधवा के निखियो ना दीहलू ये बेटी, चललू सुनर बर साथ ए। काहे के दुधवा पिअवल ए बाबा, काहे के कइल दुलार ए।

जनते रहला बाबा धिअवा पराई, लगली सुनर बर साथ ए।'

2. 'के आवे हाथी, के आवे घोड़ा, के आवेला सुख पालकी ए...

.... बाबा का रोवले गंगा बढ़िअइली, अम्मा क रोवले अन्हार ...खम्हवनि ओटधरि बेटी हो कमली बेटी, बाबा से अरज हमार ..धिया बिन सून अंगनवा ये बेटी... केई रे खोज ले बर, केइ रे पूंछ ले बर...।'

3. 'तनि एक ए सीव जटा उतारीं' 4. 'बाजत आवेला ढोल दमामा।' '...जेकरा घर में बेटी कुंआरी, से कइसे सूते निरभेद।' 'अतना दहेज हम बेटी के देंली, काहें लागी रूसले दामाद।' (सोनामाटी, पृष्ठ 160-161)।

लावा मिलाते समय का गीत :

'तोर लावा मोर लावा एक्के में मेरा दे' या

मोर लावा तोर लावा एक्के में मेरा दे।

(सोनामाटी, पृष्ठ 348)

(किसमें किसका लावा मिलाया जा रहा है, लेखक को स्पष्ट नहीं हो पाता है।)

कोहबर गीत : कांच पितरिया के इहे नव कोहबर, मानिक दीप जरे

ताही कोहबर सूतेले दुलहा विनोद दुलहा जवरे कमली देई रानी। (सोनामाटी, पृष्ठ 172)

फिल्मी धुन पर आधारित गीत : इधर औरतों में परंपरागत गीतों से हटकर सिनेमा और बिरहा के तर्ज पर नये-नये ढंग के गीतों को गाने का शौक बढ़ा है। मांगलिक अवसरों पर मेहमानों को दी जाने वाली गालियां पहले जहां श्रोता को रस सिक्त किया करती थीं वहीं आज की गालियां इतनी अश्लील और भद्दे तरीके की हैं कि सुनने वाला कानों में उंगली डालने के लिए मजबूर है। मगर, लोकभाषा की परंपरागत गालियों के आगे ये कितनी फीकी लगती हैं।

1. 'लागल झुलनिया के धक्का, बलमु कलकता निकल गये।' (सोनामाटी, पृष्ठ 335)

2. बड़ा मजा आए चने के खेत में....।'

बारी-बारी से वे सबको चने के खेत में पटकती हैं।

जलुआ गीत : केकरा महलिया लेके जाउं, जलुवा बड़ा हो बेहाल।

कि मोरा जलुआ के बथेला कपार।।

2. अइसन सुघरी रे डोमिनिया डोमवां कहंवां पवले ना?

3. 'मारल जइबे ये अरजुनवा।'

4. 'मोटी-मोटी लिटिया पकड़हे धोबिनिया।'

(सोनामाटी, पृष्ठ 326-327)

'...उठ-उठ मास्टर साला रामरूप, महुवारी से यहां तक हम लोग दिन-भर खोजते खोजते हैरान हो गये और यह साला बहनचो. ..यहां रात में अजगर की तरह पड़ा है...।' आदि भद्दे एवं फूहड़ किस्म के अश्लील स्वांग इस दिन किए जाते हैं।

दुलहिन उतारते समय का गीत : 1. हंसत खेलत मोरे बाबुल गइले, काहे मन धूमिल अइले।'

2. 'हलबल-हलबल कनिअवा चले, हरजोता के जामलि रे।
धीरे-धीरे मोरे बाबुल चले, पतिसाह के जामल रे।'

(सोनामाटी, पृष्ठ 360)

होली गीत : 1. अइसन बउरहवा बर से गौरा ना बिअहबों.. .।' (सोनामाटी, पृष्ठ 210)

2. 'मोरे बलमुआ रे पटना से बैदा बोलाद।'

3. केकरि भींजेले कुसुमी चुनरिया, केकर भींजेला सिर पाग?
सीता के भींजेली कुसुमी चुनरिया, राम के भींजेला....।'

(सोनामाटी, पृष्ठ 211)

4. होरी खेलत रंग बनाय, ठाकुरधाम में।
काहे के उधो रंग बनत है, काहे के उड़त अबीर ठाकुरधाम में।
गंगा जल के रंग बनत है, बालू के उड़त अबीर ठाकुरधाम में।

ननदी का अंगना चननवा के गंछिया, ताहि चढ़ि बोलेला काग।
देऊं तोहें कगवा दूध-भात खोरवा, जो पिया आवहिं आज।'

(सोनामाटी, पृष्ठ 212)

5. मोहन मारत रोरी, पनिया भरन कैसे जाऊं अकेली।
सासु मोरे दिहली कोरे घरिलवा, कैसे भरूं बिनु डोरी।
मोहन मारत रोरी।। (सोनामाटी, पृष्ठ 214)

6. 'बिना नन्द किशोर होरी मो कासो खेलों। आम की डाली कोइलिया, बन में बोलेगा मोर, आवन-आवन कहि गये, बिलमें कवनी ओर।'

7. 'एक पुरुख पुरान चहूं जुग में, मिलि आतम राम खेले होरी।
रंग लगे फगुआ रस बसे हो, माया-ब्रह्म दूनो जोरी।
जग भरि पंथ कर्म अरुझे हो, सबही कहे मोरी-मोरी।
राम पदारथ भूलि परे हो, हाथ लियो भ्रम की झोरी।
जोरि जुगुति रसभेद पाइके, सुरति निरन्तर रस बोरी।
बाजत अनहद ताल पखाउज, नाचत सखिन अवध खोरी।
सतगुरु सबद अबीर कुमकुमा, भाव भगति भरि-भरि झोरी।
भीखा दिव्य-दृष्टि से छिरके, पलकन नीर चुए ओरी।''

(सोनामाटी, पृष्ठ 215-216)

8. 'हो...ओ...री...ई...ई...ई...हो। होरी हो!'

होरी हो! होरी हो!!
गोरिया के गाल लाल मलल अबीर
होरी हो! होरी हो!!
कांची कइनियां! ई जिनिगी के बोझा
मारु जनि बिजली के बान।
कवने सरगवा की पुतरी उतरली
कलसा भरल रसधार।
होरी हो! होरी हो!!
केकर हुकुम आंचर फहराइल।
कइसनि फगुनहिं बयार।
होरी हो! होरी हो!!
झुल्ला की खिड़की से झांके महादेव
पइयां परेला संसार।
होरी हो! होरी हो!!

बबूल (संस्करण 2001) पृष्ठ 57-58

जोगीड़ा गीत : 'जोगी जी, चुप्पे रहि जा। सुन ले मोरी बानी, नहिं तो भरो जोगिन का पानी।'

'...जोगी जी, धीरे-धीरे, नदी का तीरे-तीरे।...सारा-रा-रा, सारा रा-रा...।' (सोनामाटी, पृष्ठ 218-219)

इन गीतों के अलावा भी अनेक प्रकार के गीतों का विवेकी राय ने अपने उपन्यासों में जगह-जगह उल्लेख किया है जैसे- मनोरंजन गीत (मंगल भवन पृष्ठ 21), (बिरहा-युद्ध) गीत मंगलभवन पृष्ठ 22 से 25, लोरी (पुरुष पुराण, पृष्ठ 41, मंगल भवन, पृष्ठ 58, 64-66), क्रीड़ा गीत (मंगल भवन पृष्ठ 72-73), विशेष पर्व के धार्मिक गीत (सोनामाटी, पृष्ठ 351), समस्यात्मक गीत (सोनामाटी, पृष्ठ 114-115), राष्ट्रीय (देशभक्ति गीत) (पूरे 'श्वेत पत्र' में यत्र-तत्र सर्वत्र की स्थिति में)।

गांवों में मांगलिक अवसरों पर ग्रामीणों का उत्साह, खास तौर पर महिलाओं का देखते ही बनता है। उनके बीच का उम्रभेद मिट जाता है और कई-कई पीढ़ियां एक साथ नाचती-गाती दिखाई देती हैं। कनिया, बहुरिया, घर की लजाधुर औरतें, युवतियां अति उमंग में होती हैं। तमाम करमठों के दौरान वे गीत गाती हैं और नृत्य करती हैं। ऐसा लगता है कि उनके पावों को पर लग जाते हैं और जमीन पर तो वे पड़ते ही नहीं हैं। सगुन उठने से लेकर विवाह के दिन

तक प्रतिदिन सुबह-दोपहर-शाम इनका यह एक सूत्रीय रंगारंग कार्यक्रम चलता रहता है और अपने अति व्यस्त समय में से भी ये इस 'आवश्यक कार्य' के लिए समय निकाल ही लेती हैं। नयी-नवेलियों की तो बात ही छोड़िए, घर की, पड़ोस की एवं पट्टीदारी की बूढ़ी स्त्रियों का भी उत्साह देखते ही बनता है, खासकर घर की जो मालकिन होगी वह तो सबसे कम उम्र की हिरनियों की भांति कुलांचें मारती दिखाई देगी। चाहे कोई बीमार हो, किसी का पांव भारी हो, कमजोरी हो, दो-चार दिन पहले की ही आई हुई नई-नवेली कनिया हो, कोई ऐसी बूढ़ी औरत हो जिसे न तो कान से साफ सुनाई पड़ता हो और न ही आंख से साफ दिखाई देता हो, अर्थात् चाहे जिस भी अवस्था में कोई हो, ऐसे अवसरों पर हर प्रकार का भेद प्रायः मिट जाता है और सारी स्त्रियां अपनी-अपनी नृत्यकला एवं गीति कला का मुक्त भाव से प्रदर्शन करती हैं। एक-दूसरे से अधिक नाचने-गाने की जैसे उनमें होड़ लगती है। कुछ पुरुष भी खुलकर ऐसे कामों में उनका सहयोग करते हैं और कुछ सफेदपोश एवं सम्भ्रान्त किस्म के लोग नृत्य-गीत में भाग न लेकर भी आत्मिक तौर पर उनसे जुड़े होते हैं।

'सोनामाटी' में कमली की शादी में उसकी आजी रामरूप की मां 'बुढ़िया माई' का उत्साह देखते ही बनता है। जब वह अपने पद में लगने वाले पट्टीदारी के देवर बलेसर के मुंह में ऐपन लिए पोतने दौड़ती है और इस क्रम में अपने पति विलास बाबा से टकरा जाती है तो कहती है, 'निगोड़ा देवरा ना मिलल आ भागि गइल त का भइल? हई छछलोल मनसेधू लोग त भेंटइले। लेईं, सरकार हई पाहुल लेईं।' कहकर हाथ का ऐंपन विलास बाबा के मुंह में पोत दिया। यह दृश्य देखकर उस समय मांडो का बांस गाड़ रहे बलिराम, विलास बाबा को ललकारते हुए कहते हैं— '...भौजी तो हमारी जैसे नवही झूठ हो गयी है और आप को थथमा लग गया है। आप भी अपना तबले वाला हाथ दिखाइए न।' इस पर बलेसर की पत्नी 'धुनना माई' चहकते हुए कहती हैं- 'जेठ जी का तबला तो तब बजेगा जब आप नाचेंगे।...अब फिर इस आंगन में जल्दी मांडो नहीं गड़ने वाला है। अब फिर कमली का विवाह नहीं होगा। इससे बढ़िया खुशियाली का मौका अब कहां मिलेगा कि हमारा देवर नाच दिखाएगा। उठो-उठो देवर...'एक-एक बेटा के तीन-तीन नांव, आजन, बाजन, गंगादयाल। आरे, झुलनी पर देवरा लोभाइल रे।' एक झूमर उठाकर और पूरे उल्लास के साथ हाथ मटका-मटका कर धुनना माई, आंगन में नाच उठी। ...लोग लोट पोट।

'बिना नेग न्यौछावर के इतना मत नाच दिखा, धुनना माई।' भगवान पांडे बोले। 'आपको न्यौछावर मैं दूंगी।' नाच रोककर धुनना माई बोली और दौड़ी-दौड़ी घर में जाकर जो लौटी तो उसके हाथ में दही थी और उसने बचते-बचते भी पुरोहित जी के मुंह में ठूंसने के साथ भर मुंह पोत दिया- 'लो नेग।' (सोनामाटी, 161-2) डॉ. राय लिखते हैं, 'ग्राम संस्कृति में भी कैसा माधुर्य है। भला ये मांगलिक मौके न होते तो इस युग में हम अपनी सामाजिक पहचान को शायद एकदम भूल जाते।' कभी-कभार तो इन हर्षातिरेक के अवसरों पर ये गांव की स्त्रियां चुमावन, द्वारपूजा आदि के समय नाचते-गाते एक दूसरे पर अति उत्साह में ढह पड़ती हैं। बूढ़ी औरतें इस प्रकार चुन-चुनकर मजाक करती हैं, 'गारी' गाती हैं कि युवतियां और लड़कियां उनसे हार मान जाती हैं। बड़ी जाति के लोगों की शादियों में प्रायः पुरुष वर्ग भी नाचा करता है और अब तो यह फैशन और भी अधिक तेजी से बढ़ता जा रहा है। 'बबूल' में अहीर ठाकुर की बरात में कुछ इसी तरह के अति उत्साही युवक हैं जो करताल बजाने के साथ ही हाथ मटका-मटका कर और कमर पर झटका दे-देकर नाचते हैं और यह नाच न केवल शुद्ध मनोरंजन की दृष्टि से नाचा जा रहा था अपितु पेड़ की छाया से हटकर धूप में, अपने लोगों की तरफ पीठ करके प्रतियोगी भाव से नाचा जा रहा था, क्योंकि वहां से कुछ ही दूरी पर एक साधारण से खपरैल वाले घर के सामने (कुछ इसी तरह के खास मौके पर) एक स्त्री नाच रही थी, इस प्रकार यह जबावी नाच चल रहा था। कठिन इशारे, लगते ताने और चुभती ललकार के बीच इंसान की मस्ती ने धूप को झुका दिया था। यही नहीं इन युवकों को उत्साहवर्धन करने एवं साथ देने के लिए स्वयं बरात का दूल्हा भी उसी पोशाक में, हाथ में रूमाल लेकर नाच रहा था। इस प्रकार नाचते-कूदते वह अहीर लोग़ों का वैवाहिक जुलूस आगे बढ़ा। इसका अर्थ यह था कि वे नाच में लाचारी वश हार मान गए। (पृष्ठ 47) इसी तरह महेसवा की शादी में भी 'टाट पर डफरा और बंशी बजाकर बरातियों ने नाच-गाना किया' (पृष्ठ 48)।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि ये मांगलिक अवसर, ये नृत्य-गीत और इनको सम्पन्न करने वाली महिलाएं ही भारतीय संस्कृति को अब तक संजोकर रख सके हैं लेकिन आगे यह रूप कितना अक्षुण्ण रह पायेगा, कहना मुश्किल है। क्योंकि नगरीय सभ्यता के प्रभाव ने इसे भी बुरी तरह प्रभावित किया है फलतः भोजपुरी के पुराने लोकगीत अब लुप्त होते जा रहे हैं और उनकी जगह नये-नये फिल्मी (अश्लील एवं फूहड़) गीत गाने का फैशन बढ़ता जा रहा है।

हिन्दी विभाग
अवधूत भगवान राम स्नातकोत्तर म.वि.
अनपरा, सोनभद्र, उत्तर प्रदेश

सीमा विश्नोई

मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यास

आर्थिक चेतना के स्वर

मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यासों में आर्थिक चेतना से युक्त नारी की विभिन्न छवियां उभर कर सामने आती हैं। कहीं वह अशिक्षित होते हुए भी अपने आर्थिक अधिकारों के लिए सामाजिक विधानों को चुनौती देती प्रतीत होती है, तो कहीं पढ़-लिखकर समाज में व्याप्त शोषण के विरुद्ध पुरजोर आवाज़ उठाती दिखाई देती है। उनकी नायिकाएं अपने आर्थिक अधिकारों के लिए संघर्ष करती हुई अपने लिए उस धरातल का निर्माण कर ही लेती हैं जिस पर अवस्थित होकर वे पितृसत्तात्मक व्यवस्था के उस चक्रव्यूह को तोड़ सकें, जो उन्हें पुरुष सत्ता के अधीन करता है। मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यासों में आर्थिक दृष्टि से पुरुष पर निर्भर तथा आत्मनिर्भर दोनों प्रकार की नारी का चित्रण मिलता है। मुख्यतः ग्राम्य-पृष्ठभूमि पर आधारित उनकी कथा-नायिकाएं अशिक्षित एवं परावलम्बी होने के कारण शोषण की शिकार तो होती हैं, किन्तु वे इस शोषण के समक्ष नतमस्तक न होकर निरंतर संघर्ष करती हुई आत्मनिर्भरता के लिए प्रयत्नशील हैं। मैत्रेयी पुष्पा ने अपने उपन्यासों की नायिकाओं को इतने सबल रूप में प्रस्तुत किया है कि उनमें रूढ़ पुरुष दृष्टि, पितृसत्तात्मक व्यवस्था, परम्परागत रूढ़ियों तथा राजनीति के छद्म मुखौटों का विरोध करने और अपने अधिकारों के लिए संघर्ष का पर्याप्त साहस है। आर्थिक आत्मनिर्भरता नारी के व्यक्तित्व को पहचान देकर उसे सशक्त बनाती है, इसलिए लेखिका ने सर्वत्र आर्थिक स्वातंत्र्य का समर्थन किया है। किन्तु उनका मानना यह भी है कि केवल आर्थिक आत्मनिर्भरता ही समस्त समस्याओं का समाधान नहीं। आर्थिक स्वातन्त्र्य हेतु अपनाए गए रोज़गार अथवा नौकरी भी नारी के लिए व्यक्तिगत, पारिवारिक तथा व्यावसायिक स्तर पर अनेक समस्याओं को जन्म देते हैं, जिनका उल्लेख भी लेखिका ने अपने उपन्यासों के माध्यम से स्पष्ट रूप से किया है।

मैत्रेयी पुष्पा का सर्वाधिक चर्चित उपन्यास 'इदन्नमम्' नारी के आर्थिक स्वावलम्बन हेतु संघर्ष का पुरजोर समर्थन करता है। नारी सशक्तीकरण में आर्थिक तत्त्व कितने महत्वपूर्ण सिद्ध होते हैं और आर्थिक अधिकारों के हनन पर नारी कितनी असहाय एवं दीन हो जाती है, इसकी सशक्त अभिव्यक्ति लेखिका ने इस उपन्यास में मंदाकिनी, बऊ व प्रेम चरित्रों के माध्यम से की है। उपन्यास में मां (प्रेम), बेटी (मंदाकिनी) व दादी (बऊ) तीनों अपने जीवन-काल में आर्थिक शोषण की शिकार होती हैं, लेकिन इससे तीनों का जीवन अलग-अलग ढंग से प्रभावित होता है। प्रेम युवावस्था में पति की मृत्यु के पश्चात् रतन यादव द्वारा उसकी जमीन के लोभ में बिछाए गए प्रेम के जाल में फंसकर अपनी पुत्री व सास को निस्सहायावस्था में छोड़कर चली जाती है और रतन यादव के शोषण की चक्की में आजीवन पिसती रहती है। दूसरी तरफ बऊ अपनी जमीन व पोती मंदाकिनी को बचाने के लिए प्रेम और रतन यादव के विरुद्ध लड़ती है; किंतु श्यामली गांव के पंचमसिंह के विश्वास पर, जहां उनका पुत्र गोविंदसिंह धोखे से पूरी जमीन हथिया लेता है और वह पश्चाताप करती हुई कहती हैं- "दोष किसका है? हमारा ही न? हम क्यों गये थे पराये गांव? क्यों नहीं लड़े अपनी धरती पर?" किन्तु बऊ की संघर्षशील वृत्ति व जीवट उसे मात्र पश्चाताप करने तक ही सीमित नहीं रखते अपितु वह अपने अधिकारों के लिए लड़ने के लिए मंदाकिनी को प्रेरित करती है।

चिकित्सकीय पृष्ठभूमि पर आधारित उपन्यास 'विजन' की डॉ. आभा उन शिक्षित आत्मनिर्भर युवतियों का प्रतिनिधित्व करती है जो अपनी आर्थिक स्वतंत्रता के बलबूते पर विवाहोपरांत उत्पन्न प्रतिकूल पारिवारिक परिस्थितियों व कार्यक्षेत्र में योग्य एवं प्रतिभावान स्त्रियों के विरुद्ध हो रहे षड्यंत्रों एवं शोषण के सामने डटी रहती है और अपने व्यक्तित्व का लोहा मनवाती है। उपन्यास में डॉ. नेहा जहां परिस्थितियों के शिंकजे में जकड़ी-सी नज़र आती है, वहीं डॉ. आभा अन्याय और शोषण की शिकार तो होती है, लेकिन वह परिस्थितियों को यथास्थिति न अपनाकर अपनी स्वायत्तता की रक्षा हेतु विद्रोही तेवर अपनाती है। अपने अहम् के कारण छोड़कर चले जाने वाले पति को वह स्वयं तलाक-पत्र देती है और कार्यक्षेत्र (अस्पताल) पर डॉ. चोपड़ा जैसे अनैतिक और पाखंडी पुरुषों द्वारा चिकित्सकीय व्यवसाय की गरिमा खंडित करने पर अन्याय का विरोध करती है। अपने आर्थिक स्वावलम्बन के परिणास्वरूप उत्पन्न आत्मविश्वास के बल पर ही आभा उन्मुक्त रूप से जीवन-निर्णय लेने में सक्षम हो पाती है।

'झूला नट' उपन्यास की शीलो अशिक्षित होने के बावजूद

पति की संपत्ति में अपने अधिकार को लेकर जाग्रत है। पति द्वारा रूप एवं अशिक्षा के कारण सदा प्रताड़ित की जाने वाली शीलो अपनी चेतना का परिचय देती हुई अपने देवर बालकिशन से संबंध तो स्थापित करती है, किंतु बछिया करने (बुंदेलखंड में बछिया दान करके देवर से पुनर्विवाह की प्रथा) से इनकार कर देती है।

'त्रियाहठ' उपन्यास में लेखिका समाज में आर्थिक अधिकारों को लेकर अपनाए गए दोहरे मानदंडों को व्याख्यायित करती हैं, जिनके अनुसार पति की मृत्यु के पश्चात पत्नी द्वारा पुनर्विवाह करने की स्थिति में उसके पूर्व के समस्त आर्थिक अधिकार समाप्त हो जाते हैं, किन्तु पत्नी की मृत्यु हो जाने पर पति के पुनर्विवाह की अवस्था में यह नियम पूर्णतः लागू नहीं होता। इस स्थिति में भी स्त्री अपने आर्थिक अधिकारों को लेकर भ्रमित रहती है।

'चाक' उपन्यास में गर्भवती विधवा रेशम की उसके जेठ डोरिया द्वारा हत्या किए जाने के पीछे भी मुख्य कारण उसके द्वारा डोरिया से विवाह करने से इनकार कर अपने मृत पति की सम्पति पर अपना अधिकार बनाए रखने का निर्णय ही रहा। जर और जोरू को सदा अपने अधीन रखने का आदी पुरुष अगर तिलमिला कर औरत की हत्या कर भी देता है तो संपत्ति पर अपना अधिकार बने रहने का संतोष उसमें पाप करने का बोध उत्पन्न ही नहीं होने देता।

सती-प्रथा जैसी बर्बर कुरीतियों के नाम पर अपनी जीवन लीला को समाप्त करने को विवश स्त्रियों की पीड़ा को व्यक्त करता 'अगनपाखी' नामक उपन्यास यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से नारी की आत्मनिर्भरता पर बल देता प्रतीत नहीं होता, तथापि अर्थ एवं संपति पर उत्तराधिकार नारी के जीवन को किस प्रकार प्रभावित करते हैं, इसका सशक्त एवं प्रभावशाली चित्रण करता है। उपन्यास के प्रारम्भ से ही ज्ञात हो जाता है कि उपन्यास की नायिका भुवनमोहिनी की अपने पति की सम्पत्ति पर दावेदारी ही उसके जीवन के समस्त कष्टों एवं पति की मृत्यु का कारण बनती है, किंतु यही दावेदारी उसमें आत्मविश्वास का संचार कर अन्याय के विरुद्ध आवाज़ उठाने व लड़ने की शक्ति भी प्रदान करती है।

चन्दर के माध्यम से लेखिका उसे अपनी ससुराल में रहकर ही अपने अधिकारों के लिए लड़ने को कहती है- 'नानी चाहती हैं, भुवन लड़े, न्यारी हो, हिस्सा मांगे, पर रहे अपने घर ही। वह उसका बसीला और वहीं युद्धस्थल है।'' भुवन की मां की यह सोच अपने अधिकारों के लिए लड़ने को प्रेरित करती है। उसके माध्यम से लेखिका अपने मत को अभिव्यक्त करती प्रतीत होती हैं कि स्त्री को लड़ने के लिए उसी आधार-स्थल पर जमकर खड़े रहना पड़ेगा, जो उसे उखाड़ने के लिए प्रयत्नरत है। आधार को छोड़ देने पर संघर्ष स्वयमेव ही कमजोर पड़ जाता है।

नारी की आर्थिक स्वतंत्रता एवं सबलता की पक्षधर मैत्रेयी पुष्पा रचित प्रसिद्ध उपन्यास 'अल्मा कबूतरी' भी उनके इस दृष्टिकोण से अछूता नहीं रहा है। अपराधी जनजाति (कबूतरा वर्ग) की व्यथा को प्रकट करता यह उपन्यास दलित स्त्रियों के साथ कज्जा वर्ग (अभिजात्य वर्ग) द्वारा किए जाने वाले अन्यायों का जीवंत प्रस्तुतीकरण है। उपन्यास के माध्यम से लेखिका इस सत्य का उद्घाटन करती हैं कि निम्न व दलित जाति की स्त्रियां उच्च एवं मध्यम वर्ग की स्त्रियों की अपेक्षा कष्ट और प्रताड़नाएं तो अधिक सहन करती हैं, किन्तु उन पर सामाजिक व आर्थिक वर्जनाओं के नियम उतने कड़े नहीं होते जितने कि अभिजात्य वर्ग की स्त्रियों के लिए होते हैं। उपन्यास में शराब का धंधा करती कबूतराएं अपने पुरुषों की अपेक्षा अधिक सशक्त नज़र आती हैं। मंसाराम (कज्जा) के साथ मिलकर ठेके पर दारू बेचने का धंधा कदमबाई के साथ-साथ पूरी कबूतरा बस्ती की काया पटल देता है।

मैत्रेयी पुष्पा ने अपने उपन्यासों के माध्यम से सर्वत्र अर्थ-स्वातंत्र्य पर बल दिया है। उनके अनुसार स्त्री शिक्षित हो अथवा अशिक्षित, ग्रामीण हो या शहरी, तब तक अपनी अस्मिता और अधिकारों के लिए संघर्ष नहीं कर सकती जब तक वह अर्थतंत्र पर आवश्यक नियंत्रण स्थापित नहीं कर लेती। आर्थिक रूप से सशक्त होने पर वह अन्य निर्णय ले पाने में भी सक्षम हो पाएगी। मैत्रेयी पुष्पा नारी के आर्थिक संघर्ष के लिए परिवार को सबसे मजबूत धरातल के रूप में स्वीकार करती हैं। उनका मानना है कि नारी को लड़ने और अपनी पहचान बनाने के लिए जमीन तो चाहिए ही, और वह जमीन उसे परिवार ही प्रदान करता है जिस पर अवस्थित होकर वह अपने व्यक्तित्व को पहचान देती है।

शोधार्थी (पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़)
कोठी, खिलौना बाग, भामाशाह मार्ग,
मॉडल टाऊन, दिल्ली-9

कृष्णा अग्निहोत्री

दौड़

उस हरियाले गांव के कुछ कंटीले से वे व्यक्ति बालमणी की सांवली सलोनी देह को घूरते दलान में पड़ी मचिया पर पसर लट्ठ ठोंकते बोलेः जाने है न छोकरी कि हम दबंग हैं। तू हमारे बलबूते ही पंच के पद पर जीती है। वो शासन की ही नीति थी कि यहां से महिला कैंडीडेट रहे। अब तू शेखी न बघारना, हमारा कमीशन मत भुलाना।''

- ''जी छोटी जाति की गरीब लड़की हूं, मुझे तो गांव वालों की सेवा से मतलब है।''

- ''काम-सेवा तू जाने, हमें तो हमारा हिस्सा ही चाहिए करना... याद है न कि तेरी बड़ी बहन के साथ क्या हुआ था?'' वे चले गए लट्ठ ठोंकते।

पर बालमणी के सर पर लट्ठ की आवाज बजती रही घर में अकेली खड़ी लड़की को धमकियां चमगादड़ों सी घेरने लगीं। कइ मकड़जाल उसे कसने लगे। कैसे वह उस ढली संध्या को भूलेगी... उस शाम वो अपनी बहन सुरजनी व गरीब कीर्तनकार पिता के साथ कांपती पंचायत बीच खड़ी थी। चौराहे पर प्रश्न बरइयों से भनभना रहे थे। दयनीय दुखियारे पिता को पंच ने आदेश दिया भाई गोपाल शुभकार्य है हो जाये एक फड़कता सा कीर्तन।''

गोपाल रोत-से स्वर में मंजीरा बजा गाने की चेष्टा करने लगा। गला साथ ठीक से नहीं दे रहा था।

श्याम तोसों मिले का बहाना चाहिए।

संग नाचूं तो जीने का सहारा चाहिए। उसने कंपकंपाते शब्द पूरे किए।

बालमणी के हाथ में सुरजनी का हाथ फड़फड़ा रहा था दोंनों बहने जानती हैं कि पिता तो मां के गुजरने पर आत्महत्या ही कर लेते पर दो मासूम बच्चियों ने उनका हाथ ही पकड़ लिया। अब वे कीर्तन करते जीवित भर हैं। जैसे-तैसे सुरजनी का ब्याह तो कर दिया पर वह ननकू के साथ खुश नहीं। बालमणी ने पांच मील पैदल जाकर 10वीं पास कर ली पर वह शीघ्र ब्याह को तैयार नहीं हुई।

उस दिन उन्हें चमकदार चांद बदसूरत लग रहा था, कलपता, बिलखता श्रवण गोपाल भी ढोलक पर हाथ नहीं मांज पा रहा था। तभी सरपंच ने ऐंठते हुए घमंड से कहा- ''पहले मैं पास वाले गांव के जीजा-साले कू छाद (मट्ठा) पिला दुश्मनी तोड़ता हूं उसके बाद गोपाल की बेटी का मामला खोलूंगा।'' उसके इशारे से उन साले-जीजा ने एक दूसरे को गले लगा सरपंच के पैरों तले रुपयों की गड्डी रख दी।

मुखिया खुश हो चीखा ''क्या श्रवण मिमिया रहे हो। जरा अच्छे से गाओ न।''

गोपाल तब भी रिरियाया ही।

कैसी समाधि लगाई भोले बाबा

दुखों ने सजाई बरात भोले बाबा।

- ''चुप हो जा...'' मुखिया के फुदकते स्वर ततैया से कटु बन गए। वह फुंफकारने लगा।

- ''फैसले से पहले तुझे श्रवण कुछ कहना है?'' अहसान जताते सरपंच ने पगड़ी ठीक की।

- ''माई-बाप मैं छोरी न बेचन चाहूं, मैं पाल लूंगा उसे। झाड़ू-पोंछा करके पेट पाल लेगी।''

- ''उसका दूल्हा बड़के बाबा की कसम खा कह रहा है कि वो बदचलन है।''

थरथराती सुरजनी ने दोनों हाथ जोड़ कहा-

''माई-बाप, इसने खेत में हल चलवाया, मजदूरी करवाई, दिन-रात शराब पी पीटा, देखिये तो मेरी क्या हालत हो गई है।'' सरपंच ने कनखियों से देखा कि भली-चंगी लड़की काली मरियल गाय सी ही रंभा रही है। वे मुड़े ''क्यों रे नानकू ये सब क्या है?''

''ये रोज मेरे चचेरे भाई से नैन-मटक्का करती थी... काम न करे' और सरपंच के कान में फुसफुसाया 'पेशोपश छोड़ो, दो हजार कैश दे चुका। पंचायत का खाना-पीना अलग है। बस सरपंच का स्वर ही बदल गया।

- ''नानकू की बात ठीक लागे हैं, इसलिए 'आप सब सुरजनी की बोली खुलकर लगायें'' खायेगी पीयेगी तो गदरा जाएगी... तो शुरू करता हूं दस हजार से बोली। और धीरे- ध ीरे बीस हजार में एक काने लूले व्यक्ति ने सुरजनी को खरीद लिया। उस कसाई के साथ मिमियाती बहन को जाते देख बालमणी के दिल में एक चिता धू-धू कर जल उठी जो आज तक ठंडी नहीं पड़ी। उसी दिन उसका वश चलता तो इन दबंगों को वह उस चौपाल में रण चंडी बनकर भस्म कर देती। कैसे हैं ये का पुरुष, अरे जानवर भी एक दूसरे की हत्या नहीं करते, बेवजह आत्महत्या को प्रेरित भी नहीं करते? ये जंगली, निरीह लड़की को इतनी निर्ममता से बेंच रहे थे। उस पति के लिये जो पति दूसरी औरत के कारण पत्नी को पीटता रहा। गरीब

पिता व छोटी बहन के कारण वह अपढ़ बेचारी दुख को जीवन समझ झेल रही थी, तो वह भी न झेलने दिया। परन्तु पंचों का विरोध करने की शक्ति उसमें न थी।

थेबर जाति की दलित लड़की अपनी कमजोर ज़मीं से परिचित थी; एक आह दबा बालमणी उठी और पिछवाड़े जा तीतरों का पिंजरा खोला– "डरना मत कानू-लानू। रानी मेरी प्यारी कुतिया तुम्हारी देखभाल करेगी।" और मणी ने रानी को जैसे ही दुलराया उसने कान चाट लिए।'

- "चल-चल बापू को रोटी दे आयें।" अब वे दोनों जंगल पार बनी पहाड़ी के मंदिर के पास वट वृक्ष की छाया में मंत्रमुग्ध करते पिता से मिलने चल पड़ीं। जैसे ही वे पास पहुंची। ढोलक की थाप पर ग्वालियर घराने की तर्ज पर कीर्तन गाते पिता के मीठे स्वर...'श्याम तोसों लगी रे लगन' पत्ते-पत्ते पर लहरा रहे थे। इस समय गोपाल को दलित मानकर भी उसकी गायकी को नकारा नहीं जा सकता था।

गोपाल ने अपनी नियति स्वीकार वटवृक्ष की छाया ही में बैठ भजन कीर्तन छेड़े...। वह अपनी चितवल ढोलक पर जब भी कोई सा भी कीर्तन छेड़ता है तो मंदिर आने-जाने वाले उसके सामने कुछ न कुछ रुपये तो डाल ही देते हैं।

अब तक तो श्याम से पिता राधा तक जा पहुंचे थे और कीर्तन गोल-गोल चक्रवात सा सबको घेर रहा था– 'राधा नाचे छम-छम तो कान्हा नाचे छम छम' सभी एकत्रित व्यक्ति ताली बजा-बजा गोपाल के साथ मस्त हो कीर्तन कर रहे थे। इसलिए बालमणी रोज की तरह सीढ़ी धोने लगी। इसके लिए भी उसे पुजारी जी प्रसाद व फल दे देते हैं। उसी समय ठाकुर पंच की पत्नी मंदिर सीढ़ी चढ़ने लगीं तो पानी के दो-तीन छींटे उनके पैर पर गिर गए, बस वे भड़कीं और बाल्टी नीचे गिरा गुर्राई– "बहुत चर्बी चढ़ रही है।" मन के हाहाकार को विराम देती मणी ने उदासी से पिता से कहा– "तुम भी तो रात-दिन भगवत-भजन करते हो। वो भी पेड़ तले पर इनकी पूजा दो बूंद पानी से खराब कैसे हो गई?"

- "बेटा, नेता और धनवान के नियम, उनकी सुविधानुसार ही बनते हैं। वे चाहें तो धर्म की परिभाषा भी नई गढ़ सकते हैं।" सामने पड़े सिक्कों को समेट मणी ने दुलार से पूछा "बाबा आपको कीर्तन क्यों अच्छा लगता है? आपने कहां सीखा है?"

- "मुझे बचपन ही से भजन-कीर्तन में रुचि थी। हमारे गांव के महंत जाति-पात में तनिक विश्वास नहीं करते थे। मेरी रुचि देख रोज नियमित कीर्तन सिखा कहते– "कीर्तन करना छोटा काम नहीं, स्वयं नारद मुनि भी तो कीर्तन करते थे।"

"कुछ समय पश्चात मैंने मान्य तिलक जी के एक गणेशोत्सव में जब महंत जी को कीर्तन शैली में राष्ट्रीय गीत गाते सुना तो तय ही कर लिया कि बस यही भव्यता अपनाना मेरी मंजिल है।

"इसे सुनने वाला जाति-धर्म के बंधन से आजाद हो एक मनमोहक अध्यात्म के चक्र में खो जाता है। कुछ क्षणों कीर्तन मंदिर की पवित्र घंटी सा मन में भर जाता है। मुझे ये जैदपुरी ढोलक व करताल महंत जी ने ही दी है।"

- "ये कुछ खास है क्या?"

- "हां, ये चितवल कटहल, आम, शीशम व नीम की लकड़ी से ही बनती है। महंत जी ने तो विदेशों में भी कीर्तनों की धाक बना दी है।

"विदेशी तो झूमकर एक कीर्तन सुनकर ही हजार रुपये दे देते हैं।

- "बाबा शीशम तो बहुत मंहगा है न?"

- "तो क्या यहां वहां जंगल से चोरी-छुपे घूस देकर दबंग पेड़ ही उठा ले जाते हैं। मेरी तो ये रामदई ढोलकिया ज़िंदाबाद होटलों व त्योहारों पर पेट तो भर ही देती है।

- "मुझे भी कीर्तन सिखाओ न!"

- "पहले झोली में गिरी नियामत को तो संभाल... अरे बिटिया अपनी सरपंची तो संभाल.... एक-दो माह ही तो रह गये। काम संभालते रह।"

- "बापू...मुझे हाल ही में आंगन बाडी व बच्चों के दुपहरिया भोजन की बड़ी रकम शासन से मिली है। इसके पहले कि दबंग इसे सूंघ लें, मैं इसका उपयोग कर रही हूं। दूध, रसोई बर्तन, राशन, पुस्तकें खरीद ली हैं। शिक्षकों और आया को भुगतान कर दिया तनख्वाह का। शेष बचा रुपया शासन को भेज रही हूं वापस। बाबा जंगल में जड़ी-बूटियों की सुगंध उडने लगी है। मैंने इन्दौर आयुर्वेद संस्थान को सूचना भेज दी टीम आती ही होगी?"

लौटते समय पास के गांव का चपरासी भागता आया और बोला– "दीदी हमारी शाला में गुरु जी ने लड़कियों को गणवेश बांटते समय उन्हें निर्वस्त्र कर दिया और शरीर को छूकर नाप-जोख की और दबंगों के डर से गांव वालों ने बच्चियों को घर बैठा लिया।" मणी उसी समय बैलगाड़ी से उस गांव रवाना हो गई, पूछताछ कर पंचनामा बना उसने शिक्षकों के विरुद्ध

शासकीय कार्यवाही हेतु शासन को रिर्पोट भेज दी।

लौटते ही मणी ने अपने घर को टूटा-फूटा पाया, दबंगों ने सामान फेंक दिया था और श्रवण गोपाल को पेड से बांध मारा था।

मणी को देख वे उबले– "निकाल कमीशन छोरी, हम दस हैं निकाल दस हजार।"

- "काका ये तीन हजार ही बचे हैं शेष खर्च हो गए", कांपते हुए मणी ने उन्हें पूरे रुपए दे दिए।

- "खर्च कर दिये। महान बने है? अभी कपड़े उतारता हूं तेरे।"

- "उतार तो..." मणी ने सामने पड़े दरांते को उठा लिया– "मैं जानवर व पंछी न हूं।"

वे चले तो गए पर फुंफकार रहे थे।

प्रातः ही जाति पंचायत से गोपाल और मणी को बुलावा आ गया। शून्य में अचकचाई मणी सब सुन रही थी।

"लगाओ स्याली की बोली... हट्टी-कट्टी मनभावन पढी-लिखी लड़की है।"

शिक्षक भास्कर ने कहा भी उसे छोड दो पर पिंजरे में बंद बुलबुल की फडफड़ाहट निरर्थक थी। कलपती मणी को चालीस हजार में एक थुलथुले मोटे सेठ ने खरीद लिया। बुत बनी लड़की को स्वयं गांव की स्त्रियों ने नहला-धुला सजाया संवारा और सेठ के हवाले कर दिया। मणी के मन में इन औरतों के प्रति क्षोभ ही क्षोभ था।

वैरागी से गोपाल ने रुपये हाथ में नहीं लिए और चुपचाप जंगल में खो गया। बेमन मणी सेठ के साथ बैलगाड़ी में धंसी। वह सोच रही थी कैद बुलबुल को स्वयं ही पिंजरा तोडना होगा, वह इन उड़ते पक्षियों और भागते जानवरों से तो गई गुजरी नहीं। वह किसी भी हालात में इस दासत्व परंपरा को नहीं स्वीकारेगी। पुरजोर विरोध करेगी। कुछ दूर एक घने जंगल के मोड़ पर उसने इशारे से कहा– मुझे मैदान जाना है।

- "हो - हो जा:... वो घनी झाड़ी बीच बैठ जा..गाड़ी वाले, बाल्टी में इसे पानी दे दे।" सेठ कोमलता से हंसा।

बालमणी घनी झाडी में धंसी और पलक झपकते ही विपरीत दिशा की ओर दौड़ लगा दी। अब वो हठचित्त थी कि उसकी यह दौड़ बिना किसी निश्चित उद्देश्य और ठौर के कभी न रुकेगी... नहीं रुकेगी... और मणी हांफती दौड़ने लगी। दौड़ती रही।

532ए-1, महालक्ष्मी नगर, इंदौर (म.प्र.)
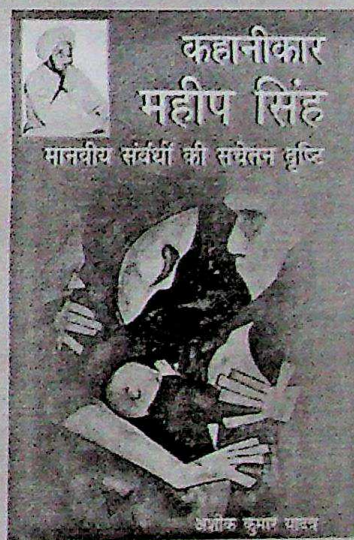
सुधाकर अदीब

ठंडा पानी

उन दिनों मन में यह अहसास कहीं-न-कहीं तो बना ही रहता था कि इस इलाके में लूट और फिरौतियों का बाजार गर्म है। ऐसे में युवा पत्नी को लेकर सुनसान सड़क पर अकेले कार ड्राइव पर निकलना...न कोई ड्राइवर न कोई संगी साथी...अगर रास्ते में गाड़ी खराब हो जाए और दूर-दूर तक कोई मदद न मिले तो किसके भरोसे पत्नी को छोड़ें? अगर पत्नी को साथ लेकर हटें तो वहां कार किसके हवाले करें? वाहन चोरों के गिरोह भी तो इन दिनों काफी सक्रिय हो गए थे।

काफी बचते-बचते इस साल उमस भरी गर्मी के दिनों में मुझसे एक बार वह गलती हो ही गई।

हुआ यों कि वर्षा मुझसे कई दिनो से मिलिट्री मंदिर चलने को कह रही थी। बिजली की आंख मिचौली गर्म मौसम के कष्ट को शाम होते-होते दुगुना कर देती थी। ऐसे में शाम को घर बैठने के बजाय कहीं बाहर घूमना बेहतर लगता। बाज़ारों में रौनक होती थी। अगर वहां बिजली चली भी जाए तो हर तीसरी दुकान पर जेनरेटर सेट सनसनाकर तुरंत चालू हो जाते थे। आप किसी भी दुकान में घुस जाइये। रोशनी और पंखे की हवा वहां मिलनी सुनिश्चित थी।

वर्षा को देवी दर्शन कराकर मैं उस दिन मिलिट्री मंदिर से निकला। कैंटोमेंट की चौड़ी सड़क पर उस समय बिजली का प्रत्येक खंभा ट्यूबलाइटों और बीच-बीच में सोडियम लाइटों की दिलफरेब रौशनी बिखेर रहा था। कार की खिड़कियों से आती हुई हवा यद्यपि अभी भी गुनगुनी थी, फिर भी कुछ राहत देती थी।

वर्षा बराबर वाली सीट पर गुमसुम-सी बैठी न जाने क्या सोच रही थी। मुझे कार ड्राइव करते हुए अचानक अपना एक सामान याद आ गया। ....जिलेट प्रेस्टो के 'यूज एण्ड थ्रो' वाले सेफ्टी-रेजर्स। मैंने गाड़ी उसी क्षण अगले मोड़ से उस रास्ते पर मोड़ ली जिसे मैं शार्टकट के रूप में जानता था। हालांकि उधर से मैं पिछले कई महीनों से नहीं गुजरा था।

एक पुलिया को पार करने के बाद मैंने पाया कि वह सड़क काफी सुनसान और अंधेरी थी। बिजली के खम्भे सड़क के किनारे-किनारे दूर तक एक सीधी कतार में चले गए थे। किन्तु वे सब के सब प्रकाशविहीन थे। लगता था कि यह सड़क म्यूनिसिपल बोर्ड और कैंटोमेंट बोर्ड के बीच का 'नो मैन्स लैंड' थी। यह बात मेरी समझ में और भी जल्दी तब आ गई जब कार में अचानक झटकों पर झटके लगने लगे।

सड़क की परत जगह-जगह उधड़ चुकी थी। स्थान-स्थान पर रोड़े और गिट्टियां उभर आई थीं। कई एक जगहों पर ऐसे बेशर्म गड्ढे थे जहां स्पीड घटाने के बजाय ब्रेक मारने की नौबत आ गई। कंकड़ उछल-उछलकर पहियों के मडगार्डों के नीचे 'खट-खड़ाक' की आवाज़ें कर रहे थे।

तभी जाने क्या हुआ कि गाड़ी एक झटके के साथ अचानक सामने आ गए एक बड़े से तलैयानुमा गड्ढे में
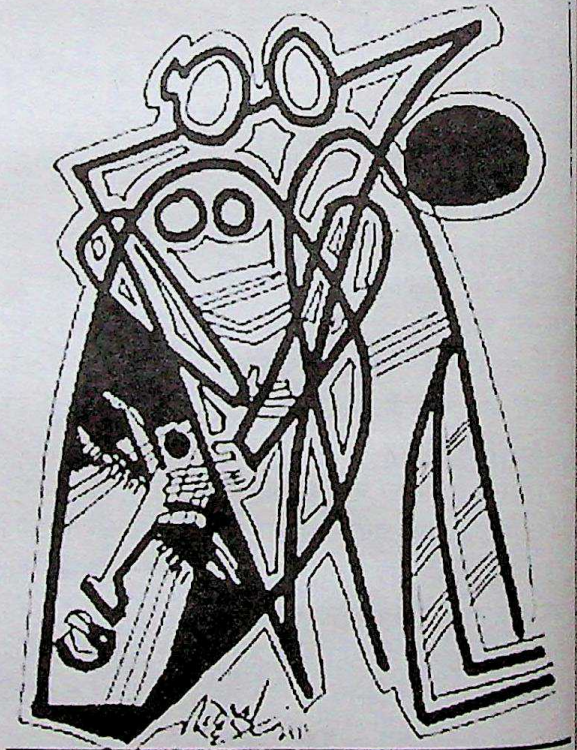
उतरकर उछली और उसका इंजन खुदबखुद बन्द हो गया।

मैंने गाड़ी का इग्नीशन-स्विच घुमाया। वह देर तक आवाज़ करता रहा। फिर कई बार रुक-रुककर घुमाया। इंजन स्टार्ट नहीं हुआ। उस घुप्प अंधकार में मेरी पुरानी कार वह फंस चुकी थी।

झुंझलाहट और घबराहट में मेरी कनपटी और सिर के पिछले हिस्से में पसीने की धाराएं बह चलीं। उमस और

सन्नाटे का मिलाजुला अनुभव मुझे और भी निराशा प्रदान करने लगा। आख़िरकार वर्षा और मैं दोनों गाड़ी से उतर गए। दूर-दूर तक किसी आदमजात के होने का कोई चिह्न प्रतीत नहीं होता था। वैसे भी अंधेरा आसपास की सारी दुनियां को अपने आगोश में छिपाए हुए था। मैंने वर्षा से कहा कि वह अपनी खिड़की की तरफ से जोर लगाए। इधर मैं एक हाथ से स्टेयरिंग पकड़े दूसरे हाथ से कार को आगे ढकेलने लगा।

उस मनहूस अंधेरे में ज्यादा कुछ सोचने-समझने की शक्ति जवाब दे चुकी थी। क्या करें कहां जाएं? आसपास कोई मकान भी है या नहीं? मालूम ही नहीं पड़ रहा था। कुछ देर बाद सामने से किसी कार की हेडलाइट चमकी। उस समय तक हम दोनों पति-पत्नी बिगड़ी हुई कार को उस गड्ढे से उबारकर आठ-दस कदम आगे ला चुके थे। सामने से आती कार की रौशनी हमें शर्म के सागर में डुबोने लगी। मेरे ऊंचे रहन-सहन के अभ्यास ने सूनी सड़क पर इस समय... मुझे नंगा होने जैसा अहसास करा दिया।

मैंने उस कार को चुपचाप सामने से गुज़र जाने दिया। रौशनी का एक सैलाब मानो हमारे अस्तित्व को रौंदता हुआ वहां से गुज़र गया। उस अजनबी कार में कोई पाश्चात्य संगीत झमाझम बज रहा था। मुझे लगा कि संगीत की वह धुन जैसे हमारा ही मज़ाक उड़ा रही हो कि देखो ससुरों की खटारा गाड़ी ने बीच सड़क पर मुंह बा दिया।... औकात नहीं है चार-आने की और चले हैं कार की सवारी करने।

लेकिन उस समय उस कार की रौशनी से हम थोड़ा आश्वस्त भी हो गए। खासकर यह देखकर कि सड़क की बांई ओर कुछ वीरान-सी दिखती झोपड़ियां थीं। एक-दो बंद पड़ी गुमटियां थीं। और दाहिनी ओर पांच-छः आलीशान किस्म के बंगले एक लाइन से बने हुए थे। मगर उन बंगलों के कोर्टयार्ड की दीवारें काफी ऊंची थीं। अंधेरे उनमें से अधिकांश बंगले भुतहे से लगे रहे थे।

उस कार की रौशनी ने यह भी दिखाया कि मैं जिस बंगले के सामने अपनी बिगड़ैल कार के साथ खड़ा था उसकी बाउंड्री का गेट आधुनिक डिज़ाइन का मगर काफी ऊंचा था। बिना गेट पर चढ़े बंगले के भीतर झांका नहीं जा सकता था।

मैंने कार का बोनट तो बहादुरी के साथ खोल दिया। लेकिन उसके इलाज के लिए अंधेरे में आवश्यक एक अदद टॉर्च मेरे पास नहीं थी। वैसे भी कार में किसी इमरजेंसी के लिए टॉर्च रखना मुझ जैसे लापरवाह आदमी की अकल में नहीं समा सकता था। वर्षा के पर्स में एक पेंसिल टार्च अवश्य पड़ी थी। परन्तु इस समय सेल वीक पड़ जाने के कारण वह भी मरी-मरी लाइट दे रही थी। अब तक मेरी टीशर्ट पसीने से पूरी तरह भीग चुकी थी। गर्मी में वर्षा का भी बुरा हाल था।

तभी 'पावरकट' से ग्रस्त उस एरिया में अचानक लाइट आ गई। उससे जिन्दगी में कोई बहार तो नहीं आई किन्तु उसका शुभ परिणाम यह हुआ कि आगे बहुत दूर पर एक इकलौता खम्भा प्रकाशित हुआ। इसी के साथ-साथ सड़क के दाहिनी ओर के बंगलों के अहातों में कुछ बल्ब जल गए। दो-एक घर फिर भी भुतहे बने रहे। कहने का अर्थ यह है कि इस सबके बावजूद मेरे आगे-पीछे की उस लावारिस सड़क का अधिकांश हिस्सा अंधकारयुक्त ही रहा। मुझे कुछ सूझ नहीं रहा था कि उस अनजान जगह पर उस कम्बख़्त कार का मैं क्या करूं? "चलती का नाम गाड़ी", इसी से तो कहा गया है। मैं मन-ही-मन सोच रहा था कि वर्षा अभी भुनभुनाएगी कि किसने कहा था इस मनहूस रास्ते पर रात में गाड़ी चलाकर लाने को?...लेकिन मेरी आशा के विपरीत वह बिल्कुल खामोश थी। शायद उस समय बोलकर वह मेरी परेशानी को और ज्यादा बढ़ाना नहीं चाहती थी। मेरा 'टेंशन' निरंतर बढ़ता जा रहा था।

तभी एक मारुति कार वहां आकर रुकी। कार की ड्राइविंग सीट पर बैठी एक महिला ने कहा– "एनी प्रॉब्लम?"

मेरे मुंह से खिसियाहट के साथ निकला– "जी...ज़रा गाड़ी खराब हो गई।"

वह कार मेरी फियेट कार के आगे से दाहिने मुड़कर ठीक बराबर वाले बंगले के मेन गेट के साने जाकर खड़ी हो गई। उस कार ने एक-दो बार 'हार्न' दिये। मेन गेट खुल गया। मारुति भीतर चली गई। बंगले का गेट खुला रहा। बंगले के अहाते का क्षीण प्रकाश मेन गेट तक आता रहा।

मैंने गर्दन मोड़कर उस ओर अच्छी तरह देखा। उस बंगले के अहाते का फर्श चिकनी मार्बल टाइल्स से संयुक्त था। भीतर काफी स्पेस था। कार पोर्टिको में जाकर खड़ी हो गई। उसमें से पिछली सीट से दो फैशनेबल नवयुवतियां उतरीं जिनके हाथों में कई शॉपिंग बैग्स थे। वे तेजी से भीतर चली गईं। उन दोनों ने कसी हुई जीन्स और आकर्षक आधुनिक डिजाइन वाले टॉप्स पहन रखे थे। एक लड़की के बाल छोटे साइज़ के कटे हुए थे। दूसरी के पोनीटेल की शक्ल में थे।

कार के शीशे चढ़ाकर एक छरहरी और लंबे कद की

महिला ड्राइविंग सीट से उतरी। वह हमारी तरफ़ आई। उसने एक गहरे गले का स्लीवलेस ब्लाउज़ और एक महीन पारदर्शी साड़ी पहन रखी थी। पास आते ही तेज़ खुशबू का एक झोंका आया। कोई मादक किस्म का विलायती परफ्यूम लगा रखा था उसने। महिला की उम्र चालीस वर्ष के लगभग थी। परन्तु इस उम्र में भी वह गज़ब की सुन्दर दिखाई देती थी। शायद उसके पीछे एक्सरसाइज, डाइटिंग से लेकर ब्यूटी पार्लर के अनेक नुस्खों का कमाल था।

''ठहरिये''– वह बोली– ''मैं अभी आपको एक टार्च भेजती हूं।'' कहकर वह बंगले के भीतर चली गई। दो-तीन मिनट बाद एक नौकरानी-सी दिखने वाली स्त्री आकर मुझे एक तेज़ रोशनी की टार्च पकड़ा गई।

अब वर्षा टार्च दिखाने लगी और मैं कार-मेकेनिज़्म के अपने अल्पज्ञान के साथ काफी देर तक खुले बोनट के नीचे झुका अपने दोनों हाथ काले करता रहा। प्यास के मारे मेरा हलक सूख रहा था। कुछ ही देर में उसी बंगले के पोर्टिको में एक लड़की प्रकट हुई। उन्हीं दो युवतियों में से एक जो कुछ देर पहले मारुति से उतरी थीं।

''सुनिये...'' वह लड़की हमें आवाज दे रही थी।

''जी...'' वर्षा ने उसे देखकर कहा।

''आप पानी ले लीजिये प्लीज।''

वर्षा ने मेरी ओर देखा। वर्षा जो संकोच उस लड़की से जताना चाहती थी उसे वह आंखों ही आंखों में मुझसे व्यक्त कर रही थी।

मैंने वर्षा से कहा– ''ले लो।''

वर्षा एक झिझक के साथ उधर बढ़ गई। हाथ की टार्च मुझे पकड़ा गई। बाएं हाथ से टार्च थामकर दाहिने हाथ से ज्यों ही मैंने बैटरी का एक टर्मिनल दबाया वहां से हल्की सी चिंगारी निकली। राज समझ में आ गया। कार को झटका लगने से बैटरी का वह टर्मिनल उछलकर अलग हो गया था। विद्युत संचार बंद होने से कार भी बंद हो गई थी। इसी से स्टार्ट नहीं हो रही थी।

मैंने ढीले टर्मिनल को कसा। फिर कार में बैठकर सेल्फ घुमाया। कार स्टार्ट हो गई। इस तरह उस अनायास उत्पन्न हुई यंत्रणा से मुक्ति मिली। मैंने कार का बोनट बंद किया और वर्षा को बुलाने उस बंगले के भीतर अपने कदम बढ़ाए।

वर्षा भी हाथ के इशारे से मुझे बुला रही थी। वह पोर्टिको से लगे बरामदे में खड़ी थी। उसके पास खड़ी लड़की के हाथों में ट्रे में रखे दो गिलास थे। उनमें ठंडा पानी था। मैंने एक गिलास उठाया और होठों से लगाया। वर्षा ने भी पिया।

फ्रिज का ठंडा पानी। एकदम चिल्ड। पीते ही आंखों में तरावट आ गई। वह मेज़बान लड़की मंद-मंद मुस्कुरा रही थी। मैंने देखा उसकी उम्र कोई अठारह-उन्नीस वर्ष रही होगी। आकर्षक युवती थी। परन्तु उस महिला की सुंदरता के समक्ष वह कुछ भी नहीं थी। मेरे पानी पी लेने के बाद वह लड़की भीतर चली गई।

नौकरानी बाहर आई। उसे टॉर्च वापस करते समय मेरे मुंह से निकला शब्द– ''धन्यवाद।''

कार ठीक हो ही चुकी थी। हम दोनों पति-पत्नी वापस लौट पड़े। वर्षा ने कहा- ''भले लोग थे बेचारे।''

वापसी में मेरे हाथ-पैर कार ड्राइव कर रहे थे और मस्तिष्क सोच रहा था...कितनी भली थीं वे स्त्रियां?...रास्ते चलतों को भीतर बुलाकर न केवल उनकी समस्या-समाधान में सहायक होती हैं बल्कि फ्रिज का ठंडा पानी भी 'ऑफर' करती हैं। इतने उदार लोग आज भला कितने हुआ करते हैं?... किसी के फटे में टांग अड़ाने की किसे फुर्सत है?...

यह भी तो हो सकता है कि इस समय वर्षा मेरे साथ थी। अन्यथा क्या वह भद्र महिला मुझसे उस तरह पूछती– ''एनी प्रॉब्लम?'' .... मान लें अगर पूछ भी लेती तो कम से कम अपनी जवान लड़की के हाथों उस तरह से ठंडा पानी तो कभी न भिजवाती... वह भी एक अजनबी के लिए...वह भी रात के समय। जवान लड़की के हाथों ठंडे पानी का गिलास? .. ये माजरा क्या है??....

मैं जानता था उस ऊबड़खाबड़ सड़क से सटी उस कॉलोनी का नाम आनंद विहार था। कहते हैं नाम का बड़ा प्रभाव होता है। बड़ी पॉश कॉलोनी थी। अभी एक हफ्ता पहले ही तो अखबार में पढ़ा था कि इसी कॉलोनी के एक बंगले पर पुलिस ने छापा मारकर देहव्यापार का एक अड्डा पकड़ा था।....

मेरे पड़ोसी शर्मा जी कह रहे थे कि ''आनंद विहार कॉलोनी'' में कुछ घर इसी किस्म के सुन जाते हैं । वहां देर रात्रि के बाद नव-धनाढ्य लोगों और कई कुत्सित सफेद पोशों का आगमन शुरू हो जाता है। इस कारोबार में लगी हुई स्त्रियों का रहन-सहन इतना उच्चकोटि का तथा आधुनिकता से परिपूर्ण होता है कि कोई आसानी से भांप भी नहीं सकता कि ये लोग इस प्रकार के होंगे। स्थानीय पुलिस का भी इन्हें

सरक्षण प्राप्त होता है। जब ऊपर से सख़्ती-वख़्ती हुई तो एक-आध छापा-वापा डाल दिया।''...

खुली सड़क पर अब मेरा मस्तिष्क कार से भी तेज़ चल रहा था। वर्षा मेरे वगल में बैठी थी और उधर वह बंगला रह-रहकर मेरी नज़रों के सामने नाच रहा था।...इतना बड़ा बंगला और उसमें मर्द के नाम पर एक गोरखा या चौकीदार भी नहीं?...सिर्फ औरतें ही औरतें?.... मारुति चलाने वाली वह गृहस्वामिनी...उसके साथ वे दो जवान लड़कियां। उनका आधुनिक परिधान। अत्याधुनिक रहन-सहन। उनकी नौकरानी।... ठंडा पानी। मादक परफ्यूम। सड़क पर गाड़ी रोककर वेतकल्लुफी से उस महिला द्वारा कुशलक्षेम पूछना.. .फिर भीतर बुलवाकर पानी भी पिलवाना।...

बात कुछ समझ में नहीं आ रही थी। कहीं वह भी तो कोई ऐसा– वैसा घर नहीं था जैसा शर्मा जी कह रहे थे...हो सकता है।...नहीं भी हो सकता है। उस बंगले का प्रांगण तो एकदम सूना था। लेकिन अगर देखा जाए तो अभी समय ही क्या हुआ था? रात्रि के नौ ही तो वजे थे।....अरे ऐसे रंगीन अड्डों पर तो मध्यरात्रि के आसपास ही चहल-पहल होती होगी।

उस बंगले के भीतर का वातावरण कैसा होगा? वह तो कुछ पता नहीं। अगर वाकई उस तरह का स्थान हुआ तो पीने-पिलाने की व्यवस्था वहां ज़रूर होगी। बार और कैबरे नृत्य की व्यवस्था वहां के सेंट्रल-हॉल अथवा ड्राइंगरूम में कहीं होनी चाहिए...राम जाने!

यह सोचते-सोचते मुझे अपने आप पर हंसी आ गई।

''हंस क्यों रहे हैं?'' वर्षा ने पूछा।

''कुछ नहीं बस यों ही।'' मेरे मुंह से निकला।

अचानक सामने चौराहे से एक ट्रक तेज़ी से 'पास' हो गया। मुझे कार में जोर से ब्रेक लगाना पड़ा अन्यथा भिड़ंत हो जाती।

''संभाल के...क्या हो गया है आपको?'' वर्षा चीखी। कार पुनः रेंगी।

मैं बोला–''वर्षा!...मुझे वह घर कुछ अजीब-सा लगा। तुम्हें नहीं लगा?''

''क्यों?'' वर्षा ने कहा।

''वह औरत जो मारुति की चाबी घुमाकर उस बंगले में गयी थी कोई मीराबाई तो लगती नहीं थीं।''

''क्या कहना चाहते हो?...हम लोगों की यही तो समस्या है।...सहज मानवीय व्यवहार आज इतना दुर्लभ और अविश्वसनीय हो गया है कि हम उसे आसानी से पचा नहीं पाते। हमेशा कारण या 'मोटिव' की तलाश करते हैं। इसी उधेड़बुन में हम संभव-असंभव कारणों की कल्पना करते हैं। ऊलजलूल सवाल हमें निरंतर परेशान करते हैं कि अमुक परिस्थितियों में अमुक ने ऐसा व्यवहार क्यों किया?''

मैं आगे कुछ नहीं कह सका। पर मेरी कल्पना के कैनवास पर एक-एक करके कई चित्र बनते-मिटते गए।

.... हो सकता है कि वे शरीफ लोग ही हों। क्या पता उस सुंदर महिला का पति न्यूयार्क अथवा सिंगापुर में कोई नौकरी या व्यवसाय करता हो?...ये सभी लोग उस संभ्रांत व्यक्ति के परिजन हों...वह महिला उन दोनों लड़कियों की मां हो.... पिता की दीर्घकालीन अनुपस्थिति में अपनी दोनों बेटियों की अधिक जिम्मेदारी से परवरिश कर रही हो और अतिथियों और हम जैसे जरूरतमंदों के प्रति उसका दृष्टिकोण अत्यंत उदार हो।

लेकिन वे दोनों लड़कियां क्या वास्तव में उसकी बेटियां होंगी?... उनकी सूरत तो उस महिला से बिल्कुल मेल नहीं खाती...कहां इतनी सुंदर मां और कहां इतनी साधारण शक्लों की बेटियां?....अरे नहीं-नहीं। यह भी क्या वाहियात तर्क है। हो सकता है कि बेटियों के बाप की शक्ल-सूरत मामूली हो और बेटियों की सूरत अपने बाप पर गई हो।....लेकिन भई उस कॉलोनी के बारे में मशहूर किंवदन्तियां, वे किस्से?...उस बंगले का वह रहस्यमय वातावरण...।

कार एक बार फिर रोकनी पड़ी। सामने रेलवे-क्रासिंग बंद थी। रेलवे फाटक की लाल-बत्ती ने यातायात का एक लंबा काफिला रोक रखा था। कोई ट्रेन आने वाली थी। दो मिनट हुए.... फिर पांच मिनट.... फिर दस मिनट। हलक में पुनः प्यास के मारे कांटे चुभने लगे।

''बाबू जी....पानी लोगे?'' एक गरीब लड़का मेरी खिड़की के पास खड़ा पूछ रहा था। उसके मैले-कुचैले हाथों में मिनरल-वाटर के दो पाउच थे। अब तो इस देश में पानी भी बिकता है।

रेलवे फाटक के खुलने का इंतजार कर रहे मेरे खुराफाती मस्तिष्क में अभी कुछ देर पहले उन अजनबी स्त्रियों द्वारा पिलाया गया 'ठंडा पानी' याद आ गया।

सम्भागीय खाद्य नियंत्रक,
फैजाबाद सम्भाग, फैजाबाद-224001

विश्वनाथ

यही बहुत है

भाग-दौड़ के इस युग में
अनुकूल नहीं है भाग-दौड़ मेरे लिए
सहज गति से चलना ही
स्वाभाविक है मुझे

कहते हैं
दौड़ोगे नहीं तो पीछे रह जाओगे
मैं सोचता हूं
कौन पीछे, कौन आगे
आगे की ओर देखता हूं तो मैं सबसे पीछे
पीछे मुड़कर देखता हूं तो मैं सबसे आगे

अपनी ही सहज गति से चलता रहूं
धरती पर पांव जमा रहे
कर्तव्य-कर्म में मन रमा रहे
यही बहुत है मेरे लिए

अधूरापन

अधूरी पड़ी है
मेरी अनेक रचनाएं
अनेक योजनाएं
अधूरे ही हैं
मेरे अनेक संकल्प
मेरे सपने भी

मेरी यात्रा भी
आधी राह में रुकी पड़ी है
अधर में लटके
त्रिशंकु की भांति

क्यों है यह अधूरापन
मुझमें ही है कोई कमी
अधूरापन ही है हमारी नियति
संपूर्णता किसे मिली है जीवन में

बहुत कठिन है

बड़े साहस का काम है
दिगम्बर बनना
बिना बाहरी आवरणों के
अपने नितांत असली स्वरूप में दिखना

दुनिया तो सदा
अपने असली स्वरूप को
अनेक मूल्यवान आवरणों
और आभूषणों में
ढककर, छिपाकर रखती है

बहुत कठिन है
अपनी नग्नता को देखना
दूसरों को देखने देना

राजपाल एण्ड सन्स
दिल्ली-110006

जितेन्द्र नाथ पाठक

ढूंढने लगा हूं एक रिश्ता

गिरने लगा है पानी
छतों पर
गलियों में
सड़कों पर

मैं देखने लगा हूं
गिरती हुई बूंदों
पानी की लहरों में
फूटते हुए बुल्लों और धारा बनकर
बहते पानी को एकटक

ढूंढने लगा हूं एक रिश्ता
अपने भीतर गिरती हुई बूंदों
फूटते हुए बुल्लों
पानी की बहती
छोटी लहरों से अपना

नंगे पांव

दूर...पार
पेड़ों के बीच
कच्चे-पक्के घरों और गलियों की कंथा
पहने
सिर पर
सफेद दुमंजिले की टोपी लगाए
नदी के कगार पर
नंगे पांव खड़ा है
एक गांव

पेड़ से आगे

हल्की-सी हवा से हिलती हुई पत्तियों वाला
यह पेड़
मुझे उस दिल की याद दिला देता है
जो दूसरों के खिलने पर
खिल जाता है
दूसरों के हिलने पर
हिल जाता है
और पेड़ से आगे बढ़कर
उनसे मिल आता है
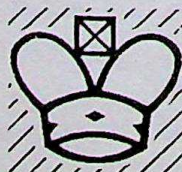
श्याम सुन्दर चौधरी

तुम्हारा अपना अभीष्ट

मुझे याद है
कई दिनों-महीनों-सालों तक
तुम्हारी उंगली थामे
तुम्हें चलना सिखाता रहा
तुमने उसके एवज में
मेरे ऊपर कई एहसान किए
मित्रवत नहीं
दया के अंदाज में
जैसे कोई बॉस करता है
अपने अधीनस्थ पर

किन्तु यदि आकलन करो
मेरी भावनाओं का, मेरे कार्यों का
तो तुम्हें एक मित्र की सरलता मिलेगी
एक पागलपन दिखेगा
ताकि कहीं तुम चलते हुए गिर न पड़ो
सदा मेरे हाथ तत्पर रहे
तुम्हें थाम लेने को
किन्तु आज चलना सीखते ही
तुम दौड़ने लगे एक अंधी दौड़
अपनी स्वार्थपूर्ति की हड़बड़ी में
सैल्यूट करने लगे
उन सबको
जिन्होंने तुम्हारे लिए
पसीने की एक बूंद भी
बहाना नहीं चाहा

उनकी तुलना में
अब मेरा वजूद
तुम्हें बहुत छोटा लगने लगा है
क्योंकि आज तुम्हें प्राप्त होने लगा है
तुम्हारा अपना अभीष्ट।

एच-61/4, साहनी कॉलोनी
कैन्ट, कानपुर - 208004

सविता मिश्र

चिड़िया जानती है

'छोड़ दो न आज
सारे काम-काज
देखो,
बादलों ने भी
मान लिया है हमारा कहा'
यह कह कर
दूर देस से आई
एक छोटी-सी चिड़िया
कमरे में आकर
पूरे अधिकार से
उठा कर ले गई
मुझे बाहर

सूरज तो
पहले ही हार गया था
उसकी जिद के सामने
बादल भी चले आ रहे हैं
उछलते-कूदते
इठलाते-इतराते

देखो तो!
जून के महीने में भी
चिड़िया ने हरा दिया है सूरज को

बाहर
शुरु हो चुकी है बारिश
चिड़ियां नहा रही हैं बारिश में
बादल उड़े जा रहे हैं
दूसरे मोहल्ले में
चिड़िया भी
उड़ रही है उनके साथ

चिड़िया और बादल
दोनों जानते हैं
कि कितना जरूरी होता है
खूबसूरत मौसम में
किचन से बाहर निकलना।

नदी और लड़की

मई के महीने
नदी के किनारे
फैली है खीरे की बेल
और एक
सांवली लड़की
हथेली पर नमक धर कर
खा रही है खीरे

घंटों हो गए
उसे नदी की रेत से बतियाते हुए।

सांवली लड़की
पहले बतियाती थी नदी से
उसने सुना था कभी
नदी देती है पत्थरों को गोलाई
बना देती है उन्हें चिकना
उसे भी उम्मीद थी
कि एक दिन नदी
उसकी ऊबड़-खावड़
जूझती जिन्दगी को
कुछ तो चिकना कर देगी
कभी तो तरस खाएगी नदी उस पर

पर जिस दिन से उसे लगा
कि नदी नहीं रखना चाहती
कोई वास्ता
उसकी जिंदगी से
उस दिन से
वह सांवली लड़की
नदी की तरफ देखती भी नहीं।

एसोसिएट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग
आर.बी.डी.पी.जी. कॉलेज,
बिजनौर, उ.प्र.

डॉ. हरदयाल

तीन पीढ़ियों की व्यथा-कथा

सिम्मी हर्षिता का उपन्यास 'जलतरंग' तीन पीढ़ियों की व्यथा-कथा है। 'व्यथा-कथा' इसलिए कि तीनों पीढ़ियों के जीवन में व्यथा अधिक है, आनंद या उल्लास कम है। उपन्यास में तीनों पीढ़ियों की कथा, वाचिका सोहना ने कही है और इस उपन्यास की तीनों पीढ़ियां उसी की हैं। एक पीढ़ी उसके दादा-दादी की है, दूसरी पीढ़ी उसके माता-पिता की है और तीसरी पीढ़ी स्वयं उसकी, उसके भाई-बहिनों की है। भारत के विभाजन के पूर्व से कथा शुरू होती है और 2004 तक चलती है। इस कथा के अधिकांश को सोहना प्रत्यक्ष रूप से प्रस्तुत करती है, परोक्ष रूप से माता-पिता के द्वारा सुनाई गयीं, उनके माता-पिता और स्वयं उनकी कुछ स्मृतियों और विभिन्न पात्रों के पत्र-व्यवहार के रूप में इस कथा के कुछ अंश सामने आते हैं। ऊपरी तौर पर इस उपन्यास में कोई केन्द्रीय कथा नहीं है। अनेक कथाएं हैं, इसलिए ऊपरी स्तर पर बिखराव का अनुभव हम करते हैं, लेकिन सोहना के जीवन के कथा के केन्द्र में रहने के कारण इस बिखराव में एकसूत्रता आती है। पूरी कथा दस खण्डों में विभाजित करके कही गई है।

सोहना के माता-पिता वृद्ध हो गए हैं। मां ने अपनी प्यारी चीज़ें उसी-उसी को दे दी हैं जो उन्हें प्यारा है और साथ ही जो उनकी कद्र करेगा। (पृष्ठ 14) समर्थ होकर बेटे या तो अलग हो गए हैं या अपने ढंग से जीवन जीना चाहते हैं, जी रहे हैं। यह दो पीढ़ियों में आने वाला अंतराल है। वृद्धावस्था ने माता-पिता को शारीरिक रूप से दुर्बल बना दिया है। पिता की दृष्टि कमजोर हो गई है, पढ़ना असंभव हो गया है। पूजा-पाठ भी मुश्किल हो गया है अब वे मृत्यु-कामना करते हैं। उनमें और उनकी पत्नी में अक्सर वाग्युद्ध होता रहता है, क्योंकि दोनों विरोधी स्वभाव के हैं। माता-पिता के द्वारा पूर्वजों की कहानियों के माध्यम से सोहना की दादी बेजी की कहानी सामने आती है, उनका साहस और सूझबूझ सामने आते हैं, विभाजन के पूर्व के वे स्थान और घटनाएं सामने आती हैं। अब जिनका संबंध विभाजन के बाद के पाकिस्तान से है। सोहना और मोहना की बातचीत के माध्यम से पिता के विभिन्न स्थानों पर नौकरी करने, दोनों बहिनों की शिक्षा, छोटे भाई के जन्म आदि सामने आते हैं। पूरा का पूरा दूसरा खंड सोहना और मोहना की आपसी बातचीत के रूप में लिखा गया है।

तीसरे खंड में मोहना और सोहना का बरेली पढ़ने जाने, समाज-शास्त्र के प्राध्यापक मुखर्जी उर्फ दादा से लगाव, उनका मोहना को सगी बहिन और सोहना को सौतेली बहिन मानना, फिर दोनों बहिनों का दिल्ली आ जाना, दादा के साथ निरंतर पत्र व्यवहार, मोहना के मन में दादा के प्रति प्रेमभाव जागना, प्रत्यक्ष रूप से इसकी समाप्ति, मोहना का विवाह होना, और दादा से पत्रव्यवहार बंद होना वर्णित है।

चौथे खंड के केन्द्र में मोहना है। वह 28 वर्ष की हो गई है लेकिन उसका विवाह नहीं हो पा रहा है। कारण, बड़ी उम्र, पंजाबीपन एवं सिखपन का अभाव। अंततः उसका विवाह बेजी की मृत्यु के छह महीने बाद हो पाता है। यद्यपि प्रारम्भ में उसमें और उसके पति के बीच बहुत घनिष्ठता नहीं है, लेकिन परिवार के दबाव, बच्चों के जन्म, आर्थिक स्थिति के कारण दोनों सामान्य, एकनिष्ठ गृहस्थों जैसा जीवन व्यतीत करने लगते हैं।

छठे खंड में तीसरे भाई तोता की शिक्षा, नौकरी, शादी, उसकी पत्नी रूप के सौन्दर्य गर्व, पति को पसंद न करने क्योंकि पति स्मार्ट नहीं है, सोहना के साथ रूप का झगड़ना लेकिन अनुभव ने उसे भी सुधार दिया। इसी खंड में पहले फौजी और फिर सूरजमुखी भाई की कथा है, जिसने तृप्ता से प्रेम-विवाह किया है। कई वर्ष वे निःसंतान रहते हैं, कई साल बाद एक के बाद एक दो लड़कियां जन्म लेती हैं और फिर एक लड़के का जन्म होता है।

पांचवें तथा सातवें खण्ड से लेकर दसवें खण्ड तक के केन्द्र में सोहना है। इन खण्डों में समाजशास्त्र में उसका एम.ए. करना, फिर हिन्दी में एम.ए. करना, विवाह न करना, फिर विभिन्न स्कूलों में हिन्दी अध्यापिका के रूप में नौकरी करना, भरपूर निष्ठा के बावजूद स्कूल के प्रधानाचार्यों के द्वारा उसके साथ अन्याय किया जाना, क्योंकि वह किसी की चापलूसी नहीं करती; जिस स्कूल में वह स्थायी अध्यापिका के रूप में कार्यरत थी, उसमें नये प्रिंसिपल बासु का आना, नियमों के पक्के और चापलूसी के बजाय कार्यकुशलता को महत्व देने वाले बासु द्वारा उसे पदोन्नत करके पी.जी.टी. बनाना, स्कूल में बासु और सोहना की उपलब्धियां, बासु का जाना और सोहना के साथ फिर परेशानियों का जुड़ना; उसकी टांग टूटना, टूटी टांग का इलाज, टूटी टांग लेकर स्कूल में पढ़ाने जाना और प्रिंसिपल के निर्दय व्यवहार, अन्ततः टांग का जुड़ना और सेवा-निवृत्ति।

सोहना का तेरह वर्ष बाद बरेली कॉलिज के समाजशास्त्र के प्राध्यापक मुखर्जी उर्फ दादा से पत्रों के माध्यम से फिर सम्पर्क होता है। इस संबंध का प्रारंभ 1957 में हुआ था और अन्त 1982 में हुआ। इस बीच सोहना और दादा के अपने-अपने जीवन में

बहुत कुछ घटा। सोहना भी अविवाहित रही और दादा भी। सोहना तो सचेत भाव से अविवाहित रही, किन्तु दादा अपने दायित्वों के निर्वाह के कारण अविवाहित रहे; लेकिन जिनके प्रति अपने दायित्व का निर्वाह करने के लिए वे अविवाहित रहे, उन्हेंने ही उनके साथ धोखा किया। छोटे भाई और भांजों ने उनकी सारी सम्पत्ति और जमा-पूंजी हड़प ली और उन्हें सरला और उसके बेटों के यहां शरण लेनी पड़ी।

प्रेम का प्रसंग दादा के जीवन में घटा और सोहना के जीवन में भी। दादा के जीवन में यह प्रेम-प्रसंग तब घटा जब वे बरेली कॉलिज में प्राध्यापक थे। सोहना के जीवन में यह प्रेम-प्रसंग तब घटा जब वह लेखिका के रूप में एक पत्रिका के सम्पादक डॉ. मानी के सम्पर्क में आई। उनके प्रति उसके मन में प्रेम तो है, लेकिन शारीरिक स्तर पर इसे घटित करने की इच्छा उसमें नहीं है। यौन-सम्बन्धों को लेकर वह जिज्ञासु तो है, एक लेखक के रूप में लेकिन उस जिज्ञासा को व्यावहारिक रूप देने के प्रति उसके अपने तर्क-वितर्क हैं इसलिए वह मनोद्वन्द्वग्रस्त होती है।

डॉ. मानी का यह कथन इस उपन्यास के सन्दर्भ में अत्यन्त सटीक है- ''जो व्यक्ति जितना असफल होगा, वह उतना ही सेंसिटिव; उतना ही संवेदनशील हो जाता है। हमेशा सफल रहने वाला व्यक्ति हो सकता है कि संसार में बहुत सफल हो, पर वह लेखक नहीं हो सकता।'' (पृष्ठ 397)।

इस उपन्यास की केन्द्रीय शैली आत्मकथा की है। यह एक प्रकार से सोहना की आत्मकथा है। इसलिए इस उपन्यास में जो भी घटनाएं वर्णित हैं, जिन भी प्रसंगों के विवरण प्रस्तुत किए गए हैं, वे सब अधिकांशतः प्रत्यक्ष रूप में और कुछ अंशों में परोक्ष रूप में सोहना के साथ जुड़े हुए हैं। वही इस उपन्यास की केन्द्रीय पात्र है और वही इसकी वाचिका है। इस उपन्यास का देश और काल बहुत विस्तृत है, घटनाएं इतनी अधिक हैं कि हमें लगता है कि इस उपन्यास में अनेक उपन्यास बीज रूप में समाहित हैं। इस प्रकार के उपन्यास असमर्थ लेखक के हाथों लिखे जाकर उबाऊ हो जाते हैं, लेकिन 'जलतरंग' उबाऊ नहीं है। वह हमें बांधता है और एक पठनीय उपन्यास के रूप में रेखांकित करने योग्य है। इसका कारण है घटनाओं को रोचक ढंग से प्रस्तुत करने की लेखिका की क्षमता और विवरणों-वर्णनों की कलात्मकता। उदाहरण के लिए यह अंश देखिए- ''आज अट्ठाइस की हो चुकी हूं। मन कितना-कितना भटका है; कितना अपमान झेला है; कितने आंसू बहे हैं अपनी बेबसी पर, तब जाकर यह दिन नसीब हुआ है। नौटंकी से मुक्ति मिली है। एक अंतिम फैसला मिला है। एक निश्चित दिशा और अर्थ मिला है। ठहरे हुए पानी को प्रवाह मिला है। सम्मान और शांति से जीने को अपनी छांह मिली है। देहरादून से बरात आ पहुंची है और उसके स्वागत में शबद गायन की मंगल ध्वनि मेरे अन्दर अनोखे सुख की वर्षा कर रही है'' (पृष्ठ 234)। इसमें सूचित तथ्य तो बहुत कम है, लेकिन सूचना देने का ढंग व्यास शैली के कारण विस्तृत है। उपन्यास का आकार इसी कारण बड़ा है।

भाषिक स्तर पर लेखिका का शब्द-प्रयोग हमारा ध्यान आकर्षित किए बिना नहीं रहता। ठेठ पंजाबी शब्दों के प्रयोग से आंचलिकता का रंग आया है। **'जिवें सारी अकल इस दे ही कोल होवे ते दूजे मूरख होवण। सारी जिन्दगी इसदा ऐही वतीरा रिहा** है।'' (पृष्ठ 36), ''धीए **ऐह** बंदा इतना **डाढा** है कि किसी को न बोलने देता है, न कुछ करने।'' (पृष्ठ 36), ''मुझे **झूंगा** नहीं चाहिए।'' (पृष्ठ 398), इस प्रकार के प्रयोग और संवाद पात्रों को स्वाभाविकता और प्रामाणिकता प्रदान करते हैं। भाषिक स्तर पर लेखिका ने लाक्षणिक प्रयोग भी खूब किये हैं, संदर्भों का उपयोग है। संवादों में पंजाबी कहावतें प्रयुक्त की हैं। कहीं-कहीं उसकी भाषा में चमत्कार की सृष्टि भी खूब हुई है- ''इस देह के छन्दशास्त्र को कभी गम्भीरता से जानने-समझने की कोशिश ही कब की थी कि पता चलता कि इसके तत्वों की मात्राएं भी घट-बढ़ जाने से छन्दभंग हो जाता है। अरे इस शरीर के गले में कौन-कौन से हार नहीं डाले गए? दुग्धाहार, फलाहार, अन्नाहार, शाकाहार, मांसाहार। फिर भी यह हर मोर्चे पर फिसड्डी निकला और एक दिन यूं ही हो जाएगा इसका उपसंहार'' (पृष्ठ 87)। इसकी भाषा में अलंकरण भी खूब है। अनुभवप्रसूत निष्कर्षात्मक वाक्यों ने सूक्तियों का रूप ले लिया है- ''स्त्री पुरुष का ऐसा रिश्ता बनाया है रब ने कि ठीक है तो स्वर्ग है, नहीं तो नरक है।'' (पृष्ठ 30) या ''हिन्दुस्तानी भाषा मुसाहिबों और चापलूसों की भाषा है। जितने चापलूसी के शब्द इसमें हैं उतने किसी भाषा में नहीं।'' (पृष्ठ 31)।

भाषा पर ऐसा अधिकार, अभिव्यक्ति की ऐसी कलात्मकता कम ही लेखक अर्जित कर पाते हैं। अभिव्यक्ति की इसी क्षमता और कलात्मकता ने इसे पठनीय उपन्यास बनाया है।

जलतरंग (उपन्यास) : सिम्मी हर्षिता; सामयिक प्रकाशन, जटवाड़ा, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002; प्रथम संस्करण 2010; डिमाई, पृष्ठ 416; मूल्य : 595 रुपये।

एच-50, पश्चिमी ज्योतिनगर
दिल्ली-110094

डॉ. गुरचरण सिंह

कुसुम अंसल रचनावली को पढ़ते हुए

रचनावली में लेखक का पूरा साहित्य एक साथ पाठक, शोधार्थी, अध्येता को मिल जाता है– इस दृष्टि से रचनावली की उपयोगिता असंदिग्ध है। रचनावली का प्रकाशन कब हो– यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। लेखक के न रहने पर यदि रचनावली का प्रकाशन होता है तो रचनावली का उद्देश्य पूरा हो जाता है, पर जीवन काल में इसका प्रकाशन कई प्रश्न छोड़ जाता है। क्या लेखक ने रचनावली के प्रकाशन के साथ लेखन कार्य बंद कर दिया है? यदि नहीं तो रचनावली के प्रकाशन के बाद वह जो कुछ भी लिखेगा उसे कहां रखा जाएगा– क्या रचनावली के अतिरिक्त खंड उसके जीवनकाल में या उसके न रहने के बाद प्रकाशित किए जाएंगे? रचनावली के अतिरिक्त खंडों का प्रकाशन हिंदी प्रकाशन जगत को देखते हुए सहज या सम्भव नहीं लगता है।

दिल्ली के कई साहित्यकारों की रचनावलियों का प्रकाशन उनके जीवन काल में ही हो गया है जिनमें प्रमुख हैं—रामदरश मिश्र, महीप सिंह, नरेंद्र मोहन, जगदीश चतुर्वेदी, कुसुम अंसल आदि। सुनीता जैन की समग्र कविताएं, चित्रा मुद्गल तथ मृदुला गर्ग की समग्र कहानियां भी कई खंडों में प्रकाशित हो चुकी हैं। देश के अन्य कोनों में भी ऐसा हुआ होगा। अपने जीवन काल में अपने समग्र साहित्य को एक साथ कई खंडों में प्रकाशित देखकर लेखक को आत्म-तुष्टि तो होती ही है– पाठक वर्ग को भी इसका लाभ मिलता है। रचनावली के साथ संपादक का काम भी जुड़ा हुआ है। प्रकाशित रचनावली की जहां कहीं भी चर्चा पढ़ने को मिली, संपादक को जो महत्व मिलना चाहिए था वह देखने को नहीं मिला। समीक्षाओं में सिर्फ रचनाकार तथा उसकी रचना की ही बात देखने को मिलती है। रचनावली की रूपरेखा क्या हो, रचनाओं को किस क्रम में रखा जाए तथा यह भी ध्यान में रखना होता है कि रचनाकार की कोई भी रचना छूट न जाए। इस सबका उत्तरदायित्व संपादक के कंधों पर ही होता है। इसलिए रचनावली को तैयार करने के विविध रूप हो सकते हैं। कुसुम अंसल की रचनावली का संपादन अनिल कुमार ने किया है। इस रचनावली के संपादन से पहले वे महीप सिंह की रचनावली का संपादन भी कर चुके हैं। उनका क्षेत्र विभिन्न लेखकों के सूक्ति-कोश निर्माण का रहा है। संपादक ने रचनावली की आवश्यकता, उसकी योजना, उसकी रूप रेखा पर कोई बात 'संपादक की ओर से' के अन्तर्गत नहीं की है। उन्होंने कुसुम अंसल के कथा साहित्य, कविता, आत्म-कथा,आदि पर एक-दो अनुच्छेद लिखे हैं, और इन्हीं चार पृष्ठों को प्रत्येक खंड में दे दिया है। उचित रहता यदि वे खंड की विधा के अनुरूप भूमिका लिखते। इन चार पृष्ठों को लिखने में भी संपादक ने श्रम नहीं किया है।

कविता पर उन्होंने जो दो अनुच्छेद लिखे हैं वे मेरे आलेख 'विस्मृत स्व की तलाश' तथा कहानियों पर लिखते हुए मासूमा अली के आलेख से अनुच्छेद उठा लिए हैं। जिन विद्वानों के आलेखों से सामग्री ली है उसका उल्लेख तक नहीं किया है। अनिल कुमार को संपादक के उत्तरदायित्व को समझना चाहिए। कुसुम अंसल की रचनावली के सात खंड हैं। कुसुम अंसल की पहचान उनकी कविता तथा कथा साहित्य के कारण है जबकि उन्होंने आत्मकथा, यात्रा-वृत्तांत, नाटक तथा निबंध भी लिखे हैं। इसी कारण उनके पहले तथा दूसरे खंड में उनकी कविताएं दी गई हैं तथा तीसरे, चौथे तथा पांचवें खंड में उनके उपन्यास तथा सातवें खंड में उनके शोध-प्रबंध तथा आत्मपरक निबंध संकलित किए गए हैं। परिशिष्ट में जीवन, रचना-प्रसंग तथा प्रकाशित पुस्तकों की सूची दी गई है। पर अपनी भूमिका में संपादक ने इसी क्रम को नहीं अपनाया है– वे पहले उपन्यास, फिर कविता और उसके बाद कहानी पर बात करते हैं। इससे ऐसा लगता है कि वे कुसुम अंसल के कथा साहित्य को कविता से अधिक महत्व देते हैं। यदि ऐसा है तो उन्हें रचनावली के खंडों का क्रम भी इसी के अनुरूप रखना चाहिए था।

कुसुम अंसल के साहित्य में उच्च वर्ग को प्रमुख स्थान मिला है। इस वर्ग की मूल्यविहीन, स्वार्थपरक, उथली मानसिकता उनकी रचनाओं में अभिव्यक्ति पाती है। भावुकता और बौद्धिकता का अद्भुत समन्वय उनकी रचना में है जबकि उनका झुकाव बौद्धिकता की ओर अधिक है। वर्तमान समय की गहरी समझ उनकी रचना में उभरती है। वे अपने अनुभवों को ईमानदारी से अभिव्यक्त करती हैं। इसी कारण उनकी रचना में यथार्थ का स्वाभाविक रूप उभरता है।

अपनी कविताओं, कहानियों तथा आत्मकथा में कुसुम अंसल ने नारी जीवन की समस्याओं को बड़ी सहानुभूति तथा

आत्मीयता से विचित्र किया है। कहानी तथा उपन्यास में उसके लिए कथ्य अधिक महत्वपूर्ण है। उनका ध्यान कथ्य की स्वाभाविकता, यथार्थ तथा विश्वसनीयता पर अधिक रहता है। उनके उपन्यासों का अध्ययन करते समय यह स्पष्ट हो जाता है। सत्य को व्यक्त करना सहज नहीं होता, पर कुसुम अंसल निर्भीकता तथा निडरता से अपनी बात कहती हैं। मैं कुसुम अंसल की कविता तथा कथा साहित्य को समय-समय पर पढ़ता रहा हूं। उनकी कविताओं पर लिखने का अवसर भी मुझे मिला है। संपादक के अनुसार कुसुम जी ने उपन्यासों में चेतन और अचेतन मन के संघर्ष तथा इन सबकी मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया का मानव मन के विभिन्न स्तरों को यथार्थ रूप से चित्रित करने हेतु मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण को अपनाया है। इनके वाक्यों का एक-एक शब्द मनोवैज्ञानिक नवीन सिद्धांतों और विचारों को इंगित करता है।' कुसुम अंसल मनोविज्ञान की छात्रा रही हैं। इसलिए चरित्रों के मनोवैज्ञानिक पक्ष को उभारने में उनका अधिक ध्यान रहा है जो स्वाभाविक ही है। उपन्यासों में पात्रों की संख्या सीमित होने के पीछे भी यही कारण है। चरित्र के विशिष्ट अनुभव, गुण-अवगुण, कल्पनाएं, संघर्ष आदि कथा के केंद्र में रहते हैं। उनके उपन्यासों को व्यक्तिवादी कहा जाए या नहीं यह विचार का विषय है। उपन्यासों में व्यक्ति का अहं, उसकी सोच कितनी तथा किस रूप में उभरती है– क्या उपन्यास का नायक अपनी इच्छा से विकसित होता है या परिवेश का प्रभाव ग्रहण करते हुए आगे बढ़ता है। इस पर अलग से विचार करने की आवशकता है। रचनावली के संपादक ने कुसुम अंसल के उपन्यासों को व्यक्तिवादी उपन्यासों की संज्ञा दी है। पर सिर्फ मनोवैज्ञानिक पक्ष को आधार बनाकर उनके उपन्यासों को व्यक्तिवादी कहना तर्कसंगत नहीं है।

उनके उपन्यासों में व्यक्ति की 'अंतर्वृत्ति, प्रेम, ईर्ष्या, काम, इच्छा, घृणा आदि का संवेदनात्मक' वर्णन हुआ है। लेखिका जीवन की सच्चाइयों से मुंह नहीं मोड़ती बल्कि उनका यथार्थ तथा सटीक चित्रण करती है। चरित्रों के अन्तर्लोक की यात्रा वह मनोवैज्ञानिक धरातल पर करती है जिससे चरित्र का अचेतन, उसकी ग्रंथियां, कुंठाएं सहज स्वाभाविक रूप से खुलने लगती हैं। प्रेम, स्नेह, शृंगार, ममत्व तथा आपसी रिश्तों का स्वाभाविक चित्रण उनके उपन्यासों में हुआ है। कुसुम अंसल के उपन्यासों में 'एक और पंचवटी', 'रेखाकृति' तथा 'तापसी' की काफी चर्चा रही। 'पंचवटी' पर फिल्म भी बनी और चर्चा में रही। कई फिल्म महोत्सवों में इस फिल्म को दिखाया गया। 'तापसी' उपन्यास वृंदावन के आश्रमों में रह रही विधवाओं की पीड़ा को व्यक्त करता है। मंदिरों, मठों, आश्रमों में धर्म के नाम पर स्त्रियों का शोषण हो रहा है। स्त्री का संबंध चाहे किसी भी वर्ग से हो उसे कुचलने, दलने तथा यौन-शोषण की कोशिशें देखी जा सकती हैं।

कुसुम अंसल की कहानियों में विषयगत विविधता है। मनुष्य उनकी कहानियों के केंद्र में है। वे उसी के दुख-दर्द, पीड़ा, कुंठाओं, ग्रंथियों, तनाव, अवसाद, स्वार्थ, साम्प्रदायिक भाव, आतंक, युद्ध तथा उसके परिणाम, प्रवासी भारतीयों की समस्याओं आदि को उभारती हैं। उनकी कहानियों में जीवन की रहस्यमयता, संबंधों की उलझनें, असुरक्षा तथा अकेलेपन का भाव उभरता है। कुसुम अंसल की कुछ कहानियों में स्त्री विद्रोह करने का साहस करती है तो कुछ कहानियों में मनोविज्ञान का ज्ञान इतना हावी हो गया है कि कहानियां केस हिस्ट्री लगने लगती हैं। उनकी कहानियों, उपन्यासों तथा आत्मकथा में अलीगढ़ धड़कता हुआ नज़र आता है। वैधव्य को भोगती स्त्रियां, स्त्रियों के प्रति पुरुषों का दृष्टिकोण भी उनकी कहानियों में अभिव्यक्ति पाता है। समकालीन परिवेश में जी रहे मनुष्य की उन्हें गहरी समझ है। समय में आ रहे परिवर्तन तथा उनके कारण जीवन जीने के ढंग में आ रहे परिवर्तन उनकी कहानियों में उभरते हैं। उनकी कहानियों में समलैंगिक संबंध भी हैं तो आधुनिक उच्च वर्ग की महिलाओं तथा उनके जीवन के तनाव भी हैं। वे अपने चरित्रों को ईमानदारी से बुनती हैं, इसी कारण उनकी कहानियों में विश्वसनीयता बनी रहती है। उनके चरित्रों में जहां प्रेम संबंध उभरते हैं वहीं जीवन के तनाव तथा अवसाद भी चित्रित हुए हैं।

कुसुम अंसल की कविता में दाम्पत्य जीवन, आपसी संबंध, प्रेम-स्नेह तथा समाज से टकराव को मुख्य रूप से अभिव्यक्ति मिली है। वे अपनी कविताओं में विस्मृत 'स्व' को तलाशती नज़र आती हैं। कवयित्री दैहिक सुख से ऊपर उठकर अनंत सत्ता, अध्यात्म तथा 'स्व' की बात करती है। इसी कारण उनकी कविताएं रहस्य के आवरण को ओढ़े हुए हैं। स्व के साथ कभी कवयित्री का सीधा तादात्म्य होता है तो कभी गोपनीयता बनाकर रखी गई है। कहीं-कहीं कवयित्री तटस्थ द्रष्टा की तरह अपने ही स्व को मूर्तित होते हुए देखती

है। कुसुम अंसल की कविताओं में पूर्वाग्रह, ईर्ष्या या द्वेष का भाव नहीं है, बल्कि ये कविताएं मानवीय संबंधों को गहरा तथा आत्मीय बनाने का प्रयास करती हैं। वे कविता को अपने से, अपने बीच, मन और जीवन के बीच एक निरंतर संवाद स्वीकारती हैं। कवयित्री देखती है कि आत्मीयता, स्नेह, प्रेम का भाव अब देखने को नहीं मिलता। संबंध टूटते और बिखरते जा रहे हैं। नारी हृदय प्रेम का सरोवर है। प्रेम के अनेक रूप हम नारी में देखते हैं। सच्चे प्रेम संबंधों में छल कपट या झूठ का स्थान नहीं होता। कवि स्थितियों से तटस्थ या निर्लिप्त नहीं रह सकता। वह स्थितियों से टकराता तथा उन्हें मोड़ता है। यह टकराहट कुसुम अंसल की कविताओं में देखी जा सकती है। इस टकराहट से कहीं निराशा उभरती है तो कहीं आशा, पर कवयित्री के स्वर में आस्था का भाव रहता है।

कवयित्री बाहर के प्रकाश को अपनी आत्मा में उतार लेना चाहती है। वह रात के अंधेरे को दूर कर सुबह के नीलेपन तथा उसकी सुनहरी किरणों को आत्मसात कर लेना चाहती हैं। उसके मन में अनेक प्रश्न हैं जो उसकी कविता में उभरते है। कुसुम अंसल की कविताएं हमें उस दुनिया में ले जाती हैं जहां हम अतीत और वर्तमान में जोड़ते हुए स्व को पहचानने की कोशिश करते हैं तथा कवयित्री के अनुभवों के साथ जीते हैं।

कुसुम अंसल की आत्मकथा 'जो कहा नहीं गया' काफी चर्चा में रही थी। आत्मकथा लिखना साहस का काम है। जीवन के सच को ईमानदारी से अभिव्यक्त करना सरल नहीं होता। इस आत्मकथा में पन्द्रह अध्याय हैं। पहले अध्याय में उन्होंने अपने बचपन का चित्रण किया है। बचपन का व्यक्तित्व निर्माण में गहरा योगदान होता है। मां का निधन, सौतेली मां के प्रति पिता का गहरा झुकाव, बुआ के द्वारा पालन-पोषण आदि ऐसी घटनाएं हैं जिनका कुसुम के जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा। मातृभाषा पंजाबी होते हुए भी अलीगढ़ की होने के कारण उर्दू की नजाकत तथा लोच उनकी भाषा में देखी जा सकती है।

कुसुम अंसल रिश्तों को अहमियत देती हैं– उन्हें निभाती हैं। वे अपने अंदर निहित स्नेह तथा प्यार को विस्तार देना चाहती हैं। आत्मकथा में लेखिका का आहत, अपमानित रूप उभरता है जो अपने समस्त दुखों के बावजूद दूसरों के संग सुख को तलाशता है। कुसुम के जीवन से जो निकटता से जुड़े हुए हैं जो उसके जीवन के सच को जानते हैं वही कह सकते हैं कि इस आत्मकथा में जीवन का पूरा सच आ पाया है या नहीं। नासिरा शर्मा ने अपने आलेख में इस ओर संकेत किया है– 'तुमने वह सब क्यों नहीं लिखा जो तुम्हारा सच था, जिसमें किसी व्यक्ति का नाम आना महत्त्वपूर्ण नहीं था बल्कि वे घटनाएं, अनुभूतियां, दृष्टिकोण अहम था जो पाठकों को अधिक समृद्ध बनाता।' इससे स्पष्ट है कि नासिरा, कुसुम अंसल के उस सच को जानती हैं जो आत्मकथा में किन्हीं कारणों से नहीं लिखा जा सका।

महिलाओं द्वारा लिखित यात्रावृत्त कम ही प्रकाश में आए हैं। इस दृष्टि से कुसुम अंसल का यात्रा-वृत्त 'स्मृतियों का अतीत' चौंकाता है। पुस्तक का प्रकाशन आर्ट पेपर तथा रंगीन चित्रों के साथ हुआ। पुस्तक का ऐसा भव्य रूप हिंदी में पहले देखने को नहीं मिला। कुसुम ने मिस्र, चीन, कोपेनहेगन, कीनिया, जेरूसलम, मास्को, बगदाद, जापान, पाकिस्तान तथा म्यांमार की यात्राओं की अनुभूतियों को इन यात्रावृत्त चित्रों में समेटा तथा सहेजा है। इन यात्रा-वृत्तों में स्थान विशेष की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि तथा लेखिका के निजी अनुभवों को अभिव्यक्ति मिली है। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का चित्रण इन वृत्तांतों के साथ जुड़ नहीं पाता– वह अलग-थलग या बोझिल लगता है। इस तरह के चित्रण के लिए इतिहास की गहरी समझ, भौगोलिक जानकारी का होना आवश्यक है। ऐतिहासिक तथ्यात्मक त्रुटियों से स्पष्ट हो जाता है कि कुसुम ने नगर या देश विशेष के इतिहास को पूरी तरह खंगाला नहीं है। इस प्रकार के चित्रण की उपयोगिता को भी वे सिद्ध नहीं कर पाई हैं, पर उनके अपने अनुभव, स्थान विशेष तथा वहां के लोगों का चित्रण रुचिकर तथा पठनीय है।

कुसुम अंसल ने दो नाटक भी लिखे हैं- 'रेखांकृति' और 'उसके होंठों का चुप।' दूरदर्शन के लिए सीरियल तथा पंचवटी फिल्म की पटकथा भी लिखी। विविध विधाओं में लिखने वाली कुसुम अंसल को उनकी रचनावली के प्रकाशन पर बहुत-बहुत बधाई तथा शुभ कामनाएं।

कुसुम अंसल रचनावली : सं. अनिल कुमार; नमन प्रकाशन, दिल्ली; संस्करण 2008; मूल्य 400 रुपये

6/15, अशोक नगर
नई दिल्ली-110018

डॉ. अश्विनी पाराशर

अटका हुआ एक फैसला

आदमी कहीं भी चला जाए उसके पीछे-पीछे परछाईं-सी उसकी पृष्ठभूमि, जातीय संस्कार, बीता अतीत परंपरा की तरह उसकी पीठ पर चिपका-सा चला आता है साथ-साथ। प्रेमचंद की कहानी 'यह मेरी मातृभूमि है' कुछ इसी तरह के भाव को दर्शाती है। एक मृगमरीचिका से प्रलोभित व्यक्ति जब अपनी महत्वाकांक्षा के व्यामोह में डूबा कुछ ज़्यादा पाने की ललक में समुद्री छलांग लगाता, दूर देश में जा बसता है, तो जाहिर है, शुरू-शुरू में काम में उलझा, भौतिकवादिता को अंगीकार करता नएपन, नए चलन, नए रंग मिजाज़ और एक तथाकथित मगर खास टाइप के माहौल में ढलने-ढालने लगता है स्वयं को तो न सकुचाता है, न अचकचाता है और न ही पीछे मुड़के देखना चाहता है। मगर उम्र की खुमारी के उतर जाने के बाद उसे लगने लगता है, एक बड़ी गलती हो गई क्योंकि तमाम कोशिशों के बाद भी संस्कार की जकड़ और पकड़ ढीली नहीं हो पाती, खासकर, फुरसत के क्षणों में उसे उसका अतीत कचोटने लगता है- कि किस जुनून में 'घर' की दहलीज पार कर अपने माता-पिता से मोह का रस्सा तुड़ा कर निर्मोही से भाग खड़े हुए थे? आज अपनी संतति के सामने उनके सोच, दृष्टिकोण और जीवन के प्रति संस्कारहीनता-सी पनपती उच्छृंखलता आज के तथाकथित खुलेपन के भदेस भरे आचरण के सामने निरुपाय वह सच से भागी पीढ़ी उन्हें मूल्य, आचरण, स्वस्थ जीवन दृष्टि जैसी शीतल छांह के नीचे कैसे लाए? एक बड़ा प्रश्न है।

प्रेमचंद ने 'यही मेरी मातृभूमि है' कहानी के माध्यम से नायक के द्वारा अंततः अपने ही बनाए परिवार में स्वयं को अप्रासंगिक जानकर भारत लौटने के विकल्प के रूप में संस्कृति के आलोक में चीजों को एक अलग कंसर्न के रूप में ढाल कर प्रोजैक्ट किया था। वह शायद इस तरह के पलायन का शुरुआती दौर था। मगर नए आर्थिक विकेन्द्रीकरण के दौर में भविष्य को विदेशों में सैटल करने का भाव ग्लोबलाइजेशन के कहीं अधिक व्यापक कंसैप्ट में शायद अतीत की परछाई से पीछा छुड़ा कर जिस प्रकार हावी हुआ है नई पीढ़ी पर, गौतम सचदेव की कहानियां 'अटक हुआ पानी तथा अन्य कहानियां' संकलन में कुछ इसी तरह की चिंताओं-समस्याओं से आहत मनोदशाओं में अपने भविष्य और अपने बच्चों के भविष्य के बीच के बड़े गैप को भरने की कोशिश में निरुपायता समर्पण, पश्चाताप के साथ-साथ क्या होगा इस दिग्भ्रमित अराजक पीढ़ी का? जैसे सवालों से जूझते हुए पानी कहां अटक कर रह गया? प्रवाह कहां रुक गया- की समस्या से रू-ब-रू कराता है।

असल में, एक हिसाब से यह समस्या अत्याधुनिक है या कहें आधुनिक और उत्तर आधुनिक हुई पीढ़ी के बीच के संघर्ष की है। इसे आर्थिक उपार्जन, चमक-दमक और गांव और शहर के बढ़ते गैप में संयुक्त परिवार और एकल परिवार का विचार एक नए उभरते समाजशास्त्र के रूप में देखा जा सकता है। यहां भाषा, संस्कृति, रहन-सहन, जीवन दृष्टि और सर्वोपरि सुविधाभोगिता ने अकसर आंसुओं के खारे पानी के मोल को मजबूरियों के आवरण में नीलाम करने में जरा भी संकोच नहीं किया। ऐसा ही कुछ पराये देश, पराई भाषा, पराये परिवेश, पराये लोगों के बीच रंगभेद, नागरिकता, सम्पन्नता, अभिजात्य जैसी दीवारों के सहारे भेद-भाव पूर्ण व्यवहार के बीच पनपता कसकने-करकने लगा। फिर चाहें दूरी दस-बीस, सौ-दो-सौ किलोमीटर की हो या भूभाग के बीच में महासागरों की दूरी हो- कम-ओ-बेश चिंता का विषय नई पीढ़ी के आचरण व बदलते तेवर ही मुख्य रूप से रहे। बस केंद्र में नज़रिये का भेद प्रमुख रहा। युग चाहे प्रेमचंद का हो, या आजादी के बाद के विदेश-पलायन का हो, आधुनिक सूचना प्रौद्योगिकी के विस्तार से उपजी विपुल संभावनाओं का हो- समस्या यही है कि स्वयं के पलायन के समय अपने जीवन सच से जिस तरह नाथ तुड़ा कर भाग खड़े हुए, अब अपनी पीढ़ी को भागते देख पसीना आना स्वाभाविक है।

इसका एक मिलता-जुलता रूप अपने देश में भी आजादी के बाद नए उभरते महानगर में आजीविका की तलाश में गांव से आई पीढ़ी के सामने भी यही संघर्षपूर्ण स्थितियां थीं।

संग्रह की कहानी 'क्यों...' इसी सच को सामने रखती है। 'वे पछताते थे, क्योंकि बहुत साल पहले वे भारत नहीं लौट सके थे और ब्रिटेन की गंदी संस्कृति से अपने बच्चों को नहीं बचा पाए थे? काश, जब वे एक स्तरीय भौतिक जीवन की लालसा में भारत से बाहर इंग्लैण्ड में भाग्य आजमाने के भाव से, कूपमण्डूकता के सोच से बाहर, स्वयं अपने माता-पिता की स्नेहिल भावुकता से पल्ला छुड़ाकर भाग आए थे, तब इतना कुछ सोच पाते? ...उन माता-पिता के आंसुओं का खारापन कुछ तो अपराधबोध-सा चिपक कर साथ चला आया था, जो अपनी संतति के साथ उत्तर-आधुनिक टैबू विहीन दृष्टिकोण के सामने पुरानी दीवार की पपड़ी सा उघड़ने-उतरने लगा था...। कितना नंगा हो जाता है आदमी अपनी सोच और नज़रिए की कोटर में। प्रेमप्रकाश इसी गुंजलक में फंसा एक निरीह पिता- अपने लालन-पालन में बच्चों के प्रति सही तवज्जुह में 'कहां कमी रह गई' पर विचार करता बे-चारा-सा होकर

रह जाने को अभिशप्त हो जाता है। कहने को यह पराये देश की संस्कृति का परिणाम है, मगर एक तरह से ये कम-ओ-बेश नए बदलते मूल्यों के आलोक में अपने समय की खुशफहमी की वे जकड़नें हैं, जिनमें त्रस्त पीढ़ी अपने आगे आने वाली पीढ़ी की बदचलनी से तो हतप्रभ है ही पर अपनी पूर्व पीढ़ी के प्रति अपने आचरण पर अब भी विचार करने को तैयार नहीं। संवेदना और विचार का यह बिंदु यहां अपनी विवेचना में बिल्कुल नदारद नहीं तो उपेक्षित अवश्य रह गया है।

खण्डर और स्टुपिड का संजय पुरुष मानसिकता का शिकार स्त्री में मनोनुकूलता और अभिरुचि-साम्य की उपयुक्त तलाश में जीवन-सहभाव के पक्ष में विचार करने को कतई तैयार नहीं। उसकी झुंझलाहट अहमन्यता-संत्रस्त एवं एक फ्रस्ट्रेटेड आदमी की दास्तान है। एक सामान्य सुखी जीवन के लिए लंबे पांव फैलाने से कुछ हाथ नहीं आता। यह सच कबीर ने अपनी तरह से और राजकमल चौधरी ने अपनी तरह से कई बार और कई जगह बयान किया है।

देखा जाए तो महानता अपने आप में, कोई ऊपरी वस्तु नहीं, जो विरासत में मिलती है, इसे तो अर्जित किया जाता है समाज के बीच, समाज में, समाज के द्वार और अंततः यह समाज की होकर ही सुफलदायी हो पाती है क्योंकि जीवनगत विद्रूपताएं और जीवन-सुख एक ही सिक्के के दो पहलू हैं, नकारात्मक एवं सकारात्मक सवाल हैं। लेखक इन्हें दर्शा कर भी, स्वयं कहां खड़ा है? क्या वह मार्मिक पक्ष का सही चिंतक बनकर सामने आया है या गुंजलकों के बीच अस्पष्ट रास्तों पर हाथ पैर मार रहा है? यह सवाल भी मौजूद है, इसे नकारा नहीं जा सकता। असल में अटका हुआ पानी की अधिकांश कहानियां जीवनानुभव की एक ऐसी पीढ़ीगत अभिव्यक्ति के रूप में देखी जा सकती हैं जो एक समय विशेष में, एक खास रौ में बहने के लिए तेज धारा में तो शामिल हो जाते हैं तैरकर नदी पार करने के प्रलोभन में मगर उस पानी की ठण्डक, तेज बहाव और सिरा मिलने के अनिश्चय की भंवर में डूबते उतरते मोह-भंग की दशा में इधर के रहे नहीं, उधर के हो न सके, की मनोदशा में त्रिशंकु बने रहने को विवश हो जाते हैं।

याद आती है अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' जी की बचपन में पढ़ी कविता 'एक बूंद'

ज्यों निकलकर बादलों की गोद से, थी अभी एक बूंद कुछ आगे बढ़ी,

सोचने फिर-फिर यही जी में लगी, आह! क्यों घर छोड़कर मैं यूं कढ़ी

शायद कोई भाग्यशाली बूंद ही सीप के मुंह में जाकर मोती बन पाती है वरना तो मीठे जल की बूंद समुद्र में गिरकर खारी हो जाने, विलीन हो जाने को ही अभिशप्त होती है।

यहां यह तो तय है कि गौतम सचदेव की ये कहानियां विदेशों में जाकर बसने और अपना जीवन स्तर सुधारने की मंशा लिए प्रस्थान किए उस वर्ग की आंतरिक व्यथा को सामने रखती हैं, यहां कम पढ़े-लिखे, अकुशल कामगारों की तो चर्चा क्या, संभ्रांत और शिक्षित वर्ग के लोग भी- यथा डॉक्टर, शिक्षक, अभियंता, कलाकार और जनसंचार माध्यम से जुड़े लोग भी, जिन्हें वहां अच्छी सफलता भी मिली है, आखिर तक भी एट-होम फील नहीं कर पाने की लाचारी झेलते, मिस-फिट से सांप-छछूंदर की-सी दशा में आ गिरते, जैसे न खुदा ही मिला, न विसाले सनम। यह पश्चातापी मनोदशा किसी उपचार के अभाव में भीतरी बाहरी समस्याओं को विरासत की तरह ढोते, ऐसे लोगों को अंततः भ्रम में जीने को अभिशप्त कहीं का भी नहीं छोड़ती। चंद सिक्के, थोड़ी बहुत जमीन, अभिजात्य जीवन स्तर...यही तो कुल मांग नहीं है जीवन की। आखिर चैन की सांस, पारस्परिकता, स्वच्छंद उल्लास, बेलौस खिलखिलाहट जिस जीवन-सुख के परिचायक हैं, वह आस-विश्वास तो बिखर कर ही रह जाता है। अब चाहें 'कच्ची गिरियां' की अस्मिता हो, 'पार्टनर वही क्यों' की सुरेखा हो, या एकलव्य का 'मैन बैंड अ' हो जिसे बिना जैण्डर का कहते हुए केविन ने उपहासस्पद ही नहीं बल्कि संघर्षी गुफा के अंधेरों में ढकेल दिया। लगता रहा है कि जैण्डर मैस्कुलिन हो या फैमिनिन का सवाल न्यूटर बिंदु पर अधिक त्रासद हो जाता है अस्मिता के पाले में आकर।

अब मैं एक दूसरे सवाल पर आता हूं- जो 'ब्रह्मा की दूसरी बेटी' से उभरता है। दो बेटियों की मां- पत्नी रूप में अपने पति से वियुक्त होकर (तलाक या वैधव्य कारण कोई भी क्यों न हो) जिस पुरुष का हाथ पकड़ती है, वह उसकी बेटियों का सही पिता हो पाएगा? यह विचार उसके मन में लेशमात्र भी कौंधता है? कहानी इस पर मौन है। तो फिर निम्मी हो या शिम्मी- अपनी-अपनी अबोधता के दौर के बाद संज्ञान हो जाने पर नराधम के प्रति कुछ भी प्रतिक्रिया दें, उसकी अंतिम क्रिया में जाएं या न जाएं- कुरूपता का महिमा मण्डन समाज द्वारा होते चले जाने की परम्परा को ढोने की लाचारी या कम्बल उतार कर फेंक देने का दुस्साहस- कम-ओ-बेश ये मनोदशाएं फ्रॉयड के नजरिए से आदमी की तथाकथित कमजोरियां हैं। इन्हें मनीप्रेशर के जरिए ग्लोरिफाई करने की सुविधा भोगी प्रवृत्ति से हाईलाइट नहीं करना चाहिए- ऐसे आदमी को आत्महत्या का मौका भी क्यों मिले? विचारणीय बिंदु है कि परम्परा से विद्रोह

परम्परा को ढोकर तो कतई नहीं किया जा सकता। रचनात्मकता के लिए ऐसे बहुत से पक्ष हैं जो गौतम सचदेव की संवदेना को मूल चिंतन के धरातल से सरका देते हैं लेकिन उनकी ईमानदारी पर सवाल कर पाना गैरवाजिब है और इसका उपचार या समाधान एक बड़े वैचारिक आंदोलन की मांग में पर्यवसित होने की मांग के साथ जुड़ा है। इस सामूहिक समस्या से दर-गुजर होने के लिए गवाक्ष खुले हैं, लक्ष्य संधान की दरकार है- यह सारा शाब्दिक व्यायाम समाज-संस्कृतिजन्य मूल्यवादी भाव-दृष्टि सम्पन्न पक्ष का संकेत कर रहा है। देखें ऊंट किस करवट बैठता है? मगर यह तय है- सचेतन समाज-दृष्टि की अपेक्षा का सवाल हवा में सांस लेने के लिए प्रत्यक्ष पक्ष के रूप में सामने है- इसी के बीच निकलेगी कोई राह और अटका हुआ पानी शायद कोई सिरा पा जाए? कहीं भी पोली जमीन उसकी दिशा व दशा पाने के कारगर हथियार हो सकती है। एक संभावना है और संभावना सदैव ही जीवंत पगडण्डियों के निर्माण में नींव का पत्थर बनकर उभरी है- और यह पानी विदेशी जमीन के मामले में ही नहीं अटका है, यहां अपने ही देश में गांव से शहर आए आदमी को भी इसी पानी ने भरमाया है। और आदमी अभी-भी इस पानी के खारीपन से जूझता दिखाई दे जाता है। कह कुछ नहीं पाता, यही आज के आदमी की भी त्रासदी है और समय की भी। गौतम सचदेव ने कहानी शिल्प के माध्यम से इसी जीवन सच को अपने अनुभवों के रूप में शब्द-बद्ध करने प्रयास किया है। असल में यह बीती बुजुर्ग पीढ़ी और वर्तमान बुजुर्ग हुई पीढ़ी के बीच घटे उस संवेदन पक्ष का रीप्रिंट हैं; जहां 'लेने के धन और हैं, देने के धन और' की कहावत घटती-रिपीट होती देखी जा सकती है। लेकिन बीते समय को कोई लौटा नहीं पाता। इसे लौटा लाने वाला भाव असल में और यहां है भी नहीं। संस्कारों का सवाल भी अपने ऊपर पड़ी तो करकता लगने लगा। इस नई तथाकथित विदेशों में बुजुर्ग हुई पीढ़ी का यह दर्द पलायनवादिता के दुष्प्रभाव के रूप में उभर कर चसकन का अहसास कराता है। पर यह भी जीवन सच है और इसे इस तरह के मूल्यगत सवाल के रूप में तथाकथित उत्तर-आधुनिकता के दौर में स्वस्थ परंपरा की अपेक्षा के रूप में तो देखा ही जा सकता है। इसके लिए लेखक निश्चय ही बधाई के पात्र हैं।

अटका हुआ पानी तथा अन्य कहानियां गौतम सचदेव; उपासना पब्लिकेशन, दिल्ली; प्रथम संस्करण : 2009; मूल्य : 250 रु.।

161, कादंबरी सै.-9, रोहिणी
दिल्ली-110035

प्राप्ति स्वीकार

1. इस शहर में (गज़ल-संग्रह), रमेश प्रसून, प्रकाशक- अमित प्रकाशन, कविनगर, गाजियाबाद
2. अलाव जल रहा है (कविता-संग्रह), वसन्त कुमार परिहार, प्रकाशन - आकार प्रकाशन, पत्रकार कॉलोनी अहमदाबाद
3. बरहा (कविता संग्रह), सुदर्शन प्रियदर्शिनी, प्रकाशन - वाणी प्रकाशन, अंसारी रोड, दिल्ली
4. यूं ही कह दिया होगा (कहानी-संग्रह), मनोहर पुरी, प्रकाशक- इण्टरनेशनल पब्लिशिंग कॉर्पोरेशन, नयी दिल्ली-8
5. प्रियकांत (उपन्यास), प्रताप सहगल, प्रकाशक- किताबघर प्रकाशन, दरियागंज, दिल्ली
6. फैसले (नाटक), रमा पाण्डेय, प्रकाशक - मंजुली प्रकाशन, सरोजनी नगर, नयी दिल्ली
7. हत्यारे (कहानी-संग्रह), सुशांत सुप्रिय, प्रकाशक - नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज, दिल्ली
8. अक्स (हाइकु), मनोज सोनकर, प्रकाशक-अयन प्रकाशन, महरौली, नयी दिल्ली
9. सुन्दर कविराय ग्रन्थावली, सम्पादन- डॉ. रामानन्द शर्मा, प्रकाशक- लोकवाणही संस्थान, बजीराबाद रोड, दिल्ली-93
10. अन्दर की आग और बर्फ का फूल (कविताएं), चन्द्रमणि रघुवंशी, प्रकाशक-अयन प्रकाशन, महरौली, नयी दिल्ली
11. अभिशप्त पुष्प (उपन्यास), कृष्णा श्रीवास्तव, प्रकाशक- मेघ प्रकाशन, दरीबा कलां, दिल्ली-6
12. कार की खेती (उपन्यास), मुहम्मद इसराईल अंसारी, प्रकाशक- अनिल प्रकाशन, अलोपीबाग कॉलोनी, इलाहाबाद
13. मन की घंटियां (उपन्यास), हरदर्शन सहगल, प्रकाशन-सात्विक साहित्य संस्थान, दिल्ली-9
14. उदयनाथ कवीन्द्र ग्रंथावली, संपादन - डॉ. रामानन्द शर्मा, प्रकाशक - लोकहित प्रकाशक, शाहदरा, दिल्ली
15. संक्षिप्त नामधारी इतिहास, तारासिंह अनजान, आरसी पब्लिकेशन, चांदनी चौक, दिल्ली-6
16. समय के हस्ताक्षर (निबन्ध-संग्रह), सत्येन्द्र चतुर्वेदी, प्रकाशक- रचना प्रकाशन, जयपुर
17. रेत के घर (उपन्यास), सुदर्शन प्रियदर्शिनी, प्रकाशक- मित्तल एण्ड सन्स, दिल्ली-92
18. जलाक (उपन्यास), सुदर्शन प्रियदर्शिनी, प्रकाशक-आधारशिला प्रकाशन, हल्द्वानी
19. काले पृष्ठों पर उकरे शब्द (कविता-संग्रह), मोहन सपरा, प्रकाशक- आस्था प्रकाशन, जालन्धर
20. कहानी कोई सुनाओ मिताशा (उपन्यास), सादिका नवाब 'सहर', प्रकाशक - नीरज बुक सेण्टर, दिल्ली-92
21. रोमनिया यात्रा की डायरी, डॉ. सियाराम तिवारी, प्रकाशक- गुजरात प्रान्तीय राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, अहमदाबाद

अनिल कुमार

प्रेम की विशद व्याख्या

रीतिकालीन कवि घनानन्द और छायावादी कवि जयशंकर प्रसाद दोनों ही के काव्य में व्याप्त प्रेम और सौंदर्य भावना ने पाठकों को सदैव रससिक्त किया है। इन दोनों कवियों के काव्य का मूल भाव एक ही होने के कारण सम्भव है कि घनानन्द के काव्य का जहां प्रसाद पर प्रभाव पड़ा होगा, वहीं घनानन्द के काव्य में भी छायावाद युग के बीज समाहित रहे होंगे। प्रेम हृदय की वस्तु है, अनुभूति की प्रक्रिया है, वह उदात्त भावना का परिचायक है। किसी भी व्यक्ति या वस्तु के प्रति उत्पन्न प्रेम उसके सौंदर्य में निहित है और सौन्दर्य में आकर्षण निहित है। जो वस्तु हमें जितनी अधिक आकर्षक लगेगी संभव है वह सुंदर है और प्रिय भी। इस प्रकार प्रेम और सौंदर्य बाह्य कारक नहीं हैं, वरन् इनका संबंध तो अंतर्मन से है।

प्रेम की पीर तो सभी रीतिकालीन कवियों में थी। घनानंद के प्रेम में जो पागलपन था, अनुभूति की सच्चाई थी, प्रेमी के लिए तड़प थी वह अन्य रीतिकालीन कवियों में कहां? घनानंद की स्वच्छन्दतामूलक प्रवृत्ति उसे वासना के गर्त में नहीं ले जाती, वरन् प्रेम की उच्च एवं स्वभाविक भूमि पर ले चलने में सहायक होती है। रीतिकालीन अन्य कवियों से साम्य होते हुए भी घनानंद की कविता में व्यापक रचना दृष्टि, हृदय की पीड़ा की विशालता, तन्मयता, आध्यात्मिक झलक, अभिव्यंजना की अद्भुत शक्ति और प्रेम की गहनता गौरवपूर्ण पद पर प्रतिष्ठित करती है। पवित्र प्रेम के कारण कवि अपनी कविता को चिरंतन, शाश्वत रूप प्रदान करना चाहते हैं। इनकी कविता न केवल हृदय वरन् आत्मा को भी शाश्वत आनंद प्रदान करने में सक्षम है। यह क्षमता अन्य किसी रीतिकालीन कवि के काव्य में नहीं है जो पाठक की आत्मा को आंदोलित एवं आलोकित कर सके। घनानंद ने समकालीन मति राम, विहारी, पद्माकर, देव आदि कवियों के प्रेम के स्थूल वर्णन को इतनी चरम सीमा तक पहुंचा दिया कि उसके बाद कोई और रास्ता दृष्टिगोचर नहीं होता था। ये कवि केवल उक्तिवैचित्र्य, भाषा-खिलवाड़, अलंकार, छंद योजना आदि की परिधि में सीमित रहे। इन सबसे अलग मार्ग का चयन कर घनानंद ने प्रेमी हृदय के अंतर की आवाज को सुना और यथातथ्य रूप में उसे कविता का विषय बना लिया। यही अपने युग रीतिकाल को उसकी महान देन थी।

दूसरी तरफ प्रसाद के आगमन से हिंदी साहित्य को नयी दिशा मिली, उसे नये क्षितिज के दर्शन हुए। इनके काव्य का प्रस्थान बिंदु भारतेन्दु युग तथा द्विवेदी युगीन प्रवृत्तियां थीं, पर इन्होंने उसे एक ऐसे बिंदु की ओर अग्रसर किया जो हिंदी काव्य के लिए नया ही न था, सद्य सौरभ से सुरभित और आह्लादकारी भी था। भाव-जगत में स्वच्छंद और नवीन भावनाओं का संचरण कर तथा कला के क्षेत्र में मौलिक उद्भावना कर, इन्होंने हिंदी काव्य को नवीन मार्ग दिखलाया, उसमें नवस्फूर्ति तथा नवस्पंदन-संयुक्त प्राणों की प्रतिष्ठा की। प्रसाद का छायावाद को प्रदेय प्रेम, सौंदर्य और श्रृंगार के क्षेत्र में भी अविस्मरणीय रहा है। इनसे पूर्व साहित्य में जहां एक ओर प्रेम को नैतिकता और आदर्श में बांधा जा रहा था, वहीं रीतिकाल द्वारा उसका स्थूल, ऐन्द्रिय, मांसल प्रेम और श्रृंगार परक सृजन हो रहा था। प्रसाद ने इन दोनों में से न तो कायिक प्रेम को महत्ता दी और न ही सैद्धान्तिक आदर्शवादी प्रेम को जिसका कि वास्तविक जीवन में कोई महत्व नहीं था। इन्होंने तो हिंदी साहित्य में प्रथम बार आंतरिक प्रेम और सौंदर्य की अवतारणा की, जिसमें स्वस्थ कायिक प्रेम और आत्मिक प्रेम का समन्वय था। प्रसाद के इस प्रेम में वासना और कामना का परित्याग कर शुद्ध सरल भावनाओं वाले प्रेम को अपनाने का आग्रह था। इन्होंने वैयक्तिक और रूपाश्रित प्रेम का तिरस्कार कर उसे अधिक व्यापक और आत्मिक धरातल पर पहुंचाने का प्रयास किया। प्रेम को ही ईश्वर और उसके साक्षात्कार को ही ईश्वर का साक्षात्कार कहकर इन्होंने उसे विश्वात्मक कोटि तक पहुंचा दिया।

प्रस्तुत कृति 'घनानन्द और प्रसाद के काव्य में प्रेम और सौन्दर्य को लेखिका मंजु शर्मा ने पांच अध्यायों में विभक्त कर दोनों के प्रेम और सौंदर्य विषयक दृष्टिकोण पर सूक्ष्मता से विचार किया है। घनानंद और प्रसाद के काव्य में रुचि रखने वालों को यह कृति प्रेरणा देने में सहायक सिद्ध होगी।

घनानन्द और प्रसाद के काव्य में प्रेम और सौन्दर्य, : डॉ. मंजु शर्मा' प्रकाशक - ज्योति इण्टर प्राइजिज़, 5825/7, न्यू चन्द्रावल, जवाहर नगर, दिल्ली-110007; मूल्य : 450/- रुपए

एच-3/72, विकासपुरी, नयी दिल्ली-110018

सुरेन्द्र तिवारी

भारत से बाहर हिंदी पत्रिकाएं

हिंदी का प्रचार-प्रसार आज विश्व स्तर पर हो रहा है, अनेक देशों में हिंदी के प्रति लोगों का रुझान बढ़ा है, इस बात को वे पत्रिकाएं प्रमाणित करती हैं जो विदेशों से प्रकाशित हो रही हैं। मॉरीशस में तो विश्व हिंदी सचिवालय ही बना है और यहां से 'विश्व हिंदी पत्रिका' (प्रधान संपादक - विनोद बाला अरुण, स्विफ्ट लेन, फारेस्ट साइड, मॉरीशस) का प्रकाशन शुरू हुआ है। वार्षिक रूप से प्रकाशित होने वाली इस पत्रिका का पहला अंक 'विश्व हिंदी पत्रिका 2009' है, जिसमें 45 लेखकों के आलेख हैं जो विभिन्न देशों की हिंदी की स्थिति का एक चित्र प्रस्तुत करते हैं। चूंकि पत्रिका-प्रकाशन के पीछे एक विशेष दृष्टि है अतः रचनाओं का चयन और क्रम भी उसी दृष्टि के अनुरूप है। सम्पादकीय मत के अनुसार "रचनाओं के क्रम निर्धारण में पहला स्थान मॉरीशस और दूसरा भारत को दिया गया क्योंकि सचिवालय मॉरीशस में स्थापित है और भारत से बाहर हिंदी की स्थिति सबसे प्रबल यहीं है। इसके बाद भारत में हिंदी की स्थिति पर आलेख है, क्योंकि भारत हिंदी का आदिधाम है।"

इन दोनों देशों के अतिरिक्त फीजी, सूरीनाम, गयाना त्रिनिडाड एंड टोबैगो तथा दक्षिण अफ्रीका में हिन्दी की स्थिति पर विशेष आलेख हैं क्योंकि ये वे देश हैं जहां 19वीं शताब्दी में भारतीय मजदूर गन्ने के खेतों में काम करने गए थे और बाद में वहीं बस गए। इन देशों में बसे भारतीय अपनी भाषा एवं संस्कृति से गहराई से जुड़े रहने के लिए आज भी सतत प्रयत्नशील हैं। इसके अलावा चीन, रूस, जापान, अमेरिका, कनाडा, फ्रांस, जर्मनी, इटली, बल्गारिया, डेनमार्क, नार्वे, पोलैंड, रोमानिया, हंगरी, नीदरलैंड आदि अनेक देशों में हिंदी की क्या स्थिति है, इस पर अलग-अलग लेखों को इस अंक में संजोया गया है, और इस तरह पूरे विश्व में हिंदी की स्थिति क्या है, साधारणजन में वह कितनी लोकप्रिय है, कई जगह शिक्षा का किस तरह माध्यम बनी है, यह सब इस अंक से जाना-समझा जा सकता है। विदेशों में हिंदी शिक्षण में जो कठिनाइयां हैं उनका उल्लेख भी कई लेखकों ने किया है। यहां, उदाहणास्वरूप, हरजेन्द्र चौधरी के लेख की मैं चर्चा करूंगा। वे एक जगह कहते हैं- "पुल्लिंग-स्त्रीलिंग शब्दों को अलग करते समय पोलिश विद्यार्थी प्रायः उलझ जाते थे। हिंदी में अधिकतर आकारांत शब्द पुल्लिंग और ईकारांत शब्द स्त्रीलिंग होने के कारण उन्हें कठिनाई होती थी। पोलिश में तो नामों और पारिवारिक नामों तक के 'आकारांत' शब्द स्त्रीलिंग और ईकारांत शब्द पुल्लिंग होते हैं। 'विलानोवस्का' स्त्रीलिंग उपनाम है जबकि 'विलानोवस्की' पुल्लिंग उपनाम है।" इस संदर्भ में 'पोलैंड में हिंदी अध्ययन-अध्यापन : अतीत और वर्तमान', 'नीदरलैंड में हिंदी भाषा और भारतीय संस्कृति', 'श्रीलंका में हिंदी अध्ययन तथा अध्यापन', 'विदेशों में हिंदी के अध्ययन की समस्याएं', 'जमैका में हिंदी प्रशिक्षण के नए प्रयोग' आदि लेख अवश्य पठनीय हैं। निश्चित रूप से 'विश्व हिंदी पत्रिका' ने वैश्विक दृष्टि से हिंदी की महत्ता को स्थापित करने की कोशिश की है जो एक स्तुत्य प्रयास है।

हिंदी के प्रचार-प्रसार की दृष्टि से अमेरिका से प्रकाशित दो पत्रिकाएं भी हमारा ध्यान खींचती हैं। गत छब्बीस वर्षों से प्रकाशित हो रही 'विश्वा' (प्रधान संपादक, रवि प्रकाश सिंह, संपादक रेणु गुप्ता, 6070 इग्लेट, वेस्ट चेस्टर, ओ एच 45069) अमेरिका में रह रहे हिंदी लेखकों को प्रकाश में लाने का लगातार प्रयास करती रही है। इसी तरह विश्व हिंदी न्यास की त्रैमासिक पत्रिका 'हिंदी जगत' (सं. सुरेश ऋतुपर्ण, 54, पैरी हिल रोड, ऑसवीगो, न्यूयार्क-13126, यू.एस.ए.) ने प्रकाशन के ग्यारहवें वर्ष में प्रवेश किया है। आकर्षक साज-सज्जा एवं रंगरूप में प्रकाशित यह पत्रिका सिर्फ हिंदी का प्रचारात्मक कार्य नहीं कर रही है बल्कि साहित्य की श्रीवृद्धि से भी जुड़ी हुई है। अमेरिकी लेखकों के साथ ही इसे भारतीय हिंदी रचनाकारों का सहयोग भी प्राप्त है। निश्चित रूप से ये पत्रिकाएं एक विशेष दृष्टि से प्रकाशित होती हैं– अप्रवासी लेखकों की रचनात्मकता से विश्व को परिचित कराना इनका उद्देश्य होता है, और अपने उद्देश्य में ये सफल हैं, इतना तो तय है।

हिंदी में लगातार नई पत्रिकाएं सामने आ रही हैं, भले ही अल्पावधि के लिए ही उनका प्रकाशन होता हो, परन्तु लघु पत्रिकाओं के भविष्य के लिए यह शुभ लक्षण ही है। इसी क्रम में दिल्ली से एक नई पत्रिका 'रचना क्रम' (संपादक : अशोक मिश्र, पॉकेट डी-1/104-डी, डीडीए फ्लैट्स, कोंडली, दिल्ली-96) का प्रकाशन शुरू हुआ है। इसके प्रथमांक के अतिथि संपादक हैं ओम भारती और ओम भारती अपने संपादकीय में जहां इस बात को स्वीकारते हैं कि 'रचना क्रम'

का प्रकाशन एक दुस्साइस भरा कार्य है, वहीं वे यह भी कहते हैं- ''हमारी भाषा के साहित्य का दिगंत इतना विस्तीर्ण हो चुका है कि विश्व साहित्य के बरक्स या बराबर में वह डटकर खड़ा है। मगर इधर के दो दशकों में हमारे देश तथा दुनिया में जो दुर्दिन उमड़कर आए हैं, जैसे हालात बने हैं, उन्होंने एक नहीं अनेक 'रचना क्रम' वांछनीय, बल्कि अपरिहार्य कर दिए हैं।'' मतलब यह कि प्रकाशक-संपादक के पास पत्रिका प्रकाशन का एक उचित कारण है, सोच है, दृष्टि है। यही नहीं, प्रथम अंक में ही विशिष्ट और युवा रचनाकारों की जो रचनाएं हैं, प्रभावशाली हैं, मात्र भर्ती की नहीं। रवीन्द्र कालिया, पुन्नी सिंह, हनुमंत मनगटे, सुवोध कुमार श्रीवास्तव, कुमार अंबुज, विनोद कुमार शुक्ल, भगवत रावत, विष्णु नागर, लीलाधर मंडलोई, विष्णु खरे, चन्द्रकांत देवताले आदि वरिष्ठ रचनाकारों की रचनाओं के साथ ही कई अन्य चर्चित लेखकों की रचनाओं को एक साथ पढ़ना सुखकर है। नामवर सिंह का व्याख्यान और अरुंधति राय से भगवत रावत की बातचीत उल्लेखनीय है। निश्चित रूप से इस तरह की दृष्टिसम्पन्न पत्रिका का स्वागत हिंदी समाज करेगा ही।

भाषा, साहित्य, संस्कृति और शोध को एकसाथ समेटने वाली त्रैमासिक पत्रिका 'सहृदय' (सं. पूरनचंद टंडन, डी-67 शुभम् एन्क्लेव, पश्चिम विहार, नई दिल्ली-63) का प्रकाशन की कुछ समय पहले ही शुरू हुआ है। इस पत्रिका में हर तरह की रचना देने के लोभ में संपादक इसे कोई निश्चित स्वरूप देने में अभी सफल नहीं हैं, किंतु इसे एक गंभीर पत्रिका के रूप में स्थापित करने की कोशिश जरूर है। अंक तीन में संपादकीय 'कमी पाठकों की नहीं है' में कई प्रश्न उभरकर सामने आते हैं, जिन पर विचार करना आवश्यक है। यह बिलकुल सच है कि ''जब से उपभोक्ता सभ्यता का अप्रतिम विस्तार होता गया, पुस्तकें खुद-ब-खुद बेदखल होती गईं।..बाजार चाहता है कि संवेदना, कल्पना, सर्जना, संवाद धीरे-धीरे सुस्त पड़कर लुप्त हो जाएं।'' वैचारिक पत्रिकाओं की दुनिया में 'सहृदय' अपनी पहचान बना सके, इसके लिए आवश्यक है कि कुछ निर्मम होकर रचनाओं का चयन किया जाए।

बी-3/76, सेक्टर-16, रोहिणी, नई दिल्ली-110089

व्यंग्य

चक्राचक्र

आ अब लौट चलें

बिहारी लाल जी बड़े उल्लसित स्वर में बोले–"अच्छा हुआ, जसवंत सिंह जी भारतीय जनता पार्टी में लौट आए। मुहावरा है न सुबह का भूला शाम को घर लौट आए तो उसे भूला नहीं कहते।"

मैंने कहा–'एक और मुहावरा है–लौट के बुद्धू घर को आए।'

बिहारी लाल जी ठहाका लगाकर हँसे। फिर गंभीर हो गए–"एक बात बताओ, हमारी सांस्कृतिक परंपरा में व्यक्ति जा और फिर लौट आने का कितना महत्व है? क्या इस पर कोई शोध कार्य हुआ है?"

मैंने कहा–"पंडित जी, वैसे तो हिन्दी में इस विषय पर भी शोध कार्य हो रहा है कि प्रेमचंद की नाक कितनी लम्बी थी और उसकी बनावट पर मंगोल संस्कृति का कितना प्रभाव था। लेकिन मुझे यह याद नहीं आता कि इस विषय पर कोई शोध कार्य हुआ है कि नहीं?"

बिहारी लाल जी बोले–"हमारे लोक गीतों में परदेश जाने, विदेश जाने वाले प्रीतम का कितना चित्रण हुआ है। 'बिदेसिया' को लेकर हमारे लोकगीतों में एक विशेष शैली का विकास हुआ है।"

मैं सोचने लगा, बिहारी लाल जी कितनी महत्वपूर्ण बात कर रहे हैं। सचमुच यह शोध का विषय है।

मैंने कहा–"पंडित जी, लोकगीतों के साथ ही फिल्मी गीतों को भी शामिल करना चाहिए। बलम के जाने पर आंसू बहाने और उसके लौटने की आरजू करने के बगैर न कोई गाना पूरा होता है, न फिल्म पूरी होती है।"

बिहारी लाल जी गुनगुनाने लगे–ओ जाने वाले बालमवा, लौट के आ...लौट के आ...।

मैंने कहा–"पंडित जी, जाने वाला बालम लौट कर आता है कि नहीं, मैं नहीं जानता, पर जाने वाला लीडर जरूर लौट आता है। तुमको और नहीं, मुझको ठौर नहीं की तर्ज़ पर।"

उन्होंने आँखें गड़ा दीं–"सुना है, उमा भारती भी भाजपा में लौट रही हैं।"

मैंने बड़े विश्वांस से कहा–"असंभव...।"
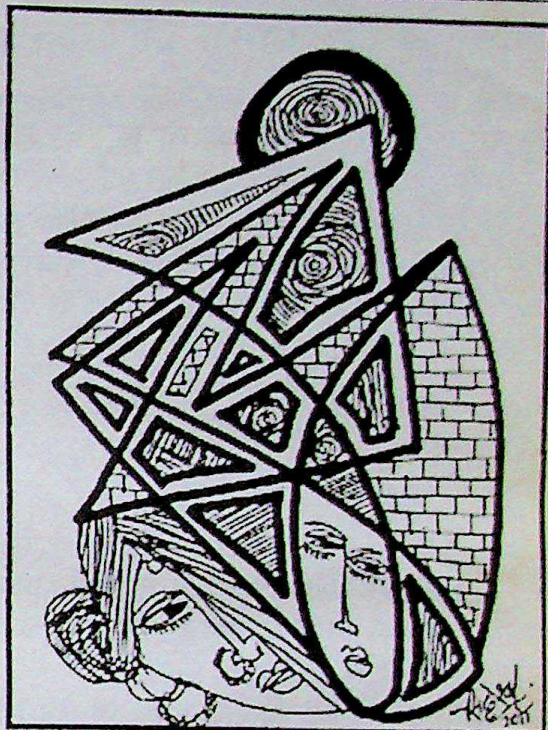
उनकी भौंहें चढ़ गईं–"असंभव क्यों ?"

"इसलिए कि एक तो उन्होंने अपनी नई पार्टी बना ली है और उनका विश्वास है, अगर कांग्रेस से टूटकर ममता बनर्जी तृणमूल कांग्रेस बनां सकती हैं और पश्चिमी बंगाल में अपना डंका बजवा सकती हैं तो मैं मध्य प्रदेश में ऐसा क्यों नहीं कर सकतीं...''

मैंने बीच में टोक कर कहा–"पंडित जी, ममता दीदी का लोहा तो मानना पड़ेगा। उन्होंने अपने राज्य में तीन दशकों से जमी हुई वामपंथी सरकार की चूलें हिला दी हैं...। वहां की अगली मुख्यमंत्री वही बनेंगी।"

बिहारी लाल जी पान–मसाला चुभलाते हुए बोले–"तुमने ठीक नब्ज़ पकड़ी है। उमा जी तो मध्य प्रदेश की मुख्यमंत्री थी हीं। उन्हीं के दम का जहूरा था कि मध्य प्रदेश में वर्षों से जमी हुई कांग्रेसी सरकार बर्फ की सिल्ली की तरह पिघल गई और भाजपा की सरकार आ गई...।''

मैंने कहा–"पंडित जी, कुछ दिन पहले मुझे डाक से 16 पन्नों की एक पुस्तिका मिली थी। कवर पेज़ पर दोनों हाथ ऊपर उठाए उमा भारती का चित्र था–"शीर्षक

था–अन्याय क्यों? जवाब चाहिए।"

"क्या था उस पुस्तिका में ?"

मैंने कहा–"आपको मालूम है कि अभी उन्हें मुख्यमंत्री बने साल भर भी नहीं हुआ था कि किसी बिल्कुल छोटे–से मामले पर उन्होंने अपने पद से त्यागपत्र दे दिया था। कुछ समय बाद ही वह दोषमुक्त घोषित कर दी गई थीं। उन्हें आशा थी कि उन्हें फिर से मुख्यमंत्री की कुर्सी पर सम्मान से बैठा दिया जाएगा। पर ऐसा नहीं हुआ। खाली कुर्सी पर कोई और बैठ गया...।"

मैंने कहा–"दिल्ली में मदन लाल खुराना के साथ भी तो ऐसा ही हुआ था।"

बिहारी लाल जी बोले–"राजनीति में कुर्सी की महिमा अपरंपार है। उस पर बैठा हुआ व्यक्ति यदि दो मिनट के लिए उठकर टॉयलेट जाता है तो झटपट कोई दूसरा आकर बैठ जाता है। टॉयलेट से लौटकर आया व्यक्ति कहता है–भैया मैं आ गया हूँ... तुम मेरी कुर्सी से उठ जाओ। कुर्सी पर कब्जा जमाए व्यक्ति कहता है–कुर्सी क्या तेरे बाप की है? इस पर जो बैठा वही मुख्यमंत्री है...। कुर्सी जाने के ग़म में बौखलाई हुई उमा भारती ने झण्डा उठाया और राम, रोटी का नारा लगाते हुए अयोध्या की ओर चल पड़ीं।"

फिर वे कुछ सोचते हुए बोले–"लेकिन मुझे आशा है कि थोड़ी सी मान–मनौवल के बाद वे पार्टी में वापस आ जाएंगी।"

मैं एक गाने के बोल गुनगुनाने लगा–आ लौट के आजा मेरे मीत –तुझे मेरे गीत बुलाते हैं।

मैं बोला–"पंडित जी कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो जाते हैं, लौट के आते हैं, फिर जाते हैं, फिर लौटते हैं और एक दिन देवानंद की तरह यह गाते हुए–एक घर बनाऊँगा तेरे घर के सामने–जिसे छोड़ कर आए हैं, उसी के सामने अपना घर बना लेते हैं। न जाने का झगड़ा न लौटने का झंझट।"

"मैं समझ गया," वे मंद–मंद मुस्कुराते हुए बोले–"शरद पवार की बात कर रहे हो?"

"आप ही देखिए...।" मैंने कहा–"पवार साहब ने कितनी बार अपनी पार्टी छोड़ी, कितनी बार वापस आए। पिछली बार वे कांग्रेस से इस मुद्दे पर निकले कि उनके अंदर का राष्ट्रवाद हिलोरें लेने लगा था। उन्होंने भीष्म पितामह की भाँति प्रतिज्ञा की कि वे किसी भी मूल्य पर एक विदेशी मूल की महिला को देश की बागडोर नहीं सौंपेंगे। उन्हें लगा कि जिस पार्टी में वे हैं, वह अराष्ट्रवादी है इसलिए उन्होंने अलग राष्ट्रवादी पार्टी बना ली। कुछ दिन बाद उन्हें लगा कि फैसला ठीक नहीं हुआ। इस अराष्ट्रवाद और राष्ट्रवाद के चक्कर में प्रधानमंत्री की कुर्सी तो आकाश में टिमटिमाते एक धूमिल तारे की तरह हो गई है। इस तरह रुठने–रुठाने में तो केन्द्र में मंत्री पद भी हाथ से जाता रहेगा। अपने मित्रों से उन्होंने सलाह–मशवरा किया। एक मुँहफट मित्र ने कहा–"पवार साहब, अगर आप कांग्रेस पार्टी में लौटते हैं तो बड़ी भद्द होगी। जिस विदेशीमूल की महिला के कारण आपने पार्टी छोड़ी थी, वह तो आज भी वहाँ सिरमौर है।"

उसकी बात सुन कर उनकी नज़रें कुछ नीची हुईं, बोले–"उस महिला को समझने में मुझसे ग़लती हुई थी।"

उनके एक छुटभैये ने कहा–"वह महिला तो अन्तरराष्ट्रवादी है। आप अराष्ट्रवादियों के पास मत लौटिए, किन्तु अंतरराष्ट्रवाद और राष्ट्रवाद में कोई विरोध नहीं है।"

पवार साहब खुश हो गए–"मैं अंतरराष्ट्रवाद के सम्मुख अपना राष्ट्रवादी खेमा गाड़े रहूँगा। अंतरराष्ट्रवाद का यदि मुझे संरक्षण मिल जाए तो इससे मेरे राष्ट्रवाद को कोई चोट नहीं पहुँचती।"

बिहारी लाल जी गुनगुनाने लगे–एक घर बनाऊँगा .. तेरे घर के सामने...

कुछ देर तक हम दोनों चुपचाप बैठे रहे।

मैंने कहा–"पंडित जी, छोड़कर जाने में और फिर लौट आने में बड़ा मज़ा है। आइए हम भी लौट चलें।"

वे चौंके–"किसके पास?"

"ऐसा करते हैं..." मैंने कहा–"आप मुझे छोड़ दीजिए मैं कुछ दिन बहुत विह्वल होकर गाऊँगा–तुम बिन जाऊँ कहा... जाऊँ कहाँ...। आप अपने तई गाइएगा–मेरे बिछड़े हुए साथी तेरी याद सताए। फिर हम दोनों के दिलों से आवाज़ निकलेगी...

आ अब लौट चलें..."

सर्वजीत 'सर्व' लिखित दो पुस्तकों का विमोचन समारोह

उभरती कवयित्री श्रीमती सर्वजीत 'सर्व' की दो पुस्तकों का विमोचन समारोह इंडिया इंटरनेशनल सेंटर में सम्पन्न हुआ। पुस्तकें हैं : 'कुछ फूल अमलतास के...' (काव्य संग्रह) तथा 'मैं गज़ल बनूं तुम्हारी...' (गज़ल संग्रह)। मंजुली प्रकाशन द्वारा प्रकाशित दोनों पुस्तकों का विमोचन समारोह 'काव्यत्री' के सौजन्य से हुआ। इस अवसर पर डॉ. रश्मि मल्होत्रा ने कहा कि उन्हें काव्य संग्रह 'कुछ फूल अमलतास के..' इतना भाया कि एक वार पढ़ना शुरू किया तो पढ़ती ही चली गई। डॉ. महीप सिंह ने बताया कि 'सर्व' की कई कविताओं का केन्द्र बिन्दु है- 'मां' जिस पर 'सर्व' ने वहुत भावपूर्ण व मार्मिक ढंग से लिखा है। विमोचन समारोह पर मुख्य अतिथि श्री एमएम सब्बरवाल ने केवल पुस्तकों की ही सराहना नहीं की अपितु वक्ताओं द्वारा की गई समीक्षा, अर्थ व भाव की प्रशंसा किए बिना नहीं रहे।

प्रस्तुति : कमल सिंह

वरिष्ठ पत्रकार नंदकिशोर नौटियाल पर 'समावर्तन' के विशेषांक का लोकार्पण

उज्जैन से प्रकाशित 'समावर्तन' के संपादक प्रो. प्रभात कुमार भट्टाचार्य का सम्मान शनिवार, 29 मई 2010 को मुंवई में संपन्न हुआ। अवसर था वरिष्ठ पत्रकार श्री नंदकिशोर नौटियाल के पत्रकारिता में योगदान पर प्रकाशित 'समावर्तन' के विशेषांक का लोकार्पण। प्रबुद्ध दर्शकों से खचाखच भरे हिंदुस्तानी प्रचार सभा के सभागृह में मंच पर वरिष्ठ पत्रकार श्री विश्वनाथ सचदेव की अध्यक्षता में मुख्य वक्ता मुंबई विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के रीडर डॉ. करुणाशंकर उपाध्याय, हिंदुस्तानी प्रचार सभा की मानद् निदेशक डॉ. सुशीला गुप्ता तथा श्री राजू पटेल विराजमान थे।

लोकार्पण समारोह साहित्यिक पत्रिका 'कुतुबनामा' के तत्वावधान में किया गया था जिसकी संपादक डॉ. राजम नटराजन पिल्ले ने कार्यक्रम का संचालन किया।

'टेक्स की सरगम' का लोकार्पण

सुप्रसिद्ध कथा लेखिका संतोष श्रीवास्तव के सद्य प्रकाशित उपन्यास 'टेम्स की सरगम' का लोकार्पण श्रीमती परमेश्वरी देवी दुर्गादास टीवड़े वाला कॉलेज के प्रांगण में किया गया। इस उपन्यास का लोकार्पण करते हुए पुष्पा भारती ने कहा कि अनूठे प्रेम से वर्णित यह उपन्यास अनूठा है जिसमें इतिहास भी धड़क रहा है, और भक्ति मार्ग-ज्ञान मार्ग का संगम भी है। लेखिका ने जितने भी नारी चरित्र गढ़े हैं वे बड़े ठोस, मुकम्मल और सार्थक हैं।

लेखिका कथाकार संतोष श्रीवास्तव ने अपने मनोगत वक्तव्य में कहा- इस उपन्यास की कथा गढ़ने के दौरान मैंने सोचा भी नहीं था कि मैं एक बड़ी चुनौती को आमंत्रण दे रही हूं।

प्रस्तुति : निधीश पांडे

डॉ. आलोक मेहता सम्मानित

उत्तर प्रदेश के महामहिम राज्यपाल श्री बी.एल. जोशी ने कहा कि प्रख्यात साहित्यकार, पत्रकार एवं महान स्वतंत्रता संग्राम सेनानी पद्मश्री डॉ. कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर का साहित्य देश की अमूल्य निधि है। प्रभाकर जी ने पत्रकारिता की जो अखंड ज्योति प्रज्ज्वलित की थी उसे आज जारी रखने की आवश्यकता है।

महामहिम राज्यपाल ने जाने-माने पत्रकार डॉ. आलोक मेहता को सम्मानित किया। समारोह को संबोधित करते हुए उत्तराखण्ड के मुख्यमंत्री डॉ. रमेश पोखरियाल निशंक ने कहा कि आज के युग में स्वस्थ पत्रकारिता एक कठिन चुनौती है लेकिन चुनौती का नाम ही पत्रकारिता है। इस अवसर पर डॉ. आलोक मेहता ने कहा कि मेरे लिए शैलीकार सम्मान प्रेरणा का दीपक है और प्रभाकर जी के साहित्यिक आदर्शों की मशाल को निरन्तर जगमग रखने की भावना प्रदान करता है।

प्रस्तुति : हर्ष प्रभाकर

जोधपुर में आयोजित विश्व

पुस्तक दिवस के मौके पर पुस्तकें लोकार्पित

किसी भी कलमकार की पीड़ा उसके सृजन को विस्तार देती है और वह अपने दर्द के बहाने जमाने के दर्द को दुनिया के सामने ले आता है। इस तरह सृजित कोई भी रचना कालजयी रचना हो जाती है। ये उद्गार आयुर्वेद विश्वविद्यालय जोधपुर के कुलपति डॉ. बनवारीलाल गौड़ ने व्यक्त किए। वे नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया व माडधरा साहित्य संस्कृति संस्थान के संयुक्त तत्वावधान में आयोजित पुस्तक लोकार्पण समारोह की अध्यक्षता करते हुए बोल रहे थे।

प्रस्तुति : डॉ. ललित किशोर मंडोरा

प्रख्यात हिन्दी सेवी एवं संपादक मुनींद्र नहीं रहे

अहिन्दी क्षेत्र दक्षिण भारत में हिन्दी की ज्योति जलाने वाले प्रख्यात संपादक, लेखक एवं हिन्दी सेवी श्री मुनींद्र जी का 16 अप्रैल, 2010 को स्वर्गवास हो गया। वे 86 वर्ष के थे। स्व. मुनीन्द्र जी 1950 में बिहार से हैदराबाद आए और इसी क्षेत्र को उन्होंने अपनी कर्मभूमि बनाया। आरंभ में उन्होंने यहां से 'हैदराबाद समाचार' प्रकाशित किया जो कालान्तर में 'दक्षिण समाचार' के रूप में ख्यात हुआ।

विगत कुछ वर्षों से वे घुटनों में तकलीफ और शारीरिक अस्वस्थता से ग्रस्त थे। फिर भी लेखन, संपादन से बराबर जुड़े रहे। उनके द्वारा संपादित 'दक्षिण समाचार' प्रकाशन का पत्रकारिता जगत में एक विशिष्ट स्थान है। वे 1950 ई. से 1973 तक 'कल्पना' के संपादक मण्डल में भी रहे।

सूर्य बाला सम्मानित

पिछले दिनों नगर की साहित्यिक, सांस्कृतिक संस्था 'सहयोग' द्वारा प्रख्यात कथाकार, व्यंग्यकार सूर्यबाला को डॉ. सी.एल. प्रभात पुरस्कार से सम्मानित किया गया। वरिष्ठ पत्रकार कवि एवं 'नवनीत' के संपादक श्री विश्वनाथ सचदेव की अध्यता में हिन्दी के मूर्धन्य तमिल विद्वान तथा अमेरिका में भारतीय विद्या भवन के निदेशक डॉ. पी.के. जयरामन ने रचनाकार सूर्यबाला को सम्मानित किया।

सहयोग संस्था के अध्यक्ष श्री माधव प्रसाद खेमका ने अतिथियों का स्वागत किया। महासचिव डॉ. सरोजिनी जैन ने सूर्यबाला के कृतित्व पर प्रकाश डाला।

प्रस्तुति : डॉ. सरोजिनी जैन

पवन माथुर को साहित्यिक कृति सम्मान

गत 11 मई, 2010 को हिंदी अकादमी द्वारा 'सम्मान अर्पण कार्यक्रम' मुख्यमंत्री दिल्ली सरकार के कार्यालय में आयोजित किया गया। इस कार्यक्रम में ओड़िया साहित्य के सशक्त हस्ताक्षर श्री जे.पी. दास मुख्य अतिथि थे तथा सुश्री किरण वालिया, संस्कृति एवं स्वास्थ्य मंत्री दिल्ली सरकार के सान्निध्य में श्रीमती शीला दीक्षित ने पवन माथुर द्वारा रचित 'शब्द बीज' नामक पुस्तक पर साहित्यिक कृति सम्मान प्रदान किया। इस अवसर पर श्री पवन माथुर के पिता स्वर्गीय श्री गिरिजाकुमार माथुर एवं माता स्वर्गीय श्रीमती शकुंत माथुर के हिंदी साहित्य में योगदान को स्मरण किया गया। इस अवसर पर हिंदी के कई प्रमुख विद्वान, साहित्यकार एवं पत्रकार उपस्थित थे।

शिक्षा और सेवा से ही अम्बेडकर के सपने पूरे होंगे : अशाक गहलोत

डॉ. अम्बेडकर का सपना उस दिन पूरा होगा; जिस दिन भारत में न केवल अछूतपन का बल्कि दलितपन का भी खात्मा हो जायेगा। केरल की भांति जब तक पूरा राष्ट्र साक्षर न हो जाए, तब तक डॉ. अम्बेडकर का 'शिक्षित बनो' अभियान जारी रहेगा। उनके विचारों को ही फलीभूत करने के लिए भारत सरकार ने प्रत्येक बच्चे को शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार देने का कानून बनाया है। दलितों, पिछड़ों व गरीबों को छात्रवृत्ति के विशेष अवसर दिये जा रहे हैं उसमें और अधिक तेज प्रयास करने होंगे। अब जरूरत है बाबा साहेब के मिशन को आगे बढ़ाने वाली प्रतिभाओं को और अधिक प्रोत्साहन देने की।

प्रस्तुति : भारतीय दलित साहित्य अकादमी

मूल्य : रु.20

पूर्णांक 193

संचेतना

सृजन, संवाद एवं विचार का माध्यम

रचनाकार के लिए हर रचना एक चुनौती होती है- यामिनी कथा की नेपथ्य कथा

—सूर्यबाला
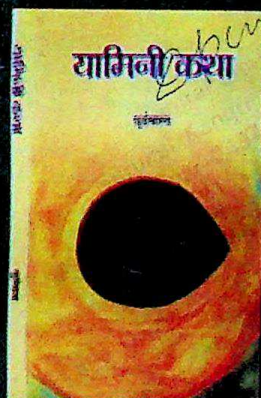
यामिनी एक अतिशय संवेदनशील नारी है
-चंद्रकान्त बांदिवडेकर

यामिनी कथा की व्यथा
-सूर्यकांत नागर

यामिनी कथा-स्त्री होने का अर्थ
-प्रमोद त्रिवेदी

स्वराज और सुराज का
सपना देखते थे
देश की आज़ादी के सेनानी
रानी लक्ष्मीबाई
चन्द्रशेखर आज़ाद
मंगल पाण्डे
टंट्या भील
शंकर शाह
राणा बख्तावर सिंह
रघुनाथ शाह
हमें मिली स्वाधीनता, जनतंत्र और जनाधिकार
मध्यप्रदेश में
अब सुशासन की अभिनव कड़ी
लोक सेवाओं के प्रदान की गारंटी का कानून
सभी नागरिकों को
64वें स्वतंत्रता दिवस की
हार्दिक शुभकामनायें
शिवराज सिंह चौहान
मुख्यमंत्री, मध्यप्रदेश

संचेतना

पूर्णांक 193, वर्ष 40, अंक 3
सितम्बर–2010
(प्रकाशित अक्टूबर – 2010)

संपादक
महीप सिंह

प्रबंध संपादक
जयदीप सिंह
संदीप सिंह

संयुक्त संपादक
कमलेश सचदेव
गुरचरण सिंह

शब्द–संयोजक
राजेश सिंह
कार्यालय सहयोगी
मनजीत कौर, परमजीत सिंह
आवरण सज्जा
संदीप

क्षेत्रीय प्रतिनिधि
कीर्ति केसर (जालन्धर) कमलेश बख्शी (मुंबई), जसबीर चावला (इंदौर), सुभाष रस्तोगी (चण्डीगढ़), सरोज वशिष्ठ (शिमला), हरनाम सिंह भट्टी (छिंदवाड़ा), वीरेन्द्र कुमार दुबे (जबलपुर)

मूल्य
एक प्रति : 20 रुपये, वार्षिक : 75 रुपये
संस्थाओं–पुस्तकालयों के लिए : 100 रुपये
विदेशों में : 20 डालर, आजीवन : 1000 रुपये

सम्पर्क
एच–108, शिवाजी पार्क, पंजाबी बाग,
नई दिल्ली–26, फोन : 25222888
Email : sanchetna@live.com

मुद्रक एवं प्रकाशक
संदीप सिंह
डीके आफसेट
डी.एस.आई.डी.सी. रोहतक रोड इंडस्ट्रियल काम्प्लेक्स, नांगलोई, दिल्ली–110041 से मुद्रित तथा एच–108, शिवाजी पार्क, पंजाबी बाग नई दिल्ली–110026 से प्रकाशित

साहित्य अकादमी द्वारा रवीन्द्रनाथ ठाकुर पर प्रकाशित महत्त्वपूर्ण कृतियाँ

उपन्यास / कहानी

आँख की किरकिरी (चोखेर बाली)
अनुवादक: हंसकुमार तिवारी
पृष्ठ : 230, पुनर्मुद्रण : 2009
ISBN : 81–7201–661–1 — 75 रुपये

गोरा (बाङला)
अनुवादक : सच्चिदानन्द वात्स्यायन
पृष्ठ : 456, पुनर्मुद्रण : 2009
ISBN : 81–7201–627–1 — 125 रुपये

योगायोग (जोगाजोग)
अनुवादक : इलाचन्द्र जोशी
पृष्ठ : 252, पुनर्मुद्रण :2009
ISBN : 81–260–0889–X — 60 रुपये

रवीन्द्रनाथ की कहानियाँ(भाग–एक)
अनुवादक : राम सिंह तोमर
पृष्ठ : 374, संशोधित संस्करण : 2008
ISBN : 81–260–0325–5 — 125 रुपये

रवीन्द्रनाथ की कहानियाँ (भाग–दो)
अनुवादक : कणिका तोमर
पृष्ठ : 272, संशोधित संस्करण : 2008
ISBN : 81–260–1409–1 — 100रुपये

रवीन्द्रनाथ की कविताएँ

(चुनी हुई 101 बाङला कविताओं का संकलन)
अनुवादक : हजारीप्रसाद द्विवेदी, रामधारी सिंह दिनकर हंसकुमार तिवारी तथा भवानीप्रसाद मिश्र
पृष्ठ : 336, पुनर्मुद्रण : 2008
ISBN : 81–260–121–1 पेपर बैक 90 रु.,सजिल्द 125रु.

रवीन्द्र रचना संचयन
(रवीन्द्रनाथ ठाकुर की रचनाएँ)
संपादक : असित कुमार बंधोपाध्याय
पृष्ठ : XX+ 820,पुनर्मुद्रण : 2009 — 200 रुपये

निबन्ध

रवीन्द्रनाथ के निबन्ध (भाग–1)
(दर्शनिक,शैक्षणिक, सामाजिक और राजनीतिक निबन्ध)
अनुवादक : विश्वनाथा नरवणं
पृष्ठ : 566, पुनर्मुद्रण : 2009
ISBN : 978–81–260–2429–2 — 150 रुपये

रवीन्द्रनाथ के निबन्ध (भाग–2)
(आत्मकथा, साहित्य–समीक्षा, चारुलेख आदि विविध विधाओं के निबन्ध)
अनुवादक : अमृत राय
पृष्ठ : 510, पुनर्मुद्रण : 2009
ISBN : 978:81:260–2430–8 — 150 रुपये

रवीन्द्रनाथा के निबन्ध (भाग–3)
(साहित्य समालोचना, साहित्य तत्व और व्यक्तिगत निबन्ध)
अनुवादक : चन्द्रकिरण राठी
पृष्ठ : 220, संस्करण : 1996
ISBN : 81–7201–976–9 — 85 रुपये

(नाटक)

ताश का देश (ताशेर देश)
अनुवादक : रणजीत साहा
पृष्ठ : 64, पुनर्मुद्रण : 2008
ISBN : 81–260–0317–0 — 50 रुपये

रवीन्द्रनाथ के नाटक (प्रथम खण्ड)
अनुवादक : प्रफुल्लचन्द्र ओझा 'मुक्त' हंसकुमार तिवारी तथा भारतभूषण अग्रवाल
पृष्ठ : 308, पुनर्मुद्रण :2005
ISBN : 81–260–1401–6 — 150 रुपये

रवीन्द्रनाथ के नाटक (द्वितीय खण्ड)
अनुवादक : स.ही. वात्सयायन, प्रफुल्लचन्द्र ओझा 'मुक्त' भारतभूषण अग्रवाल तथा हजारीप्रसाद द्विवेदी
पृष्ठ : 96, पुनर्मुद्रण : 2005
ISBN : 81–260–1407–5 — 140 रुपये

बाल साहित्य

रवीन्द्रनाथ करा बाल साहित्य (दो भागों में)
संपादक : लीला मजूमदार तथा क्षितीश राय
अनुवादक : युगजीत नवलपुरी
पृष्ठ : 160 एवं 176, पुनर्मुद्रण :2009
ISBN :81–260–0009–0 (भाग–1) — 35 रुपये
ISBN : 81–260–0008–2 (भाग–2) (प्रत्येक भाग)

(गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 150वीं वर्षगांठ के उपलक्ष्य में अकादेमी द्वारा प्रकाशित रवीन्द्रनाथ ठाकुर की पुस्तकों पर 33 प्रतिशत की छूट. 9 मई 2011 तक)
कृपया अपने आदेश सचिव, साहित्य अकादेमी, विक्रय विभाग, 'स्वाति' मंदिर मार्ग, नई दिल्ली–110001
दूरभाष : 23745297, 23364204, 23745295 फैक्स : 23364207
ई. मेल : sahityaakademisales@vsnl.net
वैबसाइट : www.sahitya_akademi.gov.in

'संचेतना' का नया अंक मिला। वह शुरू से ही एक अलग प्रकृति की पत्रिका रही है। वह कोई न कोई विशेष कार्य करती रहती है। उधर उसने 'संध्या छाया' स्तंभ के माध्यम से सत्तर की वय पार कर गये महत्त्वपूर्ण लेखकों के लेखन के महत्व को रेखांकित किया, इधर कई अंकों से 'कृति विमर्श' स्तंभ के तहत विशिष्ट कृतियों का महत्व उजागर कर रही है। हिन्दी साहित्य का माहौल ऐसा दूषित हो गया है कि उसमें वे ही कृतियां और कृतिकार महत्वपूर्ण माने जाते हैं जो एक खास खेमे से सम्बद्ध हों। 'संचेतना' शुरू से ही इस दूषित माहौल के प्रतिरोध में खड़ी दिखाई पड़ती है। इस बार डॉ. गुरचरण सिंह के 'नागपर्व' उपन्यास की चर्चा बड़ी आश्वस्तिकारी है।

दलित चेतना पर अनेक लोगों ने विमर्श किया है और रचनाएं लिखी हैं किन्तु इस संदर्भ में भी उन्हीं लोगों के कार्य का लेखा-जोखा लिया जाता है जो एक विशेष अखाड़े के हैं। आपने तो बहुत पहले 'संचेतना' का दलित-विमर्श अंक निकाला था जो बहुत समृद्ध अंक कहा जा सकता है। इस बार का आपका संपादकीय दलित लोगों के साथ होने वाले अमानवीय व्यवहार पर गहरी चिंता व्यक्त करता है, देश को स्वतंत्र हुए 63 वर्ष हो गये किन्तु दलितों के प्रति अनेक सवर्णों की मानसिकता ज्यों की त्यों है। आपने विभिन्न सूचना-स्रोतों से जानकारी प्राप्त कर यहां-वहां समाज में व्याप्त दलितों के प्रति अमानवीय व्यवहार का जो चित्र दिया है वह बहुत व्यथित करने वाला है। सवाल होता है कि क्या इस प्रकार के अत्याचार का कोई कानूनी और व्यावहारिक प्रतिरोध नहीं है? इस संदर्भ में शासकीय क्रियाशीलता क्यों नहीं दिखाई पड़ती?

आपके व्यंग्य मुझे बहुत अच्छे लगते हैं। 'संचेतना' पाते ही पहले चकाचक ही पढ़ता हूं। आपके व्यंग्य में इतनी सहजता होती है कि लगता है व्यंग्य किया नहीं जा रहा है, हो जा रहा है। संवाद की शैली में आप बहुत मनोरंजक ढंग से राजनीतिक और सामाजिक विसंगतियों पर चोट करते हैं। इस बार आपने फिल्मी गानों का बड़ा ही रचनात्मक प्रयोग किया है। इन गीतों के माध्यम से दलों में राजनेताओं के आने-जाने की क्रिया और नियति का बहुत प्रभावशाली चित्रण हुआ है। सचमुच व्यंग्य आपकी सर्जना का एक महत्वपूर्ण आयाम है।

डॉ. रामदरश मिश्र
आर-38, वाणी विहार, उत्तम नगर, नई दिल्ली-59

'संचेतना' के जून 2010 के अंक की प्रति प्राप्त हुई है। हमेशा की तरह इस अंक में भी कितनी ही रचनाएं (जैसे : विश्वनाथ, सविता मिश्र की कविताएं) सशक्त हैं। पत्रिका का विशिष्ट आयोजन 'कृति विमर्श' मुझे बहुत ही अच्छा लगा। गुरूचरण सिंह के उपन्यास 'नाग पर्व' पर केंद्रित सामग्री इस अंक की उपलब्धि है।

दिविक रमेश
बी-295, सेक्टर-20, नोएडा-201301

श्रृंखलाएं संचेतना की पहचान हो रही हैं। 'संध्या छाया' के प्रख्यात साहित्यिक व्यक्तित्वों की श्रृंखला के बाद प्रख्यात कृति को केन्द्रबिंदु बनाना-संचेतना और उसके संपादक की दूर-दृष्टि, शक्ति, सामर्थ्य एवं प्रतिबद्धता के द्योतक हैं।

डॉ. मधु संधु
बी-14, गुरु नानक देव विश्वविद्यालय अमृतसर

'संचेतना' जैसी सृजनात्मक जागृत विचारों की जागरूक पत्रिका हेतु आपको व आपके प्रकाशन मण्डल व सहयोगी-मण्डल को कोटिशः बधाई!

हमें ऐसे प्रतिस्पर्धा के समय इतनी सुन्दर रचनात्मक, पाठ्य-सामग्री से लाभान्वित करने वाली पत्रिका उपलब्ध कराना आपका प्रशंसनीय व स्तुत्य प्रयास है।

संपूर्ण सामाजिक उत्तरदायित्वों को निभाते हुए हिन्दी प्लेटफॉर्म पर तटस्थ रहना, पत्रकारिता के क्षेत्र में एक महती उपलब्धि व अदम्य साहसपूर्ण प्रयास है।

सुनीता शर्मा
ए.411ए., पालम विहार
गुड़गांव, हरियाणा

कृति विमर्श बहुत सार्थक स्तम्भ है। अनेक महत्वपूर्ण कृतियों के संबंध में पाठक ने कुछ पढ़ा और सुना होता है, किन्तु उनके मर्म को समझा नहीं होता। उदाहरण के लिए मैंने कुसुम अंसल के उपन्यास तापसी के विषय में इधर-उधर थोड़ा बहुत पढ़ा था। मित्रों से कुछ चर्चा भी सुनी थी। किन्तु जब मैंने संचेतना के कृति विमर्श में इस उपन्यास का समग्र आकलन देखा तो इस रचना को पढ़ने की तीव्र जिज्ञासा उत्पन्न हो गई।

मैं गुरचरण सिंह के उपन्यास 'नागपर्व' के बारे में कुछ नहीं जानता था। डॉ. गुरचरण सिंह को मैं एक आलोचक और समीक्षक ही समझता था। कृति विमर्श में नागपर्व की चर्चा पढ़कर मैंने जाना कि वे अच्छे उपन्यासकार भी हैं।

मैं संचेतना को साधुवाद देता हूं कि पहले उसने अपने स्तम्भ 'काल संध्या' के माध्यम से मेरा परिचय अनेक साहित्यकारों से कराया और अब मैं अनेक महत्वपूर्ण साहित्यिक कृतियों से परिचित हो रहा हूं।

विद्याधर शुक्ल
सागर मार्केट, बिरहाना रोड,
कानपुर

अवसान एक मित्र और संवेदनशील साहित्यकार का

कन्हैया लाल नंदन हमारे बीच से चले गए। पिछले कुछ समय से वे किडनी के रोग से पीड़ित थे और डॉयलिसिस पर रहते थे। उनके पैर में पानी भर जाता था, जिसे डॉक्टर सुई की मदद से निकालता था। आखिर इस यातना का अंत हुआ। 25 सितम्बर की प्रातः 3 बजे, वे हमें छोड़कर चले गए।

नंदन से मेरा सम्बन्ध आधी सदी से अधिक का है। जून 1955 में कानपुर के डी.ए.वी. कालेज से एम.ए. करने के उपरान्त मेरी नियुक्ति मुंबई के खालसा कालेज में हिन्दी के प्राध्यापक के रुप में हो गई थी।

वहाँ मेरा परिचय रामावतार चेतन से हुआ और फिर उन्हीं के माध्यम से कन्हैया लाल नंदन से। यह बात मुझे बाद में पता लगी कि ये दोनों साले–बहनोई हैं और पास के ही फतेहपुर के होने के कारण इनकी जड़ों के कुछ भाग कानपुर की मिट्टी में भी धँसे हुए हैं।

सभी शहरों की ऊपरी बनावट तो एक जैसी ही दिखती है, किन्तु हर एक की स्थानीयता का एक खास रंग होता है। इसी रंग से उनका व्यवहार, उनकी बोली, उनकी ठसक और उनकी पहचान रंग जाती है। कानपुर में बहुत शातिर किस्म का व्यक्ति 'गुरु' है, बहुत काइयाँ व्यक्ति 'परम' है, सरपरस्त व्यक्ति 'भैया' है। दूर की हाँकना यहाँ के स्वभाव में है और इस पूरी मानसिकता को एक वाक्य व्यक्त करता है

झाड़ै रहौ कलट्टर गंज।'

मुंबई में मुझे चेतन और नंदन मिले तो कानपुर साकार हो गया।

किन्तु दोनों के स्वभाव में एक अंतर मुझे प्रारम्भ से ही महसूस हुआ। चेतन जी कुछ रिजर्व प्रकृति के थे और किसी से भी बहुत धीरे–धीरे खुलते थे। उनके चेहरे पर 'मैं साधारण व्यक्ति नहीं हूँ', की छाया बनी रहती थी और वे चाहते थे कि जो भी उनसे मिले, वह यह बात जरुर याद रखे। शायद यह बात इलाहाबाद की अपनी खासियत है। वहाँ हर व्यक्ति 'विशिष्ट' होता है और अपने विशिष्ट होने के बोध को बहुत संभाल कर रखता है। फतेहपुर, कानपुर और इलाहाबाद के बीच में है। उच्च स्तर की पढ़ाई के लिए लोग इलाहाबाद जाते थे या कानपुर। इलाहाबाद विश्वविद्यालय की पूरे देश में प्रतिष्ठा थी इसीलिए अकादमिक क्षेत्रों में उनकी तूती बोलती थी। साहित्यिक क्षेत्रों में इलाहाबाद का जो दबदबा था उसे नकारने की जुर्रत कोई लेखक नहीं कर सकता था। छायावाद हो या प्रगतिवाद या नई कविता–बात की शुरुआत इलाहाबाद से ही होती थी और इलाहाबाद की स्वीकृति मिले बिना किसी की साहित्य में गणना हो ही नही सकती, यह वहाँ के साहित्यिक जगत की अकाट्य धारणा थी। शायद यही कारण था कि उपेन्द्र नाथ अश्क और मोहन मोहन राकेश जैसे घनाघा`र पंजाबियों को जालन्धर छोड़ कर उस शहर में पनाह लेनी पड़ी थी। चेतन जी कवि भी थे और कलाकार भी और कुछ कर गुजरने की उत्कट भावना से ओत–प्रोत थे। इसलिए वे फतेहपुर से निकल कर पहले इलाहाबाद पहुँचे अैर वहाँ से 'विशिष्ट' बनकर बम्बई पहुँच गये। कानपुर की प्रकृति इससे बिल्कुल विपरीत थी (आज भी है)। 1857 के सिपाही विद्रोह की कुछ स्मृतियाँ इस नगर से जुड़ी हैं। पास के ही एक कस्बे 'बिठूर' का पौराणिक महत्व भी है और ऐतिहासिक भी। नाना साहब पेशवा, तात्या टोपे और लक्ष्मी बाई की यह क्रीड़ा–स्थली है। किन्तु कानपुर उभरा एक औद्योगिक नगर के रुप में। इसलिए यह शहर कपड़ा, चमड़ा और इस्पात की मिलों, उनकी चिमनियों से निकलने वाले काले धुएँ और मज़दूरों की गंदी बस्तियों से ही अपनी पहचान बना सका। प्रेमचंद भी कुछ समय कानपुर में रहे और प्रताप नारायण मिश्र तथा प्रताप नारायण श्रीवास्तव जैसी प्रतिभाएँ भी कानपुर में रहीं किन्तु इस नगर में कभी गंभीर साहित्यक वातावरण नहीं पनपा। इसलिए आधुनिक साहित्य की रचना और चर्चा से यह नगर लगभग अछूता ही रहा। संवेदनात्मक स्तर पर यह नगर गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही' की सीमा से कभी आगे नहीं बढ़ा और सदा गीत–मानसिकता के आस–पास ही घूमता रहा।

'झाड़े रहौ कलट्टर गंज' की बात मैंने प्रारम्भ में लिखी है। यह उक्ति इस नगर की मौज–मस्ती, फक्कडता, अक्खड़ता, स्वभाव की उन्मुक्तता को उजागर करती है। कानपुर का डी.ए.वी. कालेज सदा ही सभी प्रकार की गतिविधियों का केन्द्र रहा जिनका सम्बन्ध छात्र–राजनीति और उसमें से निकलती हुई देश की सक्रिय राजनीति से

थी।

नंदन की बी.ए. तक की शिक्षा कानपुर में हुई और एम.ए. करने वे इलाहाबाद चले गये। इस बी.ए. तक की पढ़ाई से ही उनका व्यक्तित्व गढ़ा गया जिस पर कनपुरिया फक्कड़पन के ऊपर इलाहाबादी स्नॉबरी कभी हावी नहीं हुई।

मेरी धारणा है कि फक्कड़ आदमी बहुत भावुक होता है और मानवीय भी, जो प्रायः स्नॉब किस्म के व्यक्ति नहीं होते। नंदन के सभी तेवरों व्यक्तिगत सम्बन्ध हों, नौकरी हो या साहित्य हो, ये दोनों बातें बहुत मुखर दिखाई देती थीं। मुझे लगता है कि उनके सम्पूर्ण जीवन का दर्द भी यही था। किसी भी युग में मानवीय बने रहना बहुत दूभर कार्य होगा, आज तो यह संभव-सा दिखाई देता है। सफलता की सीढ़ियाँ चढ़ते हुए हर पैड़ी पर किसी सफलता की अनिवार्यता बन गई है। स्नॉब अगर महत्वाकांक्षी हो तो करेला और नीम चढ़ा वाली कहावत चरितार्थ होती है। ऐसा व्यक्ति सफलता पाने के लिए सभी सम्बन्धों, सभी मर्यादाओं और सभी मूल्यों की कदम-कदम पर हत्या करता है। किन्तु नंदन के अंदर बैठा भावुक मानव यह नहीं कर पाया और कनपुरिया ढंग की अपनी भोली सरलता को उन्होंने सदा अपने सीने से लगाए रखा।

नंदन मुंबई में आकर प्राध्यापक बन गये और हम दोनों गहरे मित्र बन गये। फिर कुछ ही समय बाद उन्होंने 'टाइम्स आफ इंडिया' ग्रुप ज्वाइन कर लिया और 'धर्मयुग' में धर्म वीर भारती के सहायक हो गये। उस समय अगणित लोगों ने उन्हें बधाइयाँ दी थीं, उनमें मैं भी एक था। टाइम्स आफ इंडिया में काम करना चकाचौंध कर देने वाले ग्लैमर से जुड़ा हुआ था। कालेज की प्राध्यापिकी में वह चमक-दमक नहीं थी। इस पेशे का संतोष बिल्कुल अलग किस्म का है। टाइम्स आफ इंडिया में जाना कैरियर की दौड़ में रेस कोर्स का घोड़ा बनना था। प्राध्यापकी का घोड़ा तो सारी उमर दुलकी चाल ही चलता है।

वर्षों बाद यह बात मैं आज लिख रहा हूँ कि उस समय मुझे नंदन का निर्णय ठीक नहीं लगा था। उस समय मैंने अपने आप से पूछा था-यदि मुझे ऐसा अवसर मिलता तो मैं क्या करता? मेरा उत्तर नकार में था।

कानपुर में मेरा परिवार व्यापारी परिवार था और आर्थिक दृष्टि से सम्पन्नता की ओर निरन्तर बढ़ रहा था। मेरे दोनों बड़े भाइयों ने उन्हीं दिनों साइकिल पार्ट्स बनाने का एक कारखाना लगाया था और चाहते थे कि मैं उनका काम संभालूँ। मेरे मन में लेखक बनने का भूत सवार था। मेरी धारणा थी कि कारखानेदार बन कर मैं लेखक नहीं बन सकता। मैं ऐसी नौकरी करना चाहता था जिसमें मुझे लिखने-पढ़ने का अधिक से अधिक समय मिले। ऐसी नौकरी किसी कालेज में प्राध्यापक होना ही थी। मैं अपने भाइयों की बात न मानकर प्राध्यापक बन गया। आज मैं सेवा-निवृत्त हो चुका हूँ। किन्तु आज भी मैं नौकरी की दृष्टि से गहरी तृप्ति महसूस करता हूँ। आठ घंटे की दफ्तरी नौकरी से तो कारखाना चलाना कही बेहतर था।

'धर्मयुग' में जाकर नंदन का मान-सम्मान बहुत बढ़ गया। नंदन जी, नंदन जी कहकर उन्हें घेरने वाले चूजों की भीड़ उनके चारों ओर इकट्ठी हो गई। पर ऐसी भीड़ उन्हें सारी उमर घेरे रही।

उन दिनों मैंने एक कहानी लिखी थी-कुर्सी। एक बड़ा यारबाश, प्यारा और घर में सभी को बेहद खुशी देने वाला व्यक्ति (चंदन सिंह) एक फर्म में टूरिंग एजेन्ट के रुप में काम करता है। उसके काम से बहुत खुश होकर उस फर्म का मालिक उसे मैनेजर बना देता है। मैनेजर बनकर उसका वेतन भी बढ़ जाता है और प्रतिष्ठा भी। लेकिन कुछ ही दिनों में उसकी पत्नी, बच्चे, मित्र, सम्बन्धी यह महसूस करने लगते हैं कि चंदन सिंह अपनी फर्म के काम के बोझ में पूरी तरह डूब कर सब कुछ भूल गया है-जैसे अश्वमेध के घोड़े को दफ्तरी मेज के पायों के साथ बाँध दिया गया हो।

धर्मयुग में जाने के बाद नंदन की भी यही दशा हुई। ठहाके लगाने, पैने मज़ाक करने, किसी की भी खिल्ली उड़ाने, मित्र के लिए कुछ भी कर गुज़रने और लय के साथ कविता सुनाने वाला, अश्वमेध के घोड़े के समान संचरित होने वाला व्यक्ति धर्मयुग के सहायक सम्पादक की बड़ी मेज के साथ बाँध दिया गया।

धर्म वीर भारती निजी तौर पर बड़े प्यारे व्यक्ति थे। वे बहुत अच्छे लेखक थे, कुशल सम्पादक थे किन्तु इसके साथ ही बड़े कठोर (कहूँ कि क्रूर) किस्म के बॉस थे। नंदन ने उनके नीचे ग्यारह वर्ष तक नौकरी की और बॉस के रुप में उनकी क्रूरता को झेला। अनेक बार अनेक अंतरंग क्षणों में मैं उनका हमराज बना। ऐसी यातना का दसवाँ भाग भी यदि कभी मुझे मिलता तो मैं मैदान छोड़कर भाग जाता, अथवा

लड़ पड़ता और ताल ठोंककर सामने खड़ा हो जाता। नंदन ने सब कुछ सहा, झेला, किन्तु अपनी मधुर मुस्कराहट में रत्ती–भर भी कमी नहीं आने दी और अत्यन्त पीड़ा–जनक स्थितियों में कनपुरिया मस्ती नहीं छोड़ी–झाड़ै रहौ कलट्टर गंज।

मुझे नंदन से सम्पूर्ण काव्य–सृजन में यह मस्ती, अक्खड़ता, भावुकता और सबसे ऊपर मानवीयता दिखाई देती है। संचेतना में प्रकाशित एक लेख – 'मेरी कविता–परत दर परत की अन्तः यात्रा' में नंदन ने प्रारम्भ में ही लिखा है–'कविता लिखना मेरे लिए जीवंत और मानवीय बने रहने की प्रक्रिया का ही एक अंग रहा है। आदमी बना रहना मेरे लिए कवि होने से भी बड़ी चीज है।' मानवीयता की बात करना, उसके प्रति अपना सरोकार व्यक्त करना अब कुछ लोगों को पिछड़ापन लगने लगा है। नंदन ने अपनी इस मान्यता और आस्था में कभी दरार नहीं पड़ने दी–

तलाश या भटकन
रच डालो बेमानी इंद्रजाल शब्दों का
सच का पता तो हमें है
कि अपनी ही खोज हम न कर पाये जीवन भर
क्षण भर थके–थके रीतते गये
और इस रीतने में रीतने का नियम अधिक
मकसद बहुत कम था
सच–सच बतलाना.................

आज साहित्य की स्थिति बड़ी रोचक है। नकार और स्वीकार की जैसी आपाधापी हिन्दी में है, शायद ही किसी अन्य भाषा में हो। यह स्थिति सभी विधाओं में है। किसी कहानी या कहानीकार को नकारना हो तो कह दीजिए कि इसमें किस्सागोई भरी पड़ी है। उसको स्वीकृत करना हो तो बता दीजिए कि समय, सत्य की जितनी पहचान और उस पर गहरी पकड़ जितनी इस कहानीकार को है उतनी हिन्दी के किसी कहानीकारं में देखने को नहीं मिलती। उपन्यास, नाटक आदि किसी भी विधा के लिए आप ऐसी भाषा का इस्तेमाल कर सकते हैं। हिन्दी में ऐसे स्वयंभू आलोचक हैं जो किसी भी रचना को विश्व स्तर की घोषित कर सकते हैं और दूसरे ही उसे कूड़े में फेंकने लायक भी कह सकते हैं।

कविता में स्थिति अधिक विषम है। किसी कवि ने यदि गाकर अपनी कविता सुना दी या उसमें गीत की ध्वनि आ गयी तो वह गीतकार हो गया। हिन्दी में कुछ वर्षों से गीतकार होना सबसे बड़ा लांछन है और आधुनिक कवि–समाज से उसकी बहिस्कृति की घोषणा है। इसमें भी कोई संदेह नहीं कि गीतकारों की छवि को एक समय कवि सम्मेलनों ने बहुत उभारा था और उनकी दुर्गति भी इन्हीं के माध्यम से हुई है। जब से कवि सम्मेलनों में हँसोड़ और चुटकुलेबाज कवियों की माँग और संख्या बढ़ी है, गीतात्मक कविता के प्रति उन लोगों ने बहुत नाक–भौं चढ़ाई है जो अपने आपको केवल कवि नहीं कविता के विधाता भी मानते हैं।

नंदन भी इस विषमता के शिकार हुए। वे कवि–सम्मेलनों में जाते रहे हैं, और बड़े प्रभावी अंदाज में कविता पढ़ते रहे हैं। चूँकि उनकी कविता पत्थर का अचार नहीं होती, संवेदना और विचार धरातल पर सहृद य श्रोता को अंदर तक प्रभावित करती रही है, इसलिए किसी भी कवि सम्मेलन में बहुत–सी वाहवाही भी लूटते रहे हैं। यह बात उन्हें कवि सम्मेलनी कवियों की श्रेणी में धकेल देती थी।

इस देश में प्रत्येक लेखक को जीविकोपार्जन के लिए कोई धंधा करना पड़ता है। मैं अपने विषय में पहले ही लिख चुका हूँ, उस समय मुझे लगा था कि किसी कालेज में अध्यापक बन कर ही मैं सुगमता से उस गन्तव्य की ओर बढ़ सकता हूँ, जो मैं चाहता हूँ। पत्रकारिता, प्रसारण क्षेत्र की नौकरी और वकालत जैसे कुछ धंधे हैं जिन्हें लेखक सामान्यतया अपनाते हैं, या अपनाना चाहते हैं। अपवाद अन्य क्षेत्रों में भी मिल जाएँगे। नंदन ने अध्यापन छोड़कर पत्रकारिता अपनाई और बहुत अच्छे और सुयोग्य संपादक बन गये। धर्मयुग से निकल कर पराग, सारिका, दिनमान, नवभारत टाइम्स और संडेमेल जैसे पत्रों का उन्होंने संपादन किया और बड़ी कुशलता से किया। यदि हिन्दी के दो–चार शीर्षक पत्रकारों का नाम लिया जाए तो नंदन का नाम उसमें अवश्य आ जाएगा।

यहीं वह संकट पैदा होता है जो किसी भी व्यक्ति की सृजनात्मकता को खा जाता है। धर्मवीर भारती ने संपादक बनकर बहुत यश कमाया, किन्तु अंधायुग, ठंडालोहा, घोड़ा और कनुप्रिया जैसी कृतियाँ उस समय की हैं जब वे धर्मयुग के संपादक नहीं थे। पत्रकारिता ग्लैमर लाती है और कैरियर बनाती है। अध्यापन में यह सब कुछ नहीं है और न ही लेखन में। अज्ञेय और मोहन राकेश जैसे लेखक विरल हैं जिन्होंने लेखक बनकर वह ग्लैमर अर्जित किया जिससे कोई भी

ईर्ष्या कर सकता है।

लेखक को संकट बहुत मारता है। किसी विश्वविद्यालय में विभागाध्यक्ष हो जाना, रेडियो–टी.वी. में स्टेशन डॉयरेक्टर हो जाना, किसी पत्र–पत्रिका का संपादक हो जाना ऐसे आईनें हैं जिनमें लेखक अपने विशिष्ट सृजनशील लेखक होने का अक्स देखने लगता है और भयंकर गलतफहमी का शिकार हो जाता है।

नंदन ने यह संकट झेला और इसके हाथों मार भी खाई थी। मैं सोचता हूँ कि उनकी सजग पत्रकारिता में भी उनके अंदर के सृजनशील रचनाकार की चुभन लगातार बनी रही।

मैं यह भी मानता हूँ कि जिस दिन किसी लेखक के अंदर की यह चुभन समाप्त हो जाती है, लेखक के रुप में, संसार की सारी बादशाहत पा लेने के बावजूद, वह मर जाता है। नंदन की एक कविता की कुछ पंक्तियां हैं–

अगर कबूल हो आदमी को
पत्थर बनकर
सदियों तक जीने का दर्द सहना
बेहिस
संवेदनहीन
निष्पंद
बड़े से बड़े हादसे पर
समरस बने रहना
सिर्फ देखना और कुछ न कहना
ओह, कितनी बड़ी सजा है
ऐसा ईश्वर बनकर रहना।
नहीं, मुझे ईश्वरत्व की असंवेद्यता का इतना बड़ा दर्द
कदापि नहीं सहना

ये पंक्तियाँ कवि–मन की बेचैनी को सार्थक शब्द तो देती ही हैं, उनके बीच से अपने निर्बाध निर्णय की घोषणा भी करती है।

नंदन के कविता संग्रह– 'समय की दहलीज' के प्रारम्भ में उन्होंने 'कविता: मेरे कुछ नोट्स' के अन्तर्गत अपनी कुछ काव्य–मान्याताएं अंकित की थीं। उसमें एक है–"कविता में अगर कवि ने अपनी आत्मा को जिंदा रखा है तो कविता हजारों की आत्माओं को जिंदा रख लेती है। आत्मा में कोहराम मचा सकने वाला संघर्ष कविता की संभावना है।" कविता के संदर्भ में नंदन की यह मान्यता उनकी अनेक कविताओं से झरती हुई दिखाई देती है और उनके एक जीवंत–निरंतर– जीवंत होने का साक्ष्य भरती रहती है। इसी संग्रह में नंदन की एक कविता है–

जाने क्यों
जब किसी धारदार आदमी की आँख में
किसी ओछे स्वार्थ के लिए
पानी को मरते हुए पाता हूँ
तो मैं ही खुद
अपने अंदर
मरने लग जाता हूँ।
नसों में दौड़ने लग जाता है
पिघलता हुआ सीसा
मुँह में कसैलापन उतर आता है।
सोचता हूँ
क्या रीढ़ का
आदमी के स्वार्थ से गहरा नाता है?

इन दिनों कन्हैया लाल नंदन ने अपनी आत्मकथा लिखनी प्रारम्भ की थी। उसके दो भाग प्रकाशित हुए– 'गुजरा कहाँ कहाँ से' और 'कहना ज़रुरी था'। उनके दिल्ली प्रवास के अनुभवों पर आधारित आत्म कथा का तीसरा भाग भी तैयार है, केवल उन्हें उसकी भूमिका भर लिखनी थी, किन्तु काल के क्रूर हाथों ने उन्हें इतना अवसर नहीं दिया।

नंदन जैसा जीवट और जुझारू दूसरा व्यक्ति ढूँढ सकना सरल नहीं है। भयंकर शारीरिक व्याधि झेलते हुए, सप्ताह में तीन–तीन आर डॉयलीसिस कराते हुए, अंतिम स्वाँस तक वे सक्रिय और जीवन्त रहे। उनका अवसान साहित्य और पत्रकारिता की असीम क्षति है, उससे कहीं अधिक मेरी क्षति है, जिसने अपना एक अत्यन्त आत्मीय मित्र खो दिया है।

अंत में मैं एक खेदजनक बात का उल्लेख करना चाहता हूँ। नंदन जी के अंतिम संस्कार में आए बड़ी संख्या में लेखकों, पत्रकारों, प्रकाशकों, राजनयिकों में दिल्ली के कुछ स्वनाम धन्य लेखकों की अनुपस्थिति इस बात की द्योतक है कि संवेदनशीलता को रात–दिन ओढ़ने–बिछाने वाले कुछ लोग अपनी गुटपरस्ती में कितने संवेदनहीन हो सकते हैं।

रचनाकार के लिए हर रचना एक चुनौती होती है

- सूर्यबाला

कृति-विमर्श स्तम्भ में आप पढ़ चुके हैं 'आवारा मसीहा' (विष्णु प्रभाकर), 'आवां' (चित्रा मुद्‌गल), 'अन्वेषक' (प्रताप सहगल), 'तापसी' (कुसुम अंसल), 'नागपर्व' (गुरचरण सिंह) कृतियों के सम्बन्ध में। इस अंक में प्रस्तुत है सूर्यबाला के उपन्यास 'यामिनी कथा' पर चर्चा।

- संपादक

'यामिनी-कथा' की यामिनी मेरे पास एक बारगी या अचानक नहीं आ गई। वह जब तब अनेक रूपों में अनेक रास्तों से आती जाती रही। अनेक पड़ावों पर सुस्ताती रही। यूं कह लूं कि उन दिनों में जिस भी रास्ते से गुज़रती, किसी न किसी यामिनी से मुलाकात हो ही जाती। इस 'किसी न किसी से' अचंभित न हों। प्रायः जीवन में मिले कितने ही लोग अपने अंश-अंश रूपों में हमारे अंदर दर्ज होते जाते हैं और कब कहां हमारे किस 'चरित्र/पात्र' में उनका कौन-सा अंश समाहित हो जाता है, हमें खुद भी बहुत बाद में समझ में आता है है। कुछ संयोग ही रहा कि 'यामिनी-कथा' के चारों प्रमुख पात्र विश्वास, निखिल, पूतुल और यामिनी, कुछ सुनी-सुनाई बातों और कुछ प्रत्यक्ष साक्ष्य के रूप में मेरी संवेदना के पाथेय बनते चले गए। ऊपरी तौर पर ही घटती गुजरती चीजें इकट्ठी होती गई। अब आवश्यकता थी, अनुभूत सत्यों के माध्यम से उनके तहतलों तक पहुंच पाने की। यात्रा से ज्यादा यह एक गोताखोरी थी। क्योंकि इस कहानी के हर पात्र के पास अपने 'भंवर' थे...उतरने और थहाते जाने की चुनौतियां मेरी थी।

यूं रचनाकार के लिए हर रचना एक चुनौती होती है और इन चुनौतियों को झेल जाने के दौरान हुई रोमांचक अनुभूतियां ही उसका सर्वोपरि सुख। और इस उपन्यास के लिखने के दौरान तो हर कुछ कदमों के बाद चेतन-अवचेतन के तमाम सूत्र आ-आकर उलझते-पुलझते रहते थे। यहां जीवन था, उसके प्रति घोर वस्तुवादी दृष्टि थी, (विश्वास) सुविधाओं संपन्नता के यथेष्ट पर अपनी भावनात्मक अपेक्षाओं के बीच एक अतृप्त स्त्री थी (यामिनी) लेकिन इसी उपभोक्ता समय के बावजूद मनुष्य के अंदर बचे हुए पछतावे भी थे (शायद यह मेरी आशावादी दृष्टि थी, संदर्भ-उत्तरार्द्ध कदला हुआ विश्वास) नियति की विडंबनाएं थीं, ऐसी विडंबनाएं कि निखिल, यामिनी, पूतुल सब अपनी-अपनी जगह सही थे, लेकिन चीज़ें गलत होती जा रहीं थी....जो सोचा था, जो चाहा था, वह किसी को नहीं मिल पा रहा था न पूतुल को, न यामिनी को, न निखिल को। मेरी एक कहानी है, 'सजायाफ्ता'- यहां भी सभी पात्र निपराध, दंड के भागी हो रहे थे। खलनायिका नियति ही थी।

मैंने जब यथार्थ जीवन में 'यामिनी' को देखा, 'विश्वास' को कैसा हो चुका था। लेकिन 'वह' चेहरे पर शिकन लाये बगैर सामान्य सी दिखती, हंसती-बोलती विश्वास की सुश्रूण में लगी रहती। इसके बावजूद बंबई के अभिजात्य वर्ग के 'एटीकेट' को निभाते हुए स्वयं की 'प्रेज़ेन्टेबुल' लुक का भी ध्यान रखती। (जिस पर तथाकथित आधुनिकाएं, लुका छुपी टिप्पणियों से भी बाज़ नहीं आतीं...।)

इसके लगभग डेढ़ वर्ष बाद विश्वास की मृत्यु हो गई। हम, यामिनी के दूसरे विवाह के दो-तीन वर्ष पश्चात, उन सब यानी यामिनी उसके नये पति पूतुल और चुनमुन से मिले। (हम गए भी थे, फर्ज निभाने से ज्यादा कुतूहल शांति के लिए) ऊपर ऊपर सब कुछ सहज सामान्य ही था, सुख-सुविधाओं के बीच पलता परिवार... लेकिन पूतुल के लगभग हम-उम्र मेरे बेटे ने उस दिन घर लौटने पर बड़े चमत्कृत भाव से बताया कि ऊपर टैरेस पर जब वे सब पूतुल के साथ खेल रहे थे तो उसने कोने में रखी ड्रिंक्स की खाली बोतलों में एक बोतल अचानक जोर से पटक कर चकनाचूर कर दी...चारों तरफ ढेर से कांच के टुकड़े फैल गए लेकिन वह हंसता रहा...

मैं सन्न विस्मित थी लेकिन मेरा बेटा जैसे किसी योद्धा

की बहादुरी बखान रहा था इस कथा का पहला बिंदु कांच की उन्हीं किरचों के बीच झलझलाया था और क्रमशः कलाइडोस्कोप के से, तमाम सारे रंग-आकर जुटते चले गए थे।

प्रकृति से विवाद प्रिय न होने के कारण मैंने यामिनी के निखिल से दूसरे विवाह वाले प्रकरण को लेकर कोई बाहरी हड़कंप नहीं मचवाया। कारण इस तरह के प्रसंगों में, बाहरी विरोधों, लोकापवादों वाले बयान प्रायः सभी रचनाओं में आते ही आते हैं। एक तरह से ये 'अन्डरस्टुड' चीज़ें हैं। दूसरे, इन वर्णनों प्रसंगों को लिखने या न लिखने से कहानी के विकास में कोई अंतर नहीं आने वाला था। और सबसे बढ़कर मुझे तो इन बाह्य स्थितियों के समानांतर चल रहे मनुष्य के आंतरिक 'धर्मयुद्धों' और ऊहापोहों की दुनियां दिखानी थी।

एक तरह से देखें तो ऊपरी तौर पर इस कथानक में उतने ट्विस्ट नहीं हैं। आज का औसत पति/पुरुष, विश्वास से ज्यादा पृथक नहीं। वस्तुवादी संस्कृति पहली सेंध ही मानवीय संवदेना के प्रकोष्ठ में लगाती है। ऐसे व्यक्ति ढूंढ़ने मुश्किल नहीं जिनका पहला सुख पहला लक्ष्य पैसा होता है. ..और पत्नी/स्त्री की आंतरिकता तक पहुंचने, उसको समझ पाने की पात्रता और प्रकृति उनकी नहीं होती। सामान्य स्त्री इन्हीं स्थितियों में स्वयं को सुखी मान कर संतुष्ट भी हो लेती है। स्त्री को 'वस्तु' मानने की परिपाटी भी कोई आज की थोड़ी है। कहने वाले आज भी कहते हैं कि इससे कौन-सा पहाड़ टूट पड़ा...लेकिन जिंदगी के ये बिन टूटे पहाड़ और गहरे भंवर में ही असली स्त्री रहती है। फिर भी वे ताउम्र अदेखे रह जाते हैं। मेरी स्त्री विषयक शोध, स्त्री के इन्हीं अलंघ्य शिखरों और गहराइयों से शुरू होती है। स्त्री मात्र के सर्वाधिक विचारे और शोधे जाने वाले पक्ष उसका मन, उसकी चाहना, उसकी मेधा, विभ्रम और आकांक्षाएं हैं जहां अभी स्त्री रचना को भी पहुंचना है, आलोचना को भी। स्त्री के अंदर की बहुत सारी स्त्री अभी अपने महिला उद्धार की प्रतीक्षा में है। फिर भी स्त्री-लेखन ने जितना, जो किया उसे कम कर के नहीं आंका जा सकता।

यह भी कहना चाहूंगी कि संभवतः आज की तथाकथित समर्थ मानी जाने वाली स्त्री भी, अपनी वास्तविक सामर्थ्य से अनजान है। वह ऊपरी भौतिका सफलताओं और पहले के वर्जित क्षेत्रों में अपने प्रवेश को ही, अपनी वास्तविक सामर्थ्य समझ रही है। महिला लेखन का वृहत्तरदायित्व, इस स्त्री को स्वकीया भाव और आत्ममुग्धता के अतिरेक से बचाते हुए समाज-चेतना और विश्व चेतना से जोड़ना है, लेकिन फामूर्लों से बच कर।

बात घूम-फिरकर वहीं आ जाती है कि सामर्थ्य-असामर्थ्य से ऊपर, पहले स्त्री को समझना है। और यह रास्ता उसके मन-मस्तिष्क से ही होकर जाता है। स्त्री के इसी मन-मेधा को समझने और उसे 'वस्तु' से अलगाकर देखने की ओर एक 'व्यक्ति' के रूप में रेखांकित करने का प्रयास भर है यामिनी-कथा।

विश्वास के रूप में उपभोक्तावादी संस्कृति का घटाटोप चित्रित करने के बाद भी, चूंकि मेरा मन उसे स्वीकारता नहीं और जीवन मूल्यों में अपनी अटूट आस्था का एक हठ भी है अतः विश्वास को लौटना ही होता है, (पूतुल के जन्म के बहाने से) मानवीय संवेदना की ओर। जरा सोचिए अंततः तो विश्वास को मरना ही था...लेकिन पूतुल और यामिनी तक उसकी संवेदनात्मक वापसी, उपन्यास में 'विश्वास का' और जीवन में ऐतबार का, लौटना है। एक प्रतीक मात्र।

मेरी रचनाओं में खलनायक या खलनायिका ढूंढ़े नहीं मिलेंगे आपको। ये दोनों भूमिकाएं कहानी की स्थितियां ओर परिस्थितियां निभाती हैं। सारी कर्म निष्ठा और संघर्ष चेतना के बावजूद, व्यक्ति के जीवन का संचालन ये संयोग और दुर्योग ही करते हैं। स्वयं मेरे जीवन में भी इन्होंने चमत्कारिक भूमिका निभाई है। फिर भी मैंने अपनी रचनाओं में कमी इन्हें साध्य या प्रमुख अलंबन की भूमिका नहीं सौंपी। ये सिर्फ कहानी को आगे बढ़ाने की भूमिका भर निभा कर हट आए हैं। कभी ध्यान दें, जीवन में जैसे अतिरेकी संयोग, चमत्कार घटते हैं वैसे यदि हम रचना में भी घटाने लगें तो रचना कागज़ी और 'मेलोड्रेमेटिक' हो जाती है।

लेकिन सर्वाधिक विडंबनापूर्ण वे स्थितियां होती हैं जब ऊपर-ऊपर सब कुछ पूरी तरह सुखसुविधापूर्ण और अनुकूल होते हुए भी...कुछ भी आश्वास्तिकर और सुखमय नहीं होता. ..कोई सुखी नहीं हो पाता...मेरी वृत्ति ऐसी मायावी स्थितियों के बीच अनवरत् भरमती है। अदेखे को देखने की कोशिश अबूझे को जानने की कोशिश करती है। मुझे तो लगता है, प्रायः हर सुख के साथ कुछ अवसाद भी, जुड़े होते ही हैं। शायद मेरी परम विनोदी वृत्ति और चरम अवसादी मन के बीच की कुछ कड़ियां हैं जो इन दो ध्रुवांतों को जोड़ने का काम करती हैं, जीवन में भी, रचना में भी।

कथा-प्रसंगों पर वापस जाए तो पूतुल से भी पूछ कर ही, निखिल से विवाह का निर्णय, यामिनी ने लिया था...यानी उसकी तरफ से भी पूर्ण निश्चिंतता थी उसे...लेकिन पूतुल भी

कहां समझ पाया था कि वह 'निखिल अंकल' को जितना पसंद करता है, 'निखिल पापा' को भी उतना ही कर पाएगा क्या? उसे स्वयं भी वह अहसास कहां था कि उसके मन के भीतरी प्रकोष्ठों में दबी-ढंकी कैसी-कैसी मनोग्रंथियां जुगनुओं-सी जलती-बुझती विद्यमान हैं। हम सबमें होती हैं। प्रायः हर व्यक्ति में। सिर्फ उसका उसे प्रत्यक्षतः आभास नहीं हो पाता। वह उद्विग्न होता है, खीझता और झुंझलाता है...लेकिन कारण नहीं ढूंढ़ पाता। और प्रायः ढूंढ़ भी लेता है तो स्वीकार नहीं पाता। बाहर से भीतर की, व्यक्त से अव्यक्त की यात्रा के ये ही पड़ाव भी हैं, पाथेय भी इस कथा संरचना में।

यामिनी भी, यदि पूतुल को, निखिल के रूप में जल्दी से जल्दी एक वत्सल पिता दे पाने की और निखिल को 'पूतुल-पुत्र' स्वीकारने की कामना और कोशिश करती है तो क्या बुरा करती है? दूसरी तरफ निखिल और किशोरवय पूतुल दोनों ही यदि इस अस्वाभाविक रिश्ते पर अपनी-अपनी तरह से प्रतिक्रियायित होते हैं तो उन्हें भी दोष दिया जा सकता है क्या?

और तो और, यामिनी की दूसरी बार (चुनचुन की) मां बनने की नियति और औचित्य पर भी तो प्रश्नचिह्न नहींलगाया जा सकता। यामिनी तो अब तक अविवाहित निखिल को उनके प्रथम दांपत्य और संतति सुख से वंचित रखने की मंशा, निर्मम से ज्यादाधिकृत कही जाएगी।

और...इस सबके बीच अपने बिखरे अस्तित्वों की किरचें समेट-समेट कर, सब में परस्पर सामंजस्य और समरसता बिठा पाने का यामिनी का ममतालु हठ, आकांक्षा...जहां हर बाजी हर चाल पर 'मात' ही मिलती है उसे। जीवन को कितनी चाहना से रचते हैं हम...लेकिन कहां रच बस पाता है, जीवन वैसा।

मेरे लिए सबसे बड़ी चुनौती इस कहानी की विश्वसनीयता को संभाल ले जाने की थी। कितना संभाल पाई नहीं कह सकती। दूसरी चुनौती कथा के 'अंत' को लेकर-अवसादी ही सही पर एक नैतिक और सकारात्मक सकेत तो हो ही। संदेश मर्मस्पर्शी रहा, जब पूतुल अपने पिता विश्वास वाले 'मरचेंट नेवी' के जाॅब को चुनता है। मर्म-बिंदु को सहेज लेने की कोशिश, मैंने विदा लेते हुए पूतुल के मुंह से निखिल को 'बाइय पपा!' कहला कर की है जिसे मेरे बहुत से पाठकों ने समझा और सराहा है।...

बी-504, रूनवाल सेंटर, गोवंडी
स्टेशन रोड, देवनार, चेंबूर, मुंबई-2211
मोबाइल : 9930968670

चंद्रकांत बांदिवडेकर

यामिनी एक अतिशय संवेदनशील नारी है

सूर्यबाला हिंदी की प्रतिष्ठित कथा लेखिका हैं और उनके उपन्यास 'यामिनी कथा' ने उनकी प्रतिष्ठा को औचित्य और सार्थकता ही प्रदान नहीं की, उनके गौरव का स्थापित मान भी बढ़ाया है।

'यामिनी कथा' में यामिनी के मानसिक भंवर की अथाह गहराई, उसकी गंभीरता, उसमें सम्मिलित गोचर-अगोचर, अनगिनत मानसिक संवेदना प्रवाहों का विशद रूपायन, आधुनिक नारी के जटिल तनाव, लगातार सूक्ष्म संवेदनात्मक त्रासदी की कभी खत्म न होने वाली प्रदीर्धता और इसी बीच, किसी तरह का संतुलन स्थापित करने के लिए सफल-असफल प्रयास करने में अभिव्यक्त जिजीविषा के शक्तिपूर्ण और कलात्मक दर्शन होते हैं।

यामिनी कथा की कसावपूर्ण बुनावट के रेशे-रेशे देखने के पहले कुछ सामान्य बातें बताना आवश्यक है। सूर्यबाला की कहानियों में मांसल संवेदनात्मक स्पंदन, उसको कला की शर्तों पर संगठित करने वाला बौद्धिक तानाबाना, परंपरा के सुदृढ़ और प्रगतिशील संस्कारों से ऊर्जा ग्रहण करने वाले आधुनिकता की ओर उन्मुख मानस का बोध, चिन्तन-प्रक्रिया और भावना की तीव्रता की एकमेवता और कहानी के रूप की अच्छी, सहज, प्राकृतिक पकड़ इन वैशिष्ट्यों का प्रतीतिपूर्ण अनुभव पाठक को मिलता रहता है। सामान्यतः अपनी मध्यवर्गीय कक्षा और नारी के लिए प्राप्य अनुभव का दायरा छोड़कर अन्यत्र जाने का प्रयास सूर्यबाला नहीं करतीं। परन्तु अपने अनुभूत जगत् का कल्पना से संयुक्त संसार प्रस्तुत करने में उनका कथाकार पर्याप्त श्रेय अर्जित करता है। अनुभव का चिन्तनात्मक परिदृश्य और सूक्ष्म दार्शनिक तेवर से उपन्यास की प्रस्तुति को देखते समय हिन्दी में उनकी समकालीन कहानीकार राजी सेठ की याद ताजा हो जाती है।

इधर नारी-लेखन पर खूब चर्चाएं हुई हैं। परन्तु नारी लेखन के सामने एक मूलभूत प्रश्न को उठाया जाना चाहिए। वह प्रश्न है- नारी लेखन में ऐसा कौन सा अनुभव व्यक्त हो रहा है जो केवल नारी के लिए ही संभव है। इस प्रश्न के उत्तर में जिन थोड़ी सी रचनाओं का निर्देश किया जा सकता है उनमें "यामिनी कथा" का बहुत ऊंचा स्थान है। केवल इसलिए नहीं कि यह कहानी नारी-मानस की तीव्र संवेदनात्मक भूमि से उपजती है और विकसित होती है बल्कि इसलिए भी कि प्रयास करने पर भी, प्रतिभाशाली पुरुष लेखक उन संवेदनात्मक गहराइयों में नहीं अवगाहन कर सकता जो यामिनी कथा का कथ्य है।

"यामिनी एक अतिशय संवेदनशील नारी है। जिसकी संवेदना ने उसके अनुभव को विलक्षण धार दी है। असल में बाहयतः उसकी जिंदगी में सुख की संभावनाएं कम नहीं है। परन्तु उसके चिन्तनशील मानस ने और अनुभूतिप्रवण हृदय ने उसके सामने सदैव यातना, दंश, पीड़ा का जाल ही बिछाया- 'मैं सॉस की बोतल बढ़ाती हुई अंदर-अंदर जैसे एक गहरे भंवर में डूबती जा रही हूं। घड़ी की हर बढ़ती टिक-टिक के साथ सिर्फ एक ही सस्पेंस गहरा और गहरा... घुटता और घुटता...अंत में बाहर आ ही जाता है"... यह मनःस्थिति का यथार्थ कहानी के हर किसी भाग पर लागू हो जाता है। यह भंवर एक नारी का है। जिसे अतिशय संवेदनशील मन और अन्तर्भेदिनी मेधा का शाप मिला है। क्योंकि उसका नब्बे फीसदी दुख इसी के कारण उपजा है। इसीलिए उसका कोई अन्त, कोई निदान, कोई समाधान नहीं है। क्योंकि समझौते के प्रयास भी इसके लिये यातनादायी होते हैं। हर दिन के छोटे-मोटे प्रसंगों, घटनाओं में लगातार विद्ध होते जाने की दारुण नियति का सामना कर रही है यामिनी।

यह यातना क्यों है? इसके रंग, रेशे, क्यों हैं? इसका अंत किस प्रकार और कहां है? यह एक अनवरत कथा-प्रवाह है जिसका कोई अंत नहीं है, जब तक वह प्रवाह गतिमान है अर्थात यामिनी जीवित है, प्रबुद्ध संवेदनशील मन के लिए 'सर्व दुखं' ही सही है।

यामिनी की अथाह वेदना के अनेक मूलकेन्द्र हैं। यामिनी के दुख का प्रारंभ, जो कथानिधिष्ट है उसके असफल विवाह से है। एक मामूली मन की स्त्री को सुख से घेरने के लिए यह वैवाहिक जीवन अपर्याप्त नहीं है। अच्छा घर है, अच्छी कमाई करने वाला पति है, पैसे की किल्लत नहीं है, समृद्धि है। पति जहाजी जीवन का आदी है। परन्तु छुट्टियों में लौटकर पत्नी को शारीरिक सुख की पूरी तृप्ति देता है, सास है परन्तु उसका कंटीलापन नहीं है। परंतु यामिनी सामान्य स्त्री नहीं है। वह विश्वास से कुछ अधिक चाहती है- वह प्यार जो शरीर से उत्पन्न होता हुआ भी मानसिक और आत्मिक अधिक है। परंतु उसके पूर्ण समर्पण में भी विश्वास उसे वह प्यार नहीं दे पाता क्योंकि स्त्री की ओर उसके विशेष सम्मान की दृष्टि से कभी देखा ही नहीं है। इन दोनों के बीच के संबंधों का वह असमंजस सूर्यबाला ने अनेक घटनाओं, संवादों और संवेदनात्मक दंशों से प्रकट किया है। इसमें एक बदलाव का मोड़ आता है जब यामिनी पुतूल को जन्म देती है। विश्वास चाहे अनचाहे यामिनी की ओर थोड़ा-थोड़ा नर्म होता है। पुतूल को प्यार करने लगता है और वात्सल्य के अथाह भंडार से अवगत होने के कारण यामिनी को भी कुछ आदर देने लगता है। लेकिन विश्वास, यामिनी की यह संवाद-अवस्था नियति को मंजूर नहीं है। विश्वास कैंसर की गिरफ्त में आता है। एक ओर विश्वास का यामिनी के प्रति पूर्णतः बदलता व्यवहार दूसरी ओर यामिनी की

दारुण नियति से संघर्ष की गाथा का सूर्यबाला ने अत्यंत समर्थ, प्रत्यक्ष गोचर किया है। यामिनी के दुख का स्वरुप अनेक स्तरीय है। आरंभ में विश्वास के साथ शरीर की सतह पर बिताए क्षणों की पीड़ा, पूतुल की प्राप्ति के साथ अपने संघर्ष में विजय का क्षणिक उल्लास और फिर विजय का आनंद न भोगने के लिए अभिशप्त यामिनी के आंतरिक और बाह्य संघर्ष का हृदय विदारक चित्र सूर्यबाला ने महीन परन्तु समर्थ रंग रेखाओं से खींचा है। मोह भंग का दर्दनाक चित्र यामिनी की अनुभूतियों से पाठक को साझीदारी करने के लिए बाध्य करता है, विश्वास का यायावर जहाजी जीवन का आकर्षण और वैयक्तिक स्वातंत्र्य का पुरुषोचित दर्प, उसकी सतही जीवन दृष्टि और उसका स्त्री को एक वस्तु के रूप में भोगने का असली स्वभाव- यह सब कड़ी सूझबूझ के साथ सूर्यबाला ने व्यक्त किया है- "लेकिन मुझे लगता है, विश्वास सिर्फ सीधे-सीधे मुझे समाप्त कर देता है। न देखता है, न छूता है, न फील करता है न समेटता है... सिर्फ लापरवाही से बिखेर देता है। इतनी चीजों के मुआवजे पर पाई गई एक यांत्रिक-सी तृप्ति को क्या नाम देती मैं?" ...वैसे यह अपनी मानसिकता का निवेदन है, नैरेशन है। परन्तु यह जिस पूर्वापर प्रसंगों के धागों में कलात्मकता से पिरोया गया है, उसके कारण यह संवेदनात्मक भाष्य अनुभव की कसावपूर्ण बुनावट को ठोक-बजाकर सांकेतिक करता है और इस प्रकार के भाष्यों में सूर्यबाला माहिर हैं। बहुत सारे उर्दू शेरों में भी एक अनुभव का भाष्य ही होता है। परंतु वह भाष्य अनुभव के भोग की प्रक्रिया को संकेतित करता है। सूर्यबाला ने विश्वास और यामिनी के साझे जीवन के कतिमय प्रसंगों को चित्रित, संकेतित कर यह अनुभव मूर्त किया है। विश्वास की बढ़ती वात्सल्य भावना के साथ यामिनी के प्रति अपराध बोध और तज्जन्य आत्मग्लानि का संकेतात्मक आलेख प्रस्तुत करते हुए सूर्यबाला ने उस पर संवेदना भाष्य की मुंहर लगाई है... "विश्वास ने हैरान आंखों से मुझे देखा था। मुझे सिर्फ इतनी राहत हुई कि दंश का दर्द नहीं था अब इन आंखों में वल्कि एक हैरान छुपी-छुपी आत्मग्लानि थी और थोड़ी बेचैन भटकन-सी सिर्फ उत्तेजना की लपटों से सर्वथा अलग..."

इस संवेनात्मक बदलाव के बीच यामिनी के संघर्ष की वीर गाथा भी सरकती जाती है। जो संघर्ष उसने पति की जान बचाने के लिए किया और किसी बिंदु पर अपने असफल संघर्ष की परिणति से रूबरू होते हुए भी वह अपनी मानसिक शांति के लिए अपने को झोंक रही है। एक भारतीय स्त्री- मानस की उज्ज्वल तस्वीर सूर्यबाला ने खड़ी की है।

यामिनी के यातनामय संसार का यह पहला अंक समाप्त होता है। और अधिक दारुण, अधिक जटिल और अधिक अन्तर्मुखी संघर्ष के लिए दूसरे अंक का पर्दा उठ जाता है।

विधवा यामिनी सब तरह से निर्धन हो कर अपने बच्चे पूतुल के लिए समर्पित मां की तरह अकेली संघर्ष कर रही है। आर्थिक बिगड़ती स्थिति, निस्सहाय निरावलम्ब अकेलापन और भविष्य के अंधकारमय अनुमानों के बीच एक किरण उसे मिलती है- समझदार मैच्युअर व्यक्ति निखिल के रूप में। सूर्यबाला ने दोनों के बीच के संबंधा को किसी इकहरी भाव-रेखा से चित्रित नहीं किया है, न दोनों की प्रौढ़ मानसिकता तथा दोनों के पथगात्म संदर्भ को कहीं भी उपेक्षित किया है। समूची सद्भावना और समंजसता के बावजूद यामिनी और निखिल का साझा जीवन सुखमय नहीं हो सका। अनुभव का यह रूप किसी भी कलाकार को गंभीरता से चुनौती देता है। और सूर्यबाला ने उसे पूरी तरह निभाया है। यामिनी चुनमुन को जन्म देती है तो कितनी विपरीत स्थिति का शिकार होती है। पूतुल और चुनमुन के जन्म के बाद की संभावनाओं का यह विरोध कहानी को प्रभावपूर्ण भी बनाता है और वास्तविकता का कंटीला उग्र रूप भी सामने खड़ा कर देता है। यामिनी के मानस को अनेक शक्तियां अलग-अलग दिशाओं में खींच कर लहूलुहान कर रही हैं। एक ओर विश्वास का स्मृति संदर्भ है, दूसरी ओर पूतुल का अनेकस्तरीय खिंचाव है। तीसरी ओर चुनमुन है और चौथी ओर पहले विवाह की सुख प्राप्ति की स्वाभाविक कांक्षा से आतुर निखिल खड़ा है। इसके बीच यामिनी तार-तार होती जा रही है, बिखर रही है और इस सबका कोई अन्त नहीं है। फिर स्थिति को समग्रता में देखने और विरोध की यथातथ्यता देखने का अभ्यस्त आधुनिक मन है जो अपनी समंजसता की कोशिश में बेहाल हो जाता है। विश्वास से पूर्णतः अलग व्यक्तित्व है निखिल का सौम्य, संयत समझदार और उदार। लेकिन यामिनी के हिस्से में यातना ही यातना है। दोनों के बीच की बढ़ती दूरी और प्रत्येक का अपना-अपना द्वीप और उनकी टकराहटें, विलक्षण वेदनापूर्ण है यह साझा जीवन। चुनचुन को लेकर बनते-बिगड़ते संबंधों के बीच कुछ उसके बचपन से संबद्ध हास्य क्षण कुछ रिलीफ देते हैं। परन्तु कुल मिलाकर दंश ही दंश हैं जो यामिनी को लगातार बिद्ध करते रहते हैं! अधिकांश दंश बाहर के नहीं, तीव्र संवेदनशील, यामिनी के मन के अंदर के हैं। निरंतर गहराई की ओर जाने वाला, भंवरों से आलोड़ित-विलोड़ित अंधा सुरंग है यामिनी का मानस। प्रेयसी, नवोढा पत्नी, विधवा, प्रथम पति से पैदा संतान की मां, पुनर्विवाहित पत्नी, पहली बार विवाहित पति की आकांक्षाओं के लिए कुछ अतिरिक्त नाटक करने वाली, दूसरे पति से उत्पन्न पुत्र की मां- कितनी-कितनी भूमिकाएं करनी पड़ती हैं, अकेली यामिनी को। एक उलझे अनुभव संसार के बीच गुंथी सी हुई है। यामिनी सहस्त्रों धागों के बीच फंसी तड़पती, लहुलुहान नारी। इसका समूचा रूप अलग-अलग कोणों से या धागों को पकड़कर विश्लेषित करना सर्वथा असंभव है- विश्लेषण को मात देने वाला यह व्यामिश्र अनुभव संसार। आहत अभिमान अपमानित अस्मिता, असहाय क्रोध संघर्ष पर उतारू मानसिकता न जाने कितने मिश्र भावों

का उथलपुथल मचाता हुआ सागर लहराता है, इस कहानी में। कभी एकाध वाक्य से सूर्यबाला समूचे अनुभव संसार को ध्वनित कर देती हैं- "घर जैसे किसी ऊसर के अलग-अलग चकों में बंट गया था जीवन" इस तरह का भाष्य, कलाकार की अनुभव की गहरी पहचान का प्रमाण देता है। निखिल और यामिनी का वह शब्द संघर्ष। बहुत दिनों से संचित आग से बनी मानों बारूद की गोलियों जैसी हो गयी हों जो दवाने पर फूट पड़ती हैं- एक दूसरे को जख्मी कर धराशायी करने के लिये। लेकिन इस पारस्परिक बौछार में सूर्यबाला ने अपनी संवाद कुशलता का परिचय देते हुए मनोवैज्ञानिक संदर्भ के साये में संरक्षित रखा है। यह संवाद कभी दो व्यक्तियों के बीच होता है तो कभी यामिनी की द्वन्द्वात्मक मानसिकता में भी सम्पन्न होता है, मनुष्य के अंत की गहराई की पहचान, उत्पन्न करती है।

यातना-प्रवाह की यह रफ्तार कभी पुतुल के अपने पिता के प्रति समर्पण भाव से उत्तेजित होता है तो कभी पिता का ही व्यवसाय चुनने के निर्णय से और शिक्षा के लिए घर छोड़ने की विवशता से ढीली भी पड़ती है। लेकिन यह यातना प्रवाह कभी पूर्णतः खंडित होगा, सूख जायगा, इसकी कोई संभवना नहीं है। सूर्यबाला ने यातना की निरंतरता का सशक्त संकेत कर सोच के लिए बहुत उत्तेजना पूर्ण सामग्री दी है- "और मेरे लिए तो निखिल, चुनचुन सब एक हरहराते सैलाब में समाते चले जा रहे थे। उस सैलाब को चीरती मैं ट्रेन के दरवाजे से हाथ हिलाती पुतुल की धुंधली आकृति को साफ-साफ देख पाने की असफल कोशिश कर रही थी क्या यामिनी को कुछ राहत मिली है...जैसा मन उसने पया है, उससे ऐसा नहीं लगता। राहत के लिए आखिर एक ही रास्ता बचता है। संकेतात्मक संसार से विदाई का- मृत्यु के रूप में या संन्यास के रूप में। सूर्यबाला इस संदर्भ में खामोश हैं? नहीं, पूरी कहानी की ध्वनि यह है कि जीवन का प्रवाह भले ही भंवरों से युक्त हो, जीवन जीना- समझदारी से जीना मनुष्य का पहला कर्तव्य है।

सूर्यबाला ने यहां स्त्रीवादी भूमिका को नहीं अपनाया है। अपनी अनुभव की गहराई और व्यापकता पर आंच नहीं आने दी है। उनके सामने स्त्री और पुरुष का मन है- उनके बीच कोई विरोध भाव की बात नहीं।

मनुष्य के मानस को उसके समूचे रेशे-रेशे के साथ जकड़ने की सुरंग की अतल गहराई दिखाने की सूर्यबाला की यह कोशिश हिंदी कहानी के क्षेत्र में एक मानक है। इस कहानी के बल पर सूर्यबाला हिंदी के कुछ महत्वपूर्ण कहानीकारों में आ गयी हैं। सूर्यबाला को मनोविज्ञान के किसी सिद्धांत को पकड़ने की भी जरूरत नहीं पड़ी क्योंकि उनकी मनुष्य मन की सहज पकड़ अद्भुत है जो किसी बैसाखी की मुहताज नहीं है।

सूर्यबाला का भारतीय संस्कारों में संस्कारित मन अभी पूरी तरह एक कलाकार की यथार्थ से चार आंखें करने की चुनौती पूर्णता में नहीं स्वीकार रहा है। अन्यथा दो पुरुषों के साथ विवाह और शरीर संबंध के स्वरूप का एक अछूता कोना भी इसमें था, जिसका संकेत इस कहानी में नहीं मिलता। एक नारी के सहज अभिजात्य की दृष्टि से यह सम्मानित है। परन्तु एक निर्मम कलाकार की दृष्टि से कुछ अ... ग़ोपन भी।

सूर्यबाला का प्रमुख सरोकार मनुष्य के मनस्लोक की अद्भुतता को देखता दिखाता है। यामिनी कथा में इसके कुछ विस्तारित और गहरे रूप के दर्शन कराये गए हैं तो 'मानसी' में दो व्यक्तियों को केंद्र में रखकर कुछ सीमित रूप में।

मनुष्य का मन उतना जटिल है और मनुष्यों के भावात्मक संबंध इतने विचित्र की परिपाटी में व्यवहृत शब्दों का इस्तेमाल अपर्याप्त-सा लगता है। हम जिसे स्त्री-पुरुष का आकर्षण कहते हैं उसकी नींव भले ही शारीरिकता में हो, जड़ों से बाहर आने वाले पौधे, वृक्ष सब अपना आकार, रंग और रूप लिए अद्भुत स्वायत्त संसार लिए अवकाश में अस्तित्व का आस्वाद लेते हैं। उसी तरह मनुष्य और मनुष्य के संबंधों की भी स्थिति है। कंजा को लेकर प्रोफेसर भवन के मन में जो परिभाषा के परे कुछ विद्यमान है, कुछ ऐसा ही कंजा की लड़की किरन के मन में प्रोफेसर भवन के प्रति है। प्रायः जो रहस्यमय, मनसलोक के तले रहता है उसे नाम देने के प्रयास में हम गंदला कर देते हैं। उस नितांत वैयक्तिक पर शब्दों के इस्तेमाल से बलात्कार होता है।

मटियाला तीसरा सूर्यबाला के लेखकीय व्यक्तित्व के आत्मविस्तार प्रमाण है। अपने सम्पन्न वर्ग की ऊपरी संस्कारशीलता को भेद कर मनुष्य को सुखसुविधाओं का आदी बनाकर गुलाम बनाने और बिन्स की भांति उपयोग करने की जो प्रवृत्ति है उसको बड़े कौशल के साथ व्यक्त करते हुए गांव के दरिद्र की वास्तविकता को उजागर किया गया है और साथ-साथ निपट दरिद्रता में स्वालंबन की प्राकृतिक भूख का बड़ा मर्मस्पर्शी चित्रण किया गया है। इसमें दो वर्गों के रहन-सहन, जीवन प्रणाली, विचार विमर्श जीवन दृष्टि आदि का सशक्त संकेत करते हुए अभिजात वर्ग की मानसिकता को बड़ी सूझ-बूझ के साथ उधाड़ दिया है। नगर और गांव, अभिजातीय मानसिकता और अकिंचन वग्र को मानसिकता अभिजातीय परिवार और अकिंचन वर्ग का परिवार, दो वर्गों की भाषा आदि विविध स्तरों पर दो वर्ग के विरोध का बड़ा कलात्मक उपयोजन किया गया है। लेकिन इनको भेदकर लेखिका ने दो माताओं के दर्शन कराए हैं जो कहानी के अनुभव की मूल्यवत्ता को नया आयाम देकर उसकी गुणवत्ता को बढ़ाया है।

'पाषाण'
सी-2, ब्लॉक -7, स्टेट बैंक नगर
पंचवटी पुणे-411008

सूर्यकांत नागर

यामिनी कथा की व्यथा

'यामिनी कथा' एक स्त्री की संवेदनात्मक जटिलता, उसके मानसिक तनावों और उसके आत्म-संघर्ष की मर्मस्पर्शी कथा है। यामिनी ने जब जीवन में जो भी चाहा, सहज रूप से, सद्इच्छा के तहत चाहा, लेकिन परिस्थितियों ने उसे चैन से जीने नहीं दिया। इसके लिए केवल परिस्थितियां ही जिम्मेदार नहीं थीं, नारी सुलभ मन और उसकी संवेदनात्मकता भी जिम्मेदार थी। अपनी चाहना की पूर्ति के लिए हर संभव कोशिश करती यामिनी कभी समझौते करती हुई, कभी अपने को और कभी दूसरों को छलती हुई तथा कभी अपनी आकांक्षाओं-अपेक्षाओं से मुठभेड़ करती हुई सदैव संघर्षरत रही। ख्यात कथाकर सूर्यबाला द्वारा रचित, त्रिखंडी व्यक्तित्व में विभक्त औरत की इस औपन्यासिक कृति का प्रबल पक्ष उसकी वैचारिकता है। लेखिका के विलक्षण रचना-विधान ने कृति को कहीं भी बोझिल नहीं होने दिया, बल्कि उन्नत शिल्प ने उसे पढ़े जाने के लिए उकसाया ही। वस्तुतः एक स्त्री के यातनामय संसार के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का यह एक महत्वपूर्ण दस्तावेज है।

अपने पहले पति 'विश्वास' से यामिनी को वह प्रेम, अनपत्व और विश्वास नहीं मिला, जिसकी चाहत हर स्त्री को होती है। मर्चेंट नेवी में अच्छी नौकरी करनेवाला विश्वास महीनों जहाज पर रहता, जहाजी जिंदगी के मौज-मजे करता और घर को सराय समझकर जब भी आता, पत्नी से यंत्रवत संबंध स्थापित कर लौट जाता, जबकि यामिनी तन के साथ मन की अपेक्षा करती। प्रेम और आत्मीयता के बिना-देह संबंध का क्या अर्थ? देह के माध्यम से भी प्रेम उपज सकता है, पर वह उपजे ही नहीं तो? प्रबुद्ध पत्नी को गहने-गुरिया से लाद देना ही तो पत्नी का प्राप्य नहीं है। वैयक्तिक स्वतंत्रता के पक्षधर विश्वास का भरोसा, आस्था, प्रणय और समर्पण जैसें शब्दों में नहीं है। उस जैसें लोगों के लिए विवाह एक बंधन है। इस संदर्भ में सूर्यबाला ने नायिका के माध्यम से अत्यंत बारीक बात कही है- 'माना कि विवाह की सामाजिक प्रथा कहीं न कहीं व्यक्ति की मुक्ति में चारों ओर एक रेखा खींचती है, लेकिन प्यार सामाजिक बंधन न होते हुए भी एक बंधन नहीं है, क्या?'' प्यार का बंधन शायद विवाह के बंधन से अधिक गहरा और टिकाऊ है। वैवाहिक संबंधों में एकतरफा प्रेम का क्या अर्थ, यदि सामने वाले में उसे अपने पूरेपन में समेट लेने का भाव न हो? क्या शरीर ही सब कुछ है? मन कुछ नहीं। यामिनी को विश्वास का विश्वास भी तब मिलने लगा जब पुतुल बीच में आ गया और शायद तब और अधिक जब वह असाध्य रोग का शिकार हो तिल-तिल जलने लगा। लेकिन तब तक शायद काफी देर हो चुकी थी।

फिर वैधव्य झेलती नारी की मनोदशा, आर्थिक तंगी, अंदर-बाहर का अभाव तथा बाहरी और आंतरिक संघ यामिनी को चैन नहीं लेने देता। भारतीय समाज एक युवा विधवा को प्रायः अच्छी नजर से नहीं देखता। बल्कि रूढ़िवादी सास तो वैधव्य का दोष भी बहू की बदकिस्मती को ही देती है। कहती है- 'तेरा ही दुर्भाग्य था कि मेरा बेटा मुझसे छिन गया, वर्ना उसमें ऐसी कौन-सी बुराई थी? बेचारी बहू यह भी नहीं कह पाती कि 'मैं भले ही अधर्मी होऊं, परन्तु तुम तो पुण्यवान हो, फिर तुम्हारे पुण्य बेटे की मौत के आड़े क्यों नहीं आ गए?' यही नहीं बहू के चरित्र पर भी शंका की जाती है। एक दिन थोड़ा विलंब से घर पहुंचने पर विश्वास की मां यामिनी पर कटाक्ष करती है- 'यह कौन-सी बैंक है जो रात देर तक खुली रहती है? एक सभ्य शिक्षित स्त्री के चरित्र पर किया गया यह प्रहार यामिनी को तिलमिलाकर रख देता है।'

इन हालातों से परेशान हो और पुतुल के भविष्य का ख्याल कर यामिनी सभ्य, उदार और प्रगतिशील सोच वाले निखिल से विवाह कर लेती है। निखिल को यामिनी के अतीत में झांकने में दिलचस्पी नहीं है, वह वर्तमान में जीना चाहता है। निखिल का यही सहज, सौम्य और उदार रूप यामिनी को भा जाता है। उसे विश्वास है कि निलिख पुतुल के साथ न्याय करेगा। सब कुछ ठीक चल रहा होता है कि चुनचुन के जन्म लेने के बाद स्थितियां बदलने लगती हैं। निखिल पूरी तरह चुनचुन में खोने लगता है, और पुतुल जाने-अनजाने उपेक्षित होता चलता है। यहीं यामिनी की चिंता बढ़ जाती है। एक ओर वह निखिल और चुनचुन के साथ सामंजस्य बैठाने की कोशिश करती है तथा दूसरी ओर निरंतर दूर, उपेक्षित और उदास होते पुतुल के साथ तालमेल बैठाने की। दिन पर दिन समझदार हो रहे किशोर को अपनी मां का नये पुरुष के साथ होना, न केवल अपने पूर्व पिता की याद दिलाता है, बल्कि उसे बेचैन भी करता है। वह यह भी जानता है कि निखिल और उसके बीच के रिश्ते कितने औपचारिक होकर रह गए हैं, और यह कि वह निखिल को मन से स्वीकार नहीं कर पा रहा है। दूरियां बढ़ रही हैं। इस दुष्चक्र में फंसी यामिनी अभिनय करते हुए कभी निखिल के प्रति, कभी चुनचुन के प्रति और कभी पुतुल के प्रति अपनी निष्ठा जताते हुए बुरी तरह थक जाती है। वह निखिल और पुतुल दोनों को एक साथ पाना चाह रही थी, लेकिन दोनों ही हाथ से छूटते जा रहे थे। वह एक विभक्त मां और एक विभक्त पत्नी बनकर रह गई थी। कथा के इस अंश का सर्वाधिक सशक्त पक्ष है किशोर-मन की

सोच, उसका मनोविज्ञान। क्या कहीं एक स्त्री अपने भौतिक सुखों के लिए तो अपने को अपने अतीत से काटने की कोशिश नहीं कर रही है? कैसे कोई स्त्री अपनी वफादारियां इतनी जल्दी भुला सकती है? पुतुल के मन में कहीं प्रतिशोध की भावना भी है, तभी तो एक दिन मां को यह कहकर बुरी तरह आहत कर देता है- 'ममा! मैं पापा (विश्वास) का फोटोग्राफ पेपर में देने जा रहा हूं, उनकी पुण्यतिथि पर, क्या आपका नाम भी दे दूं?' क्या इस बहाने पुतुल मां को यह याद दिलाना चाहता है कि आज मेरे पिता की पुण्यतिथि है। अब एक नये पुरुष की पत्नी बनी यामिनी के लिए क्या यह आसान है कि सार्वजनिक रूप से पेपर में अपने पूर्व पति के विज्ञापन के नीचे अपना नाम दे! पुरानी यादों को उघाड़े, निखिल और जमाने के सामने। यामिनी सोचती है, इस तरह वह किस-किस को छलती रहेगी, अपने को, विश्वास को या निखिल को?

बाद में निखिल की भी अपनी पीड़ा रही है। उसने महसूस किया कि यामिनी हमेशा पुतुल के पास रही और विश्वास से भी पूरी तरह मुक्त न हो सकी। निजी क्षणों में भी उसे लगता, ये दोनों उसके दिलो-दिमाग पर छाए हुए हैं। ऐसे में क्या वह निखिल को भी अपना पूरा दे पाती होगी? पुतुल को लेकर अतिरिक्त सतर्कता सावधानी और अंदर छिपे अपराध बोध ने उसे शायद निखिल का भी पूरी तरह नहीं होने दिया। निखिल-पुतुल के परस्पर व्यवहार को देख यह सवाल भी सामने आता है कि खून का रिश्ता न हो तो दूसरे बेटे को अपने बेटे की तरह स्वीकार पाना संभव है? विशेषतः जब कि बाद में खुद अपना बेटा भी हो जाए। क्या पुतुल के लिए भी संभव था कि वह अपने पापा को भूलकर किसी अन्य को अपना पापा मान ले। इन मामलों में युवा होते किशोरों के मनकी उथल-पुथल की थाह पाना बहुत मुश्किल है। यह एक विवादास्पद प्रश्न है और व्यक्तियों की संवेदनाओं और परिस्थितियों पर निर्भर करता है।

अपनी पढ़ाई पूरी कर पुतुल मर्चेंट नेवी के मेरीन इंजीनियरिंग में चला गया - ठीक उसी जॉब में, जिसमें उसके पिता थे। क्या यह सब भावनात्मक जुड़ाव की वजह से था? या कि वह इस सारे जंजाल से दूर भाग जाना चाहता था, सबको आजाद करते हुए। लेकिन जाने से पहले उसकी संवेदनाएं जाग उठी थीं। साथ छूटने की पीड़ा भी उभर आई थी। चुनचुन, ममा और निखिल के प्रति उसका व्यवहार सहसा नरम हो गया था। जुदाई का गम कुरेदने लगा था। यामिनी दुःखी थी। उसके लिए अपने आंसुओं पर काबू पाना मुश्किल था। निखिल भी तरल हो आया था। यदि मनुष्य - जन्म है तो कोई एक हद से अधिक अमानवीय कैसे हो सकता है? लेकिन सतह पर सुखद दिखता अंत क्या सचमुच इतना सीधा सपाट है? क्या इससे यामिनी के अंदर का हाहाकार कम हो जाएगा? क्या यह सब भूलकर वह निर्द्वंद्व भाव से निखिल की यादों में समा जाएगी? ऊपर से शांत दिखने वाले सागर के अंदर कितने तूफान छिपे होंगे, इसका अनुमान क किसी के लिए संभव नहीं है।

उपन्यास के पात्रों की मानसिकता और उनके अंतर्द्वंद्व का इतना विश्वसनीय और जीवंत चित्रण क्या अनुभव की प्रामाणि के बिना संभव है? यह प्रश्न सहज ही किया जा सकता है लेकिन क्या यह संभव है कि रचनाकार हर उस अनुभव से गु जिसका उल्लेख वह अपनी कृति में कर रहा है। नहीं हर उ किरदार से गुजरना संभव नहीं है। तब? ज्ञान, अध्ययन, दूस के अनुभवों से जुटाई गई जानकारी और संवेदना के सह लेखक रचना को सच के करीब ले जा सकता है। सूर्यबाला स्त्री-मन, उसके स्वभाव और उसके मनोविज्ञान को जानने-समझ का जबरदस्त माद्दा है। अनुभव के साथ यदि भाषा, कला औ रचनात्मक कल्पना का जोड़ हो जाए तो फिर सोने में सुहागा भाषा और शिल्प, संवेदना और वैचारिकता के सच्चे वाहक है यह यामिनी कथा की प्रस्तुति से स्पष्ट है। किंतु यहां एक दूस प्रश्न भी मुंह बाए खड़ा है कि एक नारी की संवेदना को, उसक पीड़ा और संघर्ष को क्या कोई पुरुष उतनी ही तीव्रता से महसू कर सकता है, जितनी तीव्रता से एक स्त्री महसूस करती है कहा तो यहां तक गया है कि नारी की संवेदना को एक पुरु तो क्या, वह स्त्री भी ठीक से व्यक्त नहीं कर सकती जो क उस तरह के अनुभवों से गुजरी ही नहीं। दरअसल यह ए अंतहीन बहस का विषय होकर रह गया है।

यामिनी कथा का अन्य विचारोत्तेजक पहलू किशोर मन क वह उथल-पुथल है, जो विधवा मां को नये पुरुष के साथ शा रचाते देखता है। सूर्यबाला ने पुतुल के माध्यम से जिस किशो मानसिकता को रेखांकित किया है, वह शाश्वत है। सम विकसित करता कोई भी किशोर-कशोरी पिता को विस्मृत न कर सकता, न मां को दूसरों की बांहों में देख सकता है।

बहरहाल, स्त्री-विमर्श के विविध पहलुओं को प्रामाणिक से वयक्त करती सूर्यबाला की यह कृति विचारोत्तेजक भी और रोचक भी। अन्यथा मनोविश्लेषण से युक्त कथा कई ब जटिल होने लगती है, पर सूर्यबाला के अभिव्यक्ति कौशल उसे अंत तक पठनीय बनाए रखा।

81, बैराठी कॉलोनी नं. 2, इंदौर-1

प्रमोद त्रिवेदी

यामिनी कथा : स्त्री होने का अर्थ

यशस्वी कथाकार- सूर्यबाला के कालजयी उपन्यास यामिनी कथा से गुजरते हुए हिन्दी की यशस्वी कवयित्री- सुनीता जैन की कविता की ये पंक्तियां सहसा कौंधी तो अवश्य ही इसके आशय कुछ गहरे हैं -

"हे अन्तःकरण मेरे -
स्त्री का चाहना,
स्त्री को चाहना और बात है।"

यों तो इन सपाट-सी लगने वाली काव्य-पंक्तियों में "का" और "को" में एक मात्रा का ही अन्तर है, पर यही अन्तर स्त्री और पुरुष के सोच, परस्पर संबंध और स्त्री की नियति को तय कर देता है। काम यों तो प्राणि मात्र का एक प्राकृतिक संवेग है पर मनुष्य के पास संवदेन भी है। विशेष रूप से स्त्री के लिए काम, प्रेम की कोमलतम अनुभूति है। उसके लिए यह एक राग है जिसे हर संवेदनशील स्त्री उसके एक-एक स्वर को डूबकर गाती है। प्रेम उसके लिए केवल उत्तेजना और इस उत्तेजना का देह के स्तर पर परिशमन भर नहीं है। उसका एक अटूट स्वप्न है, जिसके कितने ही रंग और रंगाभास हैं। हर स्त्री अपने पुरुष को भी उन्हीं रंगों में रंगा देखना चाहती है। पर पुरुष का अधैर्य और उसकी मांग देह से आरम्भ हो कर देह पर ही समाप्त हो जाती है। इसी में पुरुष का प्राप्य। इसी में पुरुष की संतुष्टि!! और यहीं पर स्त्री अकेली हो जाती है, स्वप्न टूट-बिखर जाते हैं, स्वर बिखर जाते हैं, रंग फीके पड़ जाते हैं। स्त्री पुरुष की आत्मा से संवाद करना चाहती है। पुरुष से एक रिश्ते में बंधकर पूर्ण होना चाहती है। पर पुरुष के लिए ये सब कुछ निरी भावुकता है और पुरुष को इस बात का भी अभिमान की वह स्त्री की तरह भावुक नहीं है। पुरुष अहंकार भी स्त्री के उस कोमल राग का स्वर होने में सदा आड़े आता रहा है। स्त्री, पुरुष के लिए एक जरूरत है और स्त्री के लिए पुरुष का अर्थ उसके स्वप्नों का, उसके भीतर से उठती भीनी सुगंध का विस्तार! पुरुष अपने प्राप्य से संतुष्ट और स्त्री धीरे-धीरे अपने रंग खो देती है, राग को भूल जाती है और इसे अंततः हर स्त्री अपनी नियति मान लेती है। यही है- 'स्त्री का चाहना' और 'स्त्री को चाहना' का फर्क।

'यामिनी कथा' इसी सूत्र का मार्मिक कथा विस्तार है।

सुनीता जैन की उपर्युक्त काव्य-पंक्तियां "अभिज्ञान शाकुन्तलम," की शकुन्तला के भावोद्गार हैं और "यामिनी कथा" हमारे समय या हमारे बीच की ही एक संवेदनशील की करुण कथा! आश्चर्य यह कि लगभग दो हजार वर्षों में न पुरुष बदला न ही स्त्री की मूल प्रकृति। संज्ञाएं चाहें दुष्यन्त से विश्वास या निखिल हो गई या शकुन्तला से यामिनी। बदले तो कथा के धरातल बदले। घटनाएं बदल गईं, बस।

पुरुष, स्त्री को समझने में एक बड़ी भूल यह भी करता रहा है कि भौतिक सुख सुविधाओं के अम्बार लगाकर स्त्री को सुखी या संतुष्ट किया जा सकता है। "यामिनी कथा का विश्वास भी तो यही करता है। जब-जब भी जहाज की नौकरी करते हुए घर आता है तो न जाने कितनी तरह के पर्फ्यूम, शिफान, कैसेट्स, हीरे और पता नहीं कितनी-कितनी चीज़ों से लदा-फंदा आता है और सब में ये सब बांट कर अपना "प्राप्य" ले कर लौट जाता है। अपनी पत्नी के दिल में झांकने की उसने न तो कोशिश की, न ही इसकी जरूरत समझी। एक जहाजी का सोच यही तो होता है- "लो, अब मुझे जितना चाहिए था, ले लिया- कोई जबरदस्ती है क्या? यहां से बस इतना ही कोयला-पानी, बाकी इसके आगे के बंदरगाहों पर। अपने से पोर्टएज, पोर्ट स्वेज से, पोर्ट सईव, मिस्र, यूनान और वेनिस..." तो क्या उसका घर भी एक पोर्ट था- "पोर्ट घर..."? सब कुछ पाकर यामिनी-विश्वास की पत्नी के मन का एक खाली कोना कभी भरा ही नहीं। एक कोना तो विश्वास के मन का भी खाली था, दैहिक तृप्ति से वह भर भी नहीं सकता था। यह उसे तब पता चला जब बहुत देर हो चुकी थी।

पुतुल के आगमन से विश्वास में से एक भिन्न विश्वास का अवतार! इस अवतार से यामिनी अपनी केन्द्रीयता खोने लगी। केन्द्र में बेटा पुतुल आ गया। अपना यह दाय दे कर यामिनी की भूमिका लगभग खत्म! फिर एक असाध्य रोगी के रूप में विश्वास के अवतार के सामने यामिनी को कठोर से कठोरतर इम्तहान देने थे, दिये। नतीजा भी ज्ञात था पर इम्तहान से खुद को अलग किया ही नहीं जा सकता था। एक मध्यवर्गीय भारतीय स्त्री जो कुछ दाव पर लगा सकती थी, उसने लगाया। अपनी हैसियत से बाहर जो कुछ कर सकती थी, किया। विश्वास के मन में पश्चाताप था कहीं, पर लाचार! कथा का एक तयशुदा मध्यांतर! बड़े हो रहे बेटे का भविष्य, जिम्मेदारियां! भविष्य, गंतव्य का कोई अता-पता नहीं। यामिनी कुछ सोचे भी तो उसका कोई अर्थ नहीं। पर विश्वास की मृत्यु से यामिनी के संघर्ष कहां खत्म हुए।

इस नाटक में नये नायक का प्रवेश होता है। यामिनी के जीवन में निखिल का प्रवेश। "दुख भरे दिन बीते रे भैय्या, अब सुख आयो रे।" फिल्मों में ही घटित होता है। शुरू में जरूर लगा, कि यामिनी का "कृष्ण-पक्ष" पूरा हुआ। अब "शुक्ल पक्ष" आरम्भ होगा पर...

शुरू-शुरू में जरूर लगता है निखिल, विश्वास से अलग है। पर "अभिज्ञान शाकुन्तलम्" के नायक दुष्यन्त की तरह निखिल को

भी लगा-

"भव हृदय साभिलाष संप्रति संदेह निर्णयोजातः।
आशंक से यदग्निं तदिदं स्पर्शक्षमं रत्नम्।।"

अर्थत- तू आशा न छोड़। जो दुविधा थी, वह तो जाती रही। क्योंकि तू जिसे अग्नि समझकर छूने से डरता था, वह तो छूने योग्य रत्न निकल आया। स्त्री यानी छूने योग्य रत्न!!! यही स्त्री का गुण- उसकी योग्यता!

निखिल अर्थात बत्तीस वर्ष का व्यक्ति, अविवाहित, मदद के लिए तत्पर। मित और मधुर भाषी, शालीन। वह आकर्षित होता है अपने से चार वर्ष बड़ी, छत्तीस वर्षीया, विधवा, एक बेटे की मां अपने अतीत से दंशित यामिनी की ओर। इन सब बातों का प्रेम में कोई अर्थ नहीं होता और जो जोड़-बाकी के हिसाब-किताब के अनुरूप होता है वह और कुछ हो, प्रेम तो नहीं ही होता है। यह प्रेम का अंकुर भी पहले निखिल में अंकुरित हुआ। क्या वह यह नहीं जानता था कि यामिनी थकी-हारी और भीतर से टूटी हुई स्त्री है? बाहर से यह टूट-फूट चाहे नज़र न आती हो तब भी। उसमें 'यामिनी में' अब वह आवेश-आवेग भी शेष नहीं है, जब कि निखिल की यदि अपेक्षाएं उद्दाम होना स्वाभाविक ही है। ...क्या यामिनी निखिल के लिए भी **छूने योग्य रत्न** थी?

विश्वास, यामिनी की युति। इसमें सुख भी तनाव भी। दो छोर मिलते हैं तो टकराते हैं। यामिनी की कुछ शिकायतें हैं तो समझौते के लिए उसमें लोच भी है। यही भारतीय स्त्री का गुण है, उसकी पहचान। अपनी नियति को यामिनी स्वीकार कर चुकी है। उसके पास उत्तर आधुनिक हर्बे- हथियार नहीं हैं पर वह दब्बू भी नहीं है। अपनी मर्यादा वह जानती है। इन दो छोरों से एक और बिन्दु उभरता है। वह है- पुतुल। यह एक नया त्रिभुज बनता है। इस त्रिभुज में विरोध और शिकायतें गौण हो जाते हैं। विश्वास को 'फल' प्राप्ति हो जाती है। लगता है, सांसें सम पर लौट रही हैं।

जिस बिन्दु पर जब तक विश्वास था- यामिनी का पति, अब निखिल नज़र आ रहा पति की भूमिका में। यामिनी अपने ही बिन्दु अपनी भूमिका में। और तीसरा बिन्दु-पुतुल!! यामिनी की भूमिका कठिन हो जाती है क्योंकि उसे तो निखिल और पुतुल दोनों ही बिन्दुओं को साधना है। पुतुल के अपने तनाव अलग तरह के हैं। इस नए त्रिभुज से पुतुल खिसक जाना चाहता है। वह है भी और नहीं भी है। है तो घोर विचलित! यामिनी की सारी ऊर्जा इस त्रिभुज को संतुलित करने में खत्म होती रहती है। जो 'रत्न' उसे कभी स्पर्श करने योग्य लगा था, अब वह पूरी तरह उसकी मुट्ठी में है- उसका। इसलिए... एक तनी हुई रस्सी के दोनों छोरों के बीच संतुलित करने में ही यामिनी की सांस अटकी रहती है। जिस पुतुल की सुरक्षा के लिए यामिनी ने साहसिक या दुःसाहसिक निर्णय लिया, वह भी तो उससे भाग रहा। यों भी त्रिभुज असंतुलित था और अब निखिल- यामिनी के परिणय का प्रतिफल चुनचन मिल गया शीघ्र ही। इस त्रिभुज में यह एक और कोण जुड़ा तो इस त्रिकोण में पुतुल की स्थिति? क्या वह इस नए त्रिभुज में अप्रासंगिक हो गया? हुआ तो किसके लिए? या यदि एक चतुर्भुज निर्मित हुआ तो कितना बढ़ेगा!!! अबोध चुनचन को तो पता भी नहीं कि उसके आगमन से कितना कुछ गड़बड़ा गया। पर हर बिन्दु की चूलें हिल गईं। जो अप्रिय और तीखे संवाद कभी विश्वास और यामिनी के बीच हो जाते थे, अब निखिल-यामिनी के बीच भी वैसी टकराहट! इस इक्कीसवीं सदी में स्त्री-स्वातंत्र्य और उसकी अस्मिता के चाहे जितने बखान हों, कुछ नाम हमारी ज़बान पर आते रहे, स्त्रियां आर्थिक स्वतंत्रता हासिल कर समानता का दावा करें, बहस हों, बहस में आकाश एक हो जाएं। पर वर्चस्व अभी भी पुरुष का ही है। वही मुखिया।। वही सूत्रधार! वही नियामक!

जिस पटरो पर विश्वास-यामिनी की गाड़ी चल रही थी, निखिल के साथ वह पटरी बदल गई, पर क्या यामिनी कथा बदली? विश्वास और निखिल में फर्क है? है तो किना? पटरी बदल गई हो, पर दिशा कहां बदली! नायक बदल गए। स्थितियां नहीं बदली। यामिनी कथा यानी कृष्ण-पक्ष का ही विस्तार!!!

शिल्प की दृष्टि से यदि देखा जाए तो सातत्य यामिनी कथा का है। इस कथा में पात्र बदलें, चाहे किसी की भूमिका असमय समाप्त हो गई हो या कोई यामिनी के जीवन में अकस्मात प्रवेश कर गया हो। उलझाव कम कहां हुए। इसलिए 'यामिनी कथा' का आरंभ और उसका क्रमिक विकास नज़र नहीं आएगा। जीवन यों भी सरल और सीधा-सादा नज़र आए सतही तौर पर, पर उसकी अन्तर्धाराएं अनुमान से परे होती हैं। 'यामिनी कथा' में भी आगे-पीछे जाने की पूरी छूट ली गई है। इसीलिए आरंभ निखिल, यामिनी और चुनचुन के प्रसंग से होती है- "निखिल चुनचुन को बाहों में झुलाकर जोर से उछाल रहे हैं- जैसे विश्वास पुतुल को- सालों साल पहले।" कितना कुछ समेट लिया है इस एक वाक्य में सूर्यबाला जी ने! जैसे विश्वास वैसे ही निखिल! जैसा विश्वास के लिए बेटा-पुतुल वैसे ही निखिल के लिए उसका बेटा-चुनचन लेकिन यामिनी कहां है? किचन में नाश्ता तैयार करती, अपने काम में जुटी उस सुख से दूर। उसमें शामिल भी तो किचन में अपना काम करते हुए। सूर्यबाला जी से पूछा जाना चाहिए कि क्या यह आरम्भ आकास्मिक है या सुविचारित? एक सजग लेखक के लेखन में आकस्मिक कुछ भी नहीं होता। पहले वाक्य से ही लेखक के मन-मस्तिष्क में अपनी रचना का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। हां रचना के दौरान कुछ चीजें जरूर घट बढ़ सकती हैं। मैं इतना जरूर कह सकता हूं कि "यामिनी कथा" को रचते हुए

लेखिका ने भी यामिनी के तनाव को उसकी पीड़ा विवशताओं को गहराई से झेला होगा क्योंकि यामिनी पात्र ही ऐसा है जो आपकी संवेदना पर पूरा कब्जा कर लेता है। इसके लिखे जाने के कई दिनों बाद तक यामिनी, सूर्यबाला पर हावी रही हो तो आश्चर्य नहीं।

यामिनी हमारे समय और हमारे बीच की उपज है। उसे क्या चुनना है और क्या करना है, वह अच्छी तरह जानती है। जब वह निखिल को वरण करने का निर्णय ले लेती है तो फिर उसे किसी की न तो परवाह है, न ही संकोच। यह साहस और दृढ़ता उसमें है, पर जब-जब हारती है- मां यामिनी हारती है। मां हो कर उसके तनाव गहरे होते चले जाते हैं। शायद हर भारतीय मां ऐसी ही होती है- कातर! डब-डब!! यह हमारे संस्कार की बात है जो छूटते नहीं।... और छोड़ना भी क्यों?

"यामिनी कथा" की यामिनी यों तो एक व्यक्ति वाचक संज्ञा है। जिसके नाक-नक्श एकदम साफ हैं पाठक के सामने। बहुत मेहनत और बारीकी से लेखिका ने अपने इस औपन्यासिक पात्र में रंग भरे हैं। एक समग्र छबि बन जाती है यामिनी की। व्यक्तिवाची संज्ञा होकर यामिनी के अपने सुख-दुःख सामने आते हैं। पर "यामिनी कथा" से गुज़र कर मुझे लगा कि यह यामिनी नामक व्यक्ति वाचक संज्ञा, जतिवाचक संज्ञा होती चली जाती है। समाज जिस तरह से टूट-बिखर रहा है। तनाव जिस तरह बढ़ रहे हैं। हमें लगता है कि कभी कोई भूचाल आएगा और जो ऊपर से रम्य और ठीक-ठाक लग रहा है, वह फट जाएगा, पर यह भारतीय स्त्री की सहन शक्ति है कि सारे थपेड़ों को झेलकर भी रिश्तों को टूटने से बचा लेती है। इस में वह स्वयं चाहे और बिखर जाए। यह कहानी किसी पाठक के पड़ोस की भी हो सकती है। यामिनी उस कहानी की नायिका न होकर कोई शालिनी ऐसी ही स्थितियों से गुज़र रही हो। इसलिए "यामिनी कथा" चाहे सूर्यबाला की रचना हो पर यह हवा में नहीं रची गई। और यदि यामिनी हर संवेदनशील पाठक की सहानुभूति अर्जित करती है तो यही रचना, रचनाकर्म और रचनाकार की प्रामाणिकता का प्रमाण है।

पुतुल, ने निखिल, यामिनी और चुनचुन की संयुक्तता में अपने को बाहरी (outsider) मान लिया था। यह उसकी अपनी सोच थी। न निखिल ने कभी चाहा कि पुतुल को बाहरी समझने लगे। यामिनी तो उसका कुछ ज्यादा ही ध्यान रखती थी पर पुतुल को खुद घर में अपनी उपस्थिति अखरने लगी। वह अपनी मां से जितना कटता गया, अपने दिवंगत पिता के करीब होता गया। इस पराये घर में रहना उसकी विवशता थी। जिस दिन वह मजबूरी खत्म हो गई वह इस बंधन से मुक्त हो गया।

पुतुल ने भी आखिर अपने भविष्य को चुना तो उसी दिशा को जिस ओर कभी उसके पिता गए। क्यों चुना उसने यही रास्ता? क्या अपनी मां को आहत करने के लिए? यामिनी, पुतुल की मां ने जो निर्णय लिया था निखिल के साथ एक नए जीवन की शुरूआत करने का, पुतुल का इस निर्णय के प्रति क्या वह खुला विद्रोह था? क्या वह, यह जतलाना चाहता था कि- "मां तुम्हारे पति तो अपनी बीमारी और भीषण कष्ट उठा कर एक दिन मर गए पर मेरे पिता मेरे लिए आज तक नहीं मरे। बल्कि तुम अपनी नई जिम्मेदारियों-व्यस्तताओं में मुझसे दूर होती चली गईं, मेरे पिता मेरे उतने ही निकट आते चले गए। वह तुम्हारा अपना संसार है जिसमें तुम, निखिल और चुनचुन है, मेरा नहीं।" अपनी मां को वह दुःख देना कतई नहीं चाहता था, पर उसकी हरकतों से वह आहत तो थी। स्तब्ध भी। पुतुल यों तो यामिनी का बेटा ही है पर जेंडर से तो पुरुष ही है न! वह खुद अपनी मां की मजबूरी और संवेदन को कहां समझ सका? क्या वह कभी समझ पाया कि मां के निर्णयों और तमाम वजहों में एक वजह और अहम् वजह वह खुद भी रहा? बात फिर वहीं लौटकर आती है-

"हे अन्तःकरण मेरे-
स्त्री का चाहना,
स्त्री को चाहना और बात है।"

और अन्त में-

पुतुल का मर्चेंट नेवी इंजीनियरिंग में प्रवेश लेने का निर्णय, कहीं "यामिनी कथा" की पुनरावृति की भूमिका तो नहीं। पुतुल का नए विश्वास में ढलना और रिवाइंड होकर फिर इसी के दृश्य-दृश्य फिर खुलना। लिखा जाना फिर, स्त्री की नियति का करुण मार्मिक आलेख? ठीक यामिनी कथा जैसा। क्या कथाकार सूर्यबाला के मन में यह बात रही? रही तो क्यों? यह सवाल मन में उठा है तो उनसे यह सवाल पूछने का मन भी हो रहा है।

मन्वन्तर
205, सेठी नगर, उज्जैन
मध्य प्रदेश - 456010

डॉ. कृपाशंकर सिंह

विवाद से ऊपर है सरस्वती नदी

पॉयनियर अंग्रेजी दैनिक के 13 दिसम्बर 2009 में एक ख़बर प्रकाशित हुई है जिसके अनुसार सरस्वती नदी को लेकर भारत सरकार के रुख में बदलाव की बात कही गई है। भारत सरकार के मंत्री ने राज्यसभा में पूछे गये एक प्रश्न के उत्तर में कहा है कि वैदिक सरस्वती नदी के भूमिगत जलमार्ग को वैज्ञानिकों ने ढूंढ लिया है। अब इसमें कोई संदेह नहीं रह गा है। भारत सरकार के जल संसाधन मंत्रालय के मंत्री ने अपने लिखित उत्तर में इस संबंध में शोधकर रहे कई संस्थानों के निष्कर्षो के हवाले से इसे प्रस्तुत कियां है। जिन प्रमाणों को सामने रखा गया है, उनमें भारतीय अंतरिक्ष अनुसंधान संगठन 'इसरो' तथा राजस्थान सरकार के भूमिगत जल विभाग के संयुक्त बक्तव्य का हवाला दिया गया है, जो 'जर्नल ऑफ इंडियन सोसायटी ऑफ रिमोट सेंसिंग' में प्रकाशित है। इसमें कहा गया है कि पूर्व हड़प्पा, विकसित हड़प्पा तथा परवर्तीय हड़प्पा काल के उस सम्पूर्ण क्षेत्र में विशाल सरस्ती नदी प्रवाहित हो रही थी। ऋग्वेद में जिस वृहदाकार सरस्वती का वर्णन है, यह वही नदी है।

यू.पी.ए. सरकार की यह स्वीकारोक्ति महत्वपूर्ण है। पिछली राजग सरकार ने सरस्वती नदी के प्रवाहमार्ग की खोज के लिए विशेपज्ञों की एक टीम का गठन किया था, जिसमें इसरो के बलदेव सहाय, पुरातत्ववेत्ता एस. कल्याण रामन, हिमनद विज्ञान के वाई.के. पुरी तथा जल सलाहकार माधव चितले शामिल थे। यह कार्य सितम्बर 2003 में 'सरस्वती नदी हेरिटेज प्रोजेक्ट' के तौर पर आरम्भ किया गया था। पर 2004 में यू.पी.ए. सरकार के गठन के बाद साम्यवादी दबाव में इस प्रोजेक्ट को ठंडे बस्ते में डाल दिया गया था। बावजूद इसके कि इसरो, भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण, भारतीय भूगर्भ सर्वेक्षण, तेल और प्राकृतिक गैस निगम, भामा परमाणु अनुसंधान केन्द्र तथा केन्द्रीय भूमिगत जल प्राधिकरण के विशेपज्ञों ने सरस्वती नदी की विद्यमानता को माना था।

सरस्वती नदी के प्रवाह-मार्ग की खोज से सम्बन्धित 'सरस्वती नदी शोध संस्थान' नाम की एक गैर सरकारी संस्थान ने कुरुक्षेत्र में अक्टूबर 2008 और नवम्बर 2009 में सेमिनार आयोजित किए थे; जिनमें इसरो, ओ.एन.जी.सी. तथा जी. एस.आई. आदि से सम्वद्ध विशेपज्ञों को आमंत्रित किया गा था।

इस तरह भूगर्भ वैज्ञानिकों और पुरातत्वविदों ने हिमाल से लेकर समुद्र में मिलने तक का सरस्वती नदी का पूरा खा पुष्ट प्रमाणों से सिद्ध कर दिया है, पर अभी भी कई इतिहासक ऐसे हैं जो इन सारे प्रमाणों को झुठला कर सरस्वती अफगानिस्तान की हेल्मंद नदी बताने के पूर्वाग्रह को पकड़े हैं। यह कुछ उसी तरह का दुराग्रह है जैसे कि आर्यों आक्रमणकारी बताने की जिद को पकड़े रहना है।

अपनी एक पुस्तक में प्रसिद्ध साम्यवादी इतिहासकार र शरण शर्मा ने सरस्वती को सिन्धु की एक सहायक नदी क है। इसके लिए उन्होंने पाकिस्तानी पुरातत्ववेत्ता एम. रफी मुगल के एक लेख (ग्रेगरीं एम. प्रोशेल-एन्सेंट सिटीज ऑफ इंडस, विकास में संकलित) को प्रमाण माना है, जिसमें घग को सिंधु की एक सहायक नदी बताया गया है। राम श शर्मा का यह भी कहना है कि साम्प्रदायिक तत्वों ने, जिन्हों सरस्वती को सिन्धु से अधिक महत्वपूर्ण बताया है, उसके पी हिन्दू साम्प्रदायिक सोच रही है। अपनी पुस्तक 'एडवेंट ऑ द आर्यस इन इंडिया' में इंस विषय पर और भी काफी कु कहने के बाद रामशरण शर्मा ने बाद में यह कहा है कि ऋग्वे में जिस सरस्वती का उल्लेख है, वह अफगानिस्तान में बह वाली हेल्मंद है। इसी हेल्मंद को 'अवेस्ता' में 'हरखवती' क गया है।

'आलोचना' पत्रिका में दिए गए अपने एक साक्षात्क 'जून 2001' में रामशरण शर्मा ने यह भी कहा है कि "ज नहीं कि सरस्वती किसी नदी का नाम हो। वह नदियों की दे भी हो सकती है।" अर्थात 'सरस्वती' नदी का नाम न हो नदियों की देवी का नाम है।

जबकि सच्चाई यह है कि ऋग्वेद में ऐसे अनेक ऋचाएं जिनमें सरस्वती को एक नदी के रूप में चित्रित किया गया है ऋचाओं में बहुत साफ शब्दों में ऋषियों ने कहा है सरस्वती पर्वतों से निकल कर समुद्र तक जाती है। ऋ वसिष्ठ, जिनका नाम ऋग्वेद के प्राचीनतम ऋषियों में लि जाता है, ने नदियों में शक्तिशालिनी सरस्वती के लिए स्तो का गान किया है। आर्यजन उसके दोनों तटों पर बसते हैं वह नदियों में सर्वश्रेष्ठ- नदीतम कही गई है। नदियों श्रेष्ठतम होने के कारण कुछ ऋचाओं में उसे नदियों की दे कहा गया है और सभी नदियों के साथ यज्ञ में आने आह्वान किया गया है।

ऋग्वेद के दसवें मंडली के सूक्त पचहत्तर की पांचवीं ऋ में पूर्वोत्तर और पश्चिमोत्तर की उन नदियों के नाम हैं, जि

पूर्व से पश्चिम के क्रम में रखा गया है :-

इमं में गंगे यमुने सरस्वती शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्ठ्या।
अस्क्नि्या मरुद्वृधे वितस्तया आर्जीकीये शृणुहया सुषोमया।।

'हे गंगा, यमुना, सरस्वती, शुतुद्रि (सतलुज) पसाष्ठी (रावी) असिक्नी (चनाव) के साथ मरुद्वृधा, वितस्ता (झेलम) सुषोमा (सोहन) और आर्जीकीया नदियों! मेरे इस स्तोत्र को स्वीकार करो।'

स्पष्ट ही है कि नामों का यह क्रम पूर्व से पश्चिम की ओर वाली नदियों का है। इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि बहुचर्चित और बहुप्रतिष्ठित सरस्वती, यमुना और सतलुज के बीच के भूमिभाग में बहने वाली नदी थी। अब तक जितने पुरातात्विक और भूगर्भ वैज्ञानिक शोध किये गए हैं, उसके निष्कर्ष भी यही बताते हैं।

जो लोग सरस्वती को सिन्धु की सहायक नदी के रूप में देखते हैं, उनके लिये इतना कहना पर्याप्त होगा कि सरस्वती अपने प्रवाह मार्ग में कही भी सिन्धु से नहीं मिलती।

जहां तक सरस्वती के हिमालय से निकलने का सवाल है, दो भूगर्भविदों-वी.एम. के पुरी तथा बी.सी. वर्मा (1998) ने इसे लेकर एक आलेख प्रस्तुत किया है। सरस्वती की विशाल जलराशि जिन हिमनदों (ग्लेशियर) से निकलती थी, उन्होंने उनका वैज्ञानिक खाका प्रस्तुत किया है। इन हिमनदों में सरस्वती हिमनद के अतिरिक्त जामादार ओर सुपिन हिमनद हैं। ये हिमनद मैतवार के निकट आपस में मिलते हैं, जो सरस्वती नदी का उद्गम रहा था।

सरस्वती हिमालय के हिमनदों से निकल कर समुद्र में मिलती है, इसका स्पष्ट उल्लेख ऋग्वेद के सातवे मंडल में है। वह ऋचा इस तरह है-

एका चेतत् सरस्वती नदीनां शुचिर्यती गिरिभ्य आ समुद्रात।
रायश्चेतन्ती भुवनस्य भूरे घृतं पयोदुदुहे नाहुषाय।। (7,95,2)

"सभी नदियों में पवित्रतम तथा पर्वत से निकलकर समुद्र तक जाने वाली (गिरिभ्यः आ समुद्रातयती) यह एक ही सरस्वती नदी चेतनायुक्त सी चल रही है। यह सरस्वती भुवन के भूरि-भूरि धन को चेताती नहुप को घृत और दूध प्रदान करती है।"

सरस्वती, जिसकी विशालता और जिसके विकराल प्रवाह को लेकर ऋग्वेद में कई ऋचायें हैं, जो पर्वतों के पादों को कमलमूल की तरह उखाड़ती चलती है, और जो नदीतमे-नदियों में श्रेष्ठतम कही गई है वह सरस्वती कब और क्यों सूखी?

इसका जवाब भी पुरी और वर्मा ने दिया है। बी.बी. लाल ने उसे उद्धृत करते हुए कहा है कि उनके अनुसार, एक बहुत बड़ा भूचाल इसका कारण था, जिसके कारण सरस्वती का पश्चिम की ओर का बहाव शिवालिक के अधवद्री के पास अवरुद्ध हो गया और नदी की एक धारा पूर्व में यमुना की ओर मुड़ गयी। बी.बी. लालने यह लिखा है कि काली बंगा, जो सरस्वती तट की विकसित हड़प्पा काल की सुनियोजित बस्ती थी, उसका ह्रास 1900 ई. पू. के आसपास हो जाता है। ह्रास का यह समय रेडियो कार्बन साक्ष्य से निर्धारित किया गया है। बी.बी. लाल (दि अर्लिएस्ट सिविलाइजेशन ऑफ साउथ एशिया, 1997) के अनुसार सरस्वती के तट की कालीबंगा बस्ती सरस्वती के सूख जाने के कारण उजड़ी थी।

जहां तक सरस्वती के विद्या और कला की अधिष्ठायी होने का प्रश्न है, ऋग्वेद में इस सम्बन्ध में अधिक नहीं कहा गया है, एकाध ऋचा ही मिलती है, सरस्वती बाद के ब्राह्मण ग्रंथों में वाग्देवी के रूप में मान्य हुई। सरस्वती का विद्या और कला की अधिष्ठात्री देवी का रूप इस तरह से सर्वमान्य हुआ कि वह मान्यता आज तक अक्षुण्ण बनी हुई है।

ऋग्वेद के प्रथम मंडल में कहा गया है-

महो अर्ण : सरस्वती प्र चेतयति केतुना। धियो विश्वा वि राजति।। (1, 3, 12)

"सरस्वती शब्द रूपी अगाध समुद्र को उद्घोषित करने वाली है, वही मनुष्यों में सब तरह की बुद्धि को प्रकाशित करती है।" इस ऋचा में 'धी' शब्द विशेष महत्व का है। 'ध ी' अर्थात बुद्धि, प्रज्ञा, जो ज्ञान के प्रकाश का विस्फारण करती है।

यह सम्भावना हो सकती है कि बाद के ब्राह्मण ग्रंथों (शतपथ ब्राह्मण 3-9-1, ऐतरेय ब्राह्मण 3,1) और पुराणों में सरस्वती के वाग्देवी के रूप का जो विस्तार हुआ, उसके मूल में ऋग्वेद की यह ऋचा रही हो। पर ऋग्वेद में इस ऋचा के पीछे का भाव यह भी हो सकता है कि सरस्वती नदी का तट ही अधिकतर ऋषियों का वास रहा है, और उसी तट पर ऋग्वेद का मान होता रहा है, इसलिए उसे सब बुद्धियों को प्रकाशित करने वाली बताया गया। सरस्वती नदी के प्रति अतिरिक्त श्रद्धाभाव इसकी पृष्ठभूमि में रहा हो सकता है।

ऋग्वेद में इस तरह की ऋचाओं की संख्या अधिक नहीं है, जिनमें सरस्वती की स्तुति नदी से अलग केवल देवी के रूप में ही की गई हो। अधिकतर ऋचायें ऐसी हैं जिनमें सरस्वती को देवी कहा गया है, पर साथ ही उसका नदी रूप उसमें से परिलक्षित होता है।

विश्वामित्र ने भी सरस्वती की स्तुति में कई सूक्तों की

रचना की है। तीसरे मंडल के चौथे सूक्त की आठवीं ऋचा में वे कहते हैं-

आ भारती भारतीभिः सजोषा इला देवैर्मनुष्ये मिराग्निः।

सरस्वती सारस्वते भिरर्वाक् तिस्त्रो देवीर्बाहिरेदं सदन्तु।।

"भारती भारतीयों के साथ, इडा देवताओं के साथ और अग्नि मनुष्यों के साथ आवे। सरस्वती सारस्वत जनों (सरस्वती तट के जनों) के साथ आवें। तीनों देवियां आकर हमारे सम्मुख इस कुश पट बैठें।

स्पष्ट है कि सारस्वत से विश्वामित्र का आशय सरस्वती नदी के तट के जनों से होगा। अर्थात सरस्वती नदी है, पर देवी के समान पूज्य है।

यहां इस बात को भी नहीं भूलना चाहिए कि ऋग्वेद के ऋषि वनों, वनस्पतियों, प्राकृतिक दृश्यों, पशुपक्षियों का गान भी देवता के रूप में करते हैं; वे जड़ पदार्थ को भी चेतना के रूप में देखते हैं। सरस्वती की महत्ता उनके लिए और भी अधिक है। वह उन्हें जीवनदायी जल प्रदान करती है। उसी से सिंचित उर्वर भूमि में उनके लिए अन्न पैदा होता है। उसी के तट पर ये ऋषि ऋग्वेद का गान कर रहे थे, यहीं उनमें काव्य-प्रतिभा प्रस्फुटित हुई थी। सरस्वती के तट पर राजा से लेकर राजक और जन बसे हुए थे। सरस्वती के प्रति ऋषियों के मन में आदर और सम्मान के कारण उसे देवी रूप में प्रतिष्ठित किया गया। आज भी हम गंगा को देवी मान कर पूजा करते हैं। हरिद्वार में गंगा का मंदिर भी है और सामान्य तया गंगा की धारा को ही देवी माना जाता है।

एक ऋषि ने आठवें मंडल में कहा है-

चित्र इदराजा राजका इदन्य के यके सरस्वती मनु।

पर्जन्य इव ततनद्धि वृष्ट्या सहस्रमयुता ददत्।। 8.21.18

1. रामायण काल के वसिष्ठ और विश्वामित्र का ऋग्वेद के ऋषि वसिष्ठ और विश्वामित्र से कोई सम्बन्ध नहीं है। दोनों के समय में कई हजार वर्ष का अंतराल है।

"जिस प्रकार बादल वर्षा से धरती को सम्पन्न बनाते हैं, उसी प्रकार सरस्वती के तट पर रहने वाला राजा चित्र तट के दूसरे राजकों (छोटे राजाओं) को सहस्त्रों धन से प्रसन्न करता है।"

ऋग्वेद में विशालता की दृष्टि से दो नदियां सबसे विशाल बताई गई है- एक सरस्वती और दूसरी सिंधु। सरस्वती महत्व और पूजनीयता तथा पवित्रता की दृष्टि से सबसे ऊपर है। इसीलिए सरस्वती पर नदियों में सबसे अधिक कहा गया है। तीस ऋचाओं में तो इसका गान है और बीसेक ऋचाओं में उल्लेख है। कई सूक्तों की सभी ऋचायें सरस्वती को लेकर ही हैं; जैसे मंडल छह के सूक्त, इकसठ की चौदह ऋचायें और सातवें मंडली के सूक्त, पंचानबे की छह ऋचायें सरस्वती नदी को ही समर्पित हैं।

छठे मंडल में ऋषि भरद्वाज सरस्वती नदी की प्रार्थना करते हुए कहते हैं- "हे सरस्वती, हमें अपने जल से वंचित मत करो, हमें दूर भी मत करो। हमारी मैत्री और भक्ति को स्वीकार करो, हम तुम्हारे पास से दूर वनों में न जाए। (6.61.14)

दो और ऋचाओं में भरद्वाज कहते हैं-

उतनः प्रिया प्रियासु सप्तस्वसा सुजुष्टा। सरस्वती स्तोम्या भूत।।

"प्रियाओं में प्रिया गंगा आदि सात बहनों (नदियों) वाली तथा प्राचीन ऋषियों द्वारा सेवित सुप्रसन्ना सरस्वती हमारी स्तुतियां सुनें।'

एक और ऋचा में कहा गया है-

प्रया महिम्ना महिनासु चेकिते द्युम्तेमिरन्या अपसामपस्तमा।

रथ इव बृहती विम्बने कृतो पस्तुत्या चिकितुषा सरस्वती (6.61.13)

'अन्य सभी नदियों में प्रधान सरस्वती सर्वाधिक जलवाली है। वह यश से युक्त व बड़प्पन में बहुत महान है। वह रमणीय आकाश के समान बढ़ी हुई और अधिक गुणवाली है।'

ऋग्वेद के दूसरे मंडल में गृत्समद ने भी सरस्वती को लेकर ऋचायें कही हैं-

अम्बितमें नदीतमे देवितमे सरस्वती।

अप्रशस्ता इव स्मसि प्रशास्तिमम्ब नस्कृधि।। (2.41.16)

'माताओं में सर्वोत्तम, नदियों में सर्वोत्तम, देवियों में सर्वोत्तम हे सरस्वती। हम जो अप्रशस्तों के समान हैं उन्हें प्रशस्ति के योग्य बनाओ।'

एक और ऋचा में उन्होंने कहा-

इमा ब्रह्मं सरस्वती जुबस्व वाजिनीवति।

या ते मन्म गृत्समदा ऋतावरि प्रिया देवेषु जुह्वति। (2.41.18)

'हे अन्न और जल से युक्त सरस्वती, हमारी स्तुति को स्वीकार करो। हम गृत्समद वंशी ऋषियों ने देवो का प्रिय हव्य तुम्हें दिया है।'

तीसरे मंडल में सरस्वती के साथ उसकी दो सहायक नदियों दृषद्वती और आयया के नाम भी लिए गए हैं। जिनके तटों पर रहने वाले आर्यों के गृह में धन से युक्त होकर दीप्तिमान होने की प्रार्थना अग्नि से की गई है।

नित्वा दधे वर आ पृथिव्या इलायास्पदे सुदिनत्वे अह्नाम।

दृषद्वत्यां मानुष आपयायां सरस्वत्यां रेवदग्ने दिदीहि।। (3.2.3.4)

हे अग्नि, उत्तम दिनों की प्राप्ति के लिए, धरती के उत्तम अन्न स्थान में मैं तुम्हें स्थापित करता हूं। हे अग्नि तुम दृषद्वती अपया और सरस्वती के तटों पर मनुष्यों के हित दीगतिमान होवो।'

वसिष्ठ सरस्वती नदी से अन्न देने की प्रार्थना करते हैं।

उभे यत् ते महिना शुभ्रे अन्ध-सी अधिक्षियन्ति पूरवः।
सा नो बोध्यवित्री मरुत्सखा चोद राधोमधोनाम।।

(7.96.2)

'हे शुभ्रवर्ण वाली सरस्वती नदी! यह तेरी महिमा है जिससे पुरुजन तुम्हारे दोनों तटों पर बसते हैं। तुम रक्षण वाली नदी बनकर मरुतो के साथ होकर हव्य देने वालों को ध न प्रदान करो।

भरद्वाज ने सरस्वती के प्रचंड तरंगों का वर्णन इन शब्दों में किया है -

इयं शुष्मेभिर्बिसखा इवारुजत्सानु गिरीणां तविषेभिरुर्मिमिः।
पारावतघ्नीमवसे सुवृक्तिभिः सरस्वतीमा विवासेम धीतिमिः।।

(6.61.2)

'यह सरस्वती अपने बल और प्रचंड तरंगों से किनारे के पर्वतों के तटों को कमलनाल के समान तोड़ती है। तटों को ध्वस्त करने वाली वेगवती नदी सरस्वती को धारण करने और अपनी रक्षा के लिए हम इसकी स्तुति करें।'

वसिष्ठ के अनुसार सरस्वती नदी धातु से निर्मित पुरी के समान अपने तट के निवासियों को संरक्षण प्रदान करती है

प्रक्षोदसा धायसा सस्र एषा सरस्वती धरुणमायसी पूः।
प्रबाबधाना रथ्येव याति विश्वा अपो महिना सिन्धु रन्याः।।

(7.95.1)

"यह सरस्वती धातु के परकोटे की तरह रक्षा करने वाली होकर पोषक जल के साथ बह रही है। यह रथी की तरह सभी नदियों को अपनी महिमा द्वारा बाधित करती हुई आगे बढ़ती है।'

बहदु गायिषे वचोऽसुर्या नदीनाम्।
सरस्वतीमिन्महया सुवृक्तिभिः स्तोमैर्वसिष्ठ रोदसी।।

(7.96.1)

नदियों में सर्वाधिक शक्तिशालिनी सरस्वती के लिए, वसिष्ठ स्तोत्र का गान करता है तथा छावा-पृथिवी में स्थित सरस्वती की ही पूजा स्तोत्रों द्वारा करता है।

सी-4-86/2, सफदरजंग विकास क्षेत्र
हौजखास, नई दिल्ली-110016

डॉ. प्रमोद कोव्वप्रत

निर्मल वर्मा : सृजन-चिंतन

निर्मल वर्मा का कहना था कि साहित्य वह घर है- बिना दीवारों का वह घर- जहां वह पहली बार अपने मनुष्यत्व से साक्षात्कार करते हैं। साहित्यकार हमेशा मानवीय सत्य की तलाश करते रहते हैं। यह सत्य अपने आप में अखंडित, अविभाजित एवं चिरंतन है। लेखक का अनुभव दिल से साक्षात्कार करना है तभी वहां स्पंदन होता है, तभी वह सर्जना का बीज बन जाता है। सृजन के लिए अनुभवों की स्मृति होना बेहतर है। यथार्थ की अपेक्षा हमारे अनुभवों का खजाना स्मृतियों के रूप में सृजनात्मक प्रतिभा को आन्दोलित करता रहता है।

निर्मलजी सोचते हैं कि साहित्यकार रचना द्वारा अपनी खंडित आत्मा को पाने का प्रयत्न करते हैं। साहित्यकार उस खाई के बीच अपनी यातना को परखता है, जो मनुष्य और शब्द के बीच खुल जाती है तथा उसे पाने की प्रक्रिया में जो कलाकृति का निर्माण करते हैं वह एक अर्थ में स्वयं मनुष्य की खंडित आत्मा को पाने का प्रयत्न है। आम आदमी से अलग होकर साहित्यकार को नहीं रहना है। उन लोगों का जीवनानुभव साहित्य को ऊर्जा प्रदान करता है। निर्मल वर्मा के विचार में लेखक का सिर्फ यह न कर्म है, बल्कि नैतिक दायित्व भी, कि वह शब्द को इस दुर्ग की चारदीवारी से छुटकारा दिलाए, ताकि उसे वह एक ऐसा विशिष्ट अर्थ दे सके जो हर व्यक्ति के जीवन अनुभवों से ध्वनित होता है।

निर्मलजी की राय में साहित्य में प्रश्न अनुभव के विषय का नहीं, बल्कि उस रूप और रास्ता का है, जिसके द्वारा वह अनुभव एक विशिष्ट सांस्कृतिक चेतना में परिलक्षित होता है। लेखक अनुभवों को सामूहित मन से और व्यक्ति से जोड़ देता है। तभी रचनाएं कालजयी बन जाती हैं। काल के भीषण अमानवीय आतंक का सामना और अतिक्रमण करने का जोखिम उठाना अमर कृतियों की विशिष्टता होती है।

निर्मलजी के विचार में कभी-कभी विद्रोही लेखक भी दिखावा हो सकता है। उन्होंने विद्रोही साहित्य और पश्चिम के व्यावसायिक पॉपुलर साहित्य की तुलना की है। लोकप्रिय साहित्य के प्रति लोगों का चाव उसी तरह बदलता रहता है जैसे शेयरमार्केट में शेयरों का भाव बदलता है। दोनों साहित्य मनुष्य की जो पतित अवस्था है उसका शोषण करते हैं। व्यावसायिक दुनिया की 'बेस्ट सेलर' कृति मनुष्य के लिए मनोरंजन की सामग्री बन

जाती है तो आम आदमी अपनी यातना को भूल सकेंगे, किन्तु विद्रोही लेखक खुद इस यातना का शोषण करता रहता है, ताकि आदमी अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व एवं अस्मिता को भूल पाये और दोनों के बीच आदमी अपने अनुभवों और गौरवों की गरिमा खो देते हैं। यहां साहित्य सिर्फ एक भ्रम रह जाता है वह एक 'वस्तु' के रूप में बदल जाता, वास्तविक साहित्य के स्तर तक उठ नहीं पाता।

सर्जक का भाव संप्रेषण एक महतवपूर्ण चीज़ है। उनकी अनुभूति सच्ची एवं प्रमाणिक होने के बावजूद भी अगर उसमें संप्रेपणीयता का अभाव हो तो रचना धीरे-धीरे अपनी सच्चाई खो देती है। आज के तकनीकी युग में लेखक की विडंबना यह होती है कि संप्रेपणीयता सिर्फ अर्थ खोकर और अर्थ सिर्फ संप्रेपणीयता खोकर ही प्राप्त किया जा सकता है। निर्मलजी के मत में साहित्यिक रचना पूर्णरूप से आत्मकेन्द्रित नहीं हो सकती। क्योंकि शब्दों की संपूर्णता उसके दूसरों तक संप्रेपित होने में है, अपनी विशिष्ट अनुभूति दूसरों तक वह संप्रेपित करता है। संप्रेपणीयता की आकांक्षा के साथ अद्वितीय अनुभव को रूपायित करने की विवशता भी साहित्यिक कृति में एक साथ होती है। अपने नितांत वैयक्तिक भोगे हुए अनुभवों को सर्वसाधारण लोगों की भाषा में साहित्यकार को अभिव्यक्त करना पड़ता है।

सामाजिक परिवेश आज लेखक को अत्यधिक प्रभावित करता है। लेखक का विशिष्ट अनुभव वर्तमान संघर्ष में औसत अनुभव वन जाता है। निर्मल की राय में औसत अनुभव सर्वसाधारण का अनुभव नहीं हो सकता। सर्वसाधारण के अनुभवों में भिन्नता है। उनके अपने सत्य प्रमाणिक और असली अनुभव होते हैं। तब औसत अनुभव कभी छद्म प्रतीत होता है। लेखक जब अपने अनुभव के आधार पर ही साहित्य-सृजन करता है तो कभी-कभार दुष्परिणाम यह निकलता है कि साहित्य शुद्ध अनुभवों के छोटे दायरे में सिमट जाता है और बाहरी दुनिया की विशालता से भी थोड़ा दूर हो जाता है।

वर्तमान उत्तर आधुनिक सिद्धांतों की दुनिया में साहित्य की मृत्यु तक की घोषणा हो रही है। निर्मलजी साहित्य के अमरत्व पर विश्वास करते हैं। साहित्य कभी भी मरता नहीं, वह अत्यधिक शक्ति के साथ जीवित रहता है। निर्मल वर्मा की राय में, जो कुछ भी साहित्य में एक बार जीवंत रूप में रहा है वह साहित्य में कभी मरता नहीं और जब हम किसी चीज़ को मुर्दा घोषित कर दफना देते हैं तो उसके भीतर बची रह गयी ज़िन्दगी की धुकधुकी चारों तरफ खुद हमारी बनी हुई दीवारों पर दस्तकें देने लगती हैं और तब तक शांत नहीं होतीं जब तक हम उसे स्वीकृत या विमो[illegible] न कर लें।

निर्मलजी के मत में साहित्य में मनुष्यता की पूर्णता का [illegible] होता है। वह ऐसा लीला स्थल है जिसमें इतिहास की छाया [illegible] मनुष्य की सत्य की द्वंद्व क्रीड़ा चलती रहती है। साहित्य मनु[illegible] के मानसिक स्तर को काफी प्रभावित करता रहता [illegible] रामायण-महाभारत की काव्यात्मकता जितनी प्रखर और ओज[illegible] है उतनी ही उनकी आध्यात्मिक गहनता भी है। रचनाकार [illegible] अपनी स्वतंत्रता के साथ बाहरी परिवेश पर भी ध्यान देना पड़[illegible] है। साहित्य की स्थिति निरंकुशता और दासता के बीच में [illegible] क्योंकि एक रचनाकार को समाज की सारी परिस्थितियों [illegible] मद्दे नज़र करके ही रचना करना संभव है। अगर वह अप[illegible] आंखों-देखी बात को वैसे ही प्रस्तुत करेंगे तो बहुत कठिनाइ[illegible] का सामना करना पड़ेगा। यह सिर्फ राजनीतिक व सामाजि[illegible] स्तर पर ही नहीं, स्वयं अपने लोगों से भी होती है।

निर्मल वर्मा के विचार में साहितय की यात्रा 'स्व' से 'प[illegible] की ओर होती है। श्रेष्ठ कृतियों में मनुष्य समाज के आईने [illegible] अपने प्रतिबिंब को देखता है लेकिन ऐसा होना चाहिए जो आई[illegible] को तोड़कर अपने से परे हो जाएं। तभी साहित्य अपने आप [illegible] मिथकीय रूप प्राप्त कर लेता है और कालजयी हो जाता है। साहित्य में मनुष्य मनुष्येतर जगत से संबंध जोड़ता है। आसमा[illegible] पर विचरण करने पर भी वृथा की जड़ें मिट्टी में होती हैं, साहि[illegible] भी उसी तरह होता है। निर्मलजी के शब्दों में, साहित्य की सत्[illegible] उस वैदिक वृक्ष की याद दिलाती है, जिसकी जड़ें अंतरीक्ष [illegible] ओर उठी हैं और शाखाएं नीचे धरती की ओर झुकी हैं।

निर्मलजी ने भाषा को मानवीय अस्मिता के अभिन्न अंग [illegible] रूप में देखा है। भाषा भीतर के सत्य और बाहर के यथार्थ [illegible] बीच सेतु का काम करती है। अस्मिता के गठन के संबंध [illegible] निर्मलजी का मत है कि मानवीय भाषाओं में एक तरह [illegible] स्थिरता और स्थायित्व रहता है, जिसके परिणाम स्वरूप [illegible] मनुष्य को अपनी पहचान और अस्मिता को गढ़ने का अवका[illegible] मिल पाता है। भाषा, रचना, रचनाकार और समाज के अंतर्संबं[illegible] पर निर्मलजी की राय है कि लेखक जिस भाषा द्वारा अपने क[illegible] रचना में मुक्त करता है, उसी भाषा द्वारा दुनिया से अपने क[illegible] बंधा पाता है।

प्रवक्ता, हिन्दी विभा[illegible]
कालिकट विश्वविद्यालय, मलप्पुर[illegible]
जिला, केरल 673635

डॉ. अश्विनी पाराशर

औपन्यासिकता का नया फलक और 'बीच की धूप'

स्वातंत्र्योतर काल में 'नई' और 'समांतर' कहानी आंदोलन के दौर में 'सचेतन' कहानी आंदोलन एक अलग नज़रिए का आगाज था जिसमें जीवन मात्र जीने ही नहीं बल्कि जान-समझकर जीने के विचार को, संवेदना प्रक्षेपण को मुख्य आधार और वास्तविक सचेतन दृष्टि-निक्षेपण के प्रमुख पक्ष के रूप में उभारने का रचनात्मक प्रयास किया गया और प्रयास इसलिए भी कहेंगे क्योंकि इसमें अपनी तत्कालीन समाज-राजनैतिक, ऐतिहासिक परिस्थितियों के मनोविज्ञान को जान-समझकर पाठकों में साठोत्तरी दौर में सोचने की एक सार्थक पहल का भाव भी समाहित था। डॉ. महीप सिंह विचार की इस समूची धुरी के केन्द में सक्रियता के साथ सामने आए और 'संचेतना' त्रैमासिक पत्रिका भी उनके इसी विचार सम्प्रेषण की रचनात्मक प्रस्तावना का आधार बनी। और कहना न होगा कि स्वातंत्र्योत्तर समाज-राजनैतिक परिप्रेक्ष्य में जीवन के प्रति इस कचोट ने ही एक विशेष योजना को जन्म दिया जिसके अंतर्गत उपन्यास त्रयी का सूत्रपात हुआ और इसके प्रथम पुष्प 'अभी शेष है' में जहां लेखक ने स्वाधीनता के बाद से 1975 तक के काल-खण्ड को केन्द्र में रख कर कथा का ताना बाना बुना है, तो इस विराट कड़ी में 1975 से 1990 तक के कालखण्ड में राष्ट्रीय राजनैतिक फलक पर घटित को 'बीच की धूप' में त्रयी की दूसरी कड़ी के रूप में प्रस्तुत करते हुए शब्द संवेदना को विस्तृत-संदर्भ के रूप में उभारा है। जाहिर है- यहां देश विभाजन की कटुस्मृतियां एक बार फिर से सुगबुगाती-बुदबुदाती, फिर से प्राण प्रतिष्ठा पाती स्वाधीनता-धर्मिता के पुनर्लेखन के रूप में सामने आ गई हैं।

असल में भारत-विभाजन एक सामयिक-उपचार कम, जातीय प्रतिक्रिया का प्रतिफल अधिक रहा है और सहिष्णुता के अभाव ने कुछ स्वार्थी तत्वों के तत्कालीन समाज-मनोविज्ञान को विचलित कर पाने में जो सफलता पाई, बाद में भी उसी का परिवर्तित-परिवर्द्धित रूप यदा-कदा स्वार्थ पूर्ति के राजनैतिक उपचार के रूप में सैद्धान्तिकता से परे व्यावहारिक राजनीति का आदर्श-रूप मान लिया गया। और यहां हम अगर सिख-राजनीति की बात करें तो इसकी एक बड़ी साफ ऐतिहासिक पृष्ठ भूमि की तरफ नज़र दौड़ानी होगी जिसकी जड़ें भारत विभाजन तक फैली हैं। विभाजन की सबसे ज्यादा मार किसे सहनी पड़ी? पश्चिमी पंजाब से आए विस्थापितों को। इन्हें अपने ही देश के अलग हुए हिस्से का नागरिक होने के बावजूद शरणार्थी का विशेषण मिला। यह एक पूरा वर्ग अपने लिए एक अलग सूबे की मांग करता रहा तो गलत क्या था? इसके मूल कारणों पर विचार ही नहीं किया गया। और जन दृष्टि का तो यहां कोई वजूद ही नहीं रह गया? उपन्यास में यह पक्ष एक संवेदन-शील सामाजिक के दायित्व बोध के साथ-साथ रचनाकार की प्रतिभा क्षमता का भी परिचायक है।

यह पूरा घटनाक्रम, चाहे सत्ता पक्ष हो या विपक्ष, अपनी-अपनी स्वार्थपरता के दवाब में राजनीतिक-दायरों में समय-समय पर चलने-चलाने वाला सिक्का हो गया। खालिस्तान की मांग का उठना भी इसी संकीर्ण-सोच का एक पक्ष बन कर सामने आया। यह सारा वृत्त इसलिए दोहराना जरूरी था क्योंकि एक लंबे समय से कथा-जगत में अपनी पहचान के साथ सक्रिय रचनाकार के रूप में डॉ. महीप सिंह ने अपने कथा-साहित्य के बहाने जिस जीवन-चेतना के सूक्ष्म पक्षों पर अपनी संवेदनशील दृष्टि से विचार किया है, यहां औपन्यासिकता के कलेवर में उस चेतना के तमाम विचार-संवेदन बिन्दु गहरी सामाजिक-अवधारणात्मक सच्चाई के रूप में उभर कर सामने आ गए हैं। यों कहने को लोग कहते जरूर हैं कि कहानी और उपन्यास की आलोचना-सैद्धान्तिकी उस प्रकार से विकसित नहीं हो सकी, जिस तरह कविता की हो सकी है, मगर इसके पीछे के कारणों में आलोचक की सरलीकरण की प्रवृत्ति पर टिप्पणी करने से लोग बचते रहे। कहानी का सीमित किन्तु उपन्यास का विराट फलक कभी भी एक सरल रेखीय स्केल पर मापित नहीं किया जा सकता। कहानी 'जीवनांश' और उपन्यास 'पूर्ण जीवन फलक' को लेकर जिस तरह से अपना प्रकाश पथ खड़ा करते हैं, इसके लिए दृष्टि फलक भी उसी के अनुरूप विस्तार की मांग करता है। कथा-आलोचना में दृष्टि-संकीर्णता की जगह हाई विजनरी एप्रोच जरूरी होती है जो विवेचन-विश्लेषण का सांगोपांग डाइसेक्शन करते हुए प्रवृत्यात्मक-दृष्टि से मनोविश्लेषणात्मक चीरफाड़ के आधार पर निश्चयात्मक रूप से किसी अवधारणात्मक बिन्दु पर ठहर सके या उसे उभारने में मददगार हो सके। किसी भी गद्य विधा के सूक्ष्म विश्लेषण-विवेचन के लिए इतनी मशक्कत तो कम से कम जरूरी है ही।

वस्तुतः कविता की आलोचना में तत्वात्मकता की पड़ताल एक सेट-थ्योरी के तहत संभव हो जाती है, हालांकि वह भी अब इतना सरल रेखीय नहीं रहा, मगर गद्य विधा के प्रतिनिधिक-संसार के उद्भावक रूप की शल्यक्रिया में औपन्यासिकता के जीवन-गत जटिल सिरों के सुलझाने में खर्च ऊर्जा और क्षरण के हिसाव-किताब के बावजूद कुल बची नकद से परिवार चलाने की चिन्ता के साथ कितने ही जरूरी और गैर जरूरी सवालों, संकीर्णताओं, स्वार्थी, जड़ताओं के दृष्टि सीमांतों पर खड़ी की गई धर्म-समाज-राजनीति की गहरी खाइयों के बीच अस्तित्व की द्वन्द्वात्मक स्थिति में दोलायमान अस्मिता के रख-रखाव में सनातन-गैर सनातन, वाजिब-गैरवाजिब और सही-गलत के नाम पर शक्ति का एक पक्षीय प्रयोग-यानी बहुत कुछ तस्वीर के सही रुख को कभी भरमाता है, कभी उजागर कर देता है, मगर सोचने की बात यह है कि यहां प्रभाव डालने वाला भी और प्रभावित होने वाला भी, दोनों ही इस अनिर्णयात्मकता के बावजूद स्वयं की निर्णयात्मकता पर सुनिश्चित रूप से टस से मस होने को तैयार नहीं। ऐसे में, जो लोग किसी कथा-रचना में औपन्यासिक कथानक की एक सूत्रता, नवीनता, सिरों को मिलाते हुए तथा अन्यानेक अंतर्ग्रंथियों के रूप में बैठी सिद्धांतवादिता की बिखरी अक्रमित स्थितियों के उल्लेख के बहाने नाव को मंझधार से निकालने की जुगत में बने बनाए फार्मूले पर किसी रचना को कसने लगते हैं तो अक्सर ऐसे में किसी भी आलोचक के भीतर का विचारक रूढ़ियों, दृष्टि-सीमांतों, अनुभव जगत की एकांगिता-वादिता के शिकार के रूप में सामाजिक न्याय के मामले में चूक कर बैठता है। इसमें कोई-कोई तो अतिउत्साह में अच्छी-भली कर्मठ नारी की पात्रता को ही अपनी समझ पर लगी जंग का सार्वजनिक तमाशा करते हुए उसे 'रंगी हुई चिड़िया' कहने तक में संकोच नहीं करता।

असल में यहां उपन्यास समीक्षा के बहाने मेरी चिंता औपन्यासिक-शिल्प के कुछ उन महत्वपूर्ण बिंदुओं पर विचार करने की है जो एक व्यवस्थित मगर बहुव्याख्यायित और अपनी आन्तरिकता में समाज-व्यवस्था के सरोकार के दायरे में समाज-दृष्टिजन्य व्यापकता से जुड़े हैं, जहां पालिटिकल-विजन मानव-मनोविज्ञान से संपृक्त होकर सामाजिक तौर पर खुले दृष्टिकोण के रूप में अवतरित हुआ मानव मात्र के लिए एक बड़ा अनुकरणीय राजपथ बन सके। आजादी से पहले के दौर में यह विजन स्पष्ट था। यशपाल ने भी इस दिशा में काफी कुछ जोड़ा, बटोरा; और कहना होगा कि डॉ. महीप सिंह के अंतस में भी वही पीड़ा करवटें बदलती दिखाई देती है। कई बार छोटी-छोटी उलझनें, संकीर्णताएं कुछ बड़ा करने से रोक देती हैं, कुछ छोटे-छोटे स्वार्थ संपूर्ण जीवन-यात्रा को एक आयामी बना देते हैं मगर लेखक आम आदमी से बड़ी रेंज पर खड़ा होता है। उससे एक बड़ी डाईमेंशनल एप्रोच की मांग करना गैर वाजिब नहीं।

यहां यह भी ध्यातव्य है कि सामान्य और विशेष में फर्क करने का अभ्यास बड़ी मुश्किल से हो पाता है। इतिहास किसी भी घटना का सामान्यीकृत पक्ष प्रस्तुत कर सकता है जो समयांतराल की दूरी पार करता हुआ विशेष नहीं रह पाता मगर इतिहास का जन्म तो विशेष के कारण ही होता है। यहीं उभरता है परंपरागत दर्द और इस दर्द से आदमी का रिश्ता। आलोचना कर्म की दृष्टि से कि कथा-लोचन (कहानी और उपन्यास तो और भी ज्यादा) सदा से ही एक बड़ी चुनौती रही है और ऐसा तो बिल्कुल नहीं कि आप अपने नजरिए के साथ रचनाकार के अनुभव-जन्य पक्ष को बिल्कुल ही नज़रन्दाज कर दें क्योंकि अक्सर रचनाकार के नज़रिए और समय और समाज की न्यायसंगत मांग के बीच स्वस्थ संवाद के स्थलों की सही पहचान और उन पर तटस्थ विचार-दृष्टि जरूरी होती है। यह बात जितनी बार दोहराई जाए कम है कि आजादी से पहले की जुझारूता के पीछे एक सपना था यों हर किसी बड़े संघर्ष के पीछे एक उद्देश्य के साथ-साथ एक सपना होता है और जब सपना टूटता है तो बहुत कुछ छूटता है। 1857 के स्वाधीनता संग्राम में पाई विफलता ने भी एक सपने को तोड़ने में खास भूमिका निभाई थी मगर ब्रिटिश सरकार की दमनकारी नीतियों ने उसमें आग में घी का काम करते हुए संघर्ष-चेतना की आग को बुझने नहीं दिया लेकिन आजादी के बाद अपने ही सवैधानिक ढांचे में अपनी ही चुनी हुई सरकार के जन (खे) प्रतिनिधियों के नए बने कॉकस की आत्मकेंन्द्रित नीतियों ने उस सपने को जल्दी ही चकनाचूर कर दिया और मोहभंग ने जिस नई रचनाधर्मिता को जन्म दिया वह ही नई कविता, नई कहानी और नई औपन्यासिकता के रूप में सामने आई। और यहीं यह सवाल भी उठना स्वाभाविक है कि उपन्यास या कहानी की आलोचना भी इस नई रचनाधर्मिता और उसकी पहचान-परख के आलोक में होनी चाहिए। व्यवस्था विरोध और विरोध के कारणों पर लेखकीय चिंता जिस तरह रचना में रचनात्मक सरोकार के रूप में उभरती है उसका

आंकलन, अनुशीलन-विवेचन भी उसी चिंता की रेखाओं के इर्द-गिर्द बनती-बुनती- उभरती आलोचना दृष्टि के रूप में झलकना चाहिए।

रचना के स्तर पर अक्सर रचनाकार अपनी (प्र) भावात्मकता के दवाव में पाठक या प्रबुद्ध और सरोकारी व्यक्ति कोई भी लिबर्टी ले पर आलोचक के लिए यह लिबर्टी फेफड़ों में शुद्ध वायु अवरोध के रूप में कन्जैशन के आरोप-सी एक चिकित्सकीय लापरवाही के रूप में अक्षम्य है। सही व अवसरानुकूल उपचार के भाव से, इसमें अनुभवहीनता, पूर्वग्रहों या अतिविश्वसनीयता के दवाव उसे अर्थ के प्रति गैर जिम्मेदार ही करार देंगे...और कहना न होगा कि राजरोग के निदान व निराकरण के लिए निरन्तर श्रम साध्य खोज एवं आविष्कारक-प्रक्रिया की निरंतरता, नए प्रयोग, नए आधार व उपचार के प्रयास के रूप में देखें जाते रहे हैं, इसके बिना हम ज्ञान-विज्ञान के विकास की बात कर पाएंगे? यह एक बड़ा खतरा है कि यदि आलोचना भी स्टीरियों-टाइप और मैकेनिकल हो गयी तो मानवीय संचेतना और संवेदना की पहचान का दावा क्या निर्दोष रह पाएगा? यानी पुरानी पीढ़ी के तथाकथित खैरख्वाहों को, स्थापित साहित्य-प्रहरियों को या तो अपने नज़रिये में बदलाव लाना होगा वरना अप्रासंगिक हो जाने के अभिशाप से ग्रस्त हुए उन्हें हाशिए से बाहर होते जाने की नियति के शिकार होने से कौन रोक सकेगा?

यह भी विचारणीय सवाल है कि आलोचक तत्वाभिनिवेषी है या मत्सरी भाव-ग्रस्त (जड़ कह सकते हैं, अज्ञानी नहीं) खैर बात थोड़ा-सा दूर जरूर हो गई मगर कुछ जटिल गुत्थियां सुलझाने में मददगर जरूर होगी। डॉ. महीप सिंह का हालिया प्रकाशित उपन्यास 'बीच की धूप' असल में स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के लिखित दस्तावेज के रूप में चीजों को देखने-परखने की कोशिश में एक रचनात्मक प्रयास है। उपन्यास का प्रारंभ ही बल्ली और रहमत की कहानी से होता है। बल्ली सिख है और रहमत मुसलमान। और हमारी राष्ट्रीय और संप्रभुता संपन्न प्रजातांत्रिक राज्य व्यवस्था में सिख और मुस्लिम के रूप में दोनों को हिकारती जातीयता के रूप में देखे जाने का रवैया बहुत पुराना रहा है। बहरहाल, किस्सा ये कि ये दोनों ही बिगड़े युवक के रूप में एक जगह बैठ कर चैन से रोटी खाने में विश्वास नहीं करते और इसीलिए एक जगह ठहर नहीं पाते। चन्दू उस्ताद इनका खैरख्वाह है और हो भी क्यों नहीं, आखिर उसी की शागिर्दी में तो इन्होंने धन्धे के गुर सीखे थे। चोर-चोर की और गरीब-गरीब की मदद करता है। यह बात यहां भी चरितार्थ हुई है, जब एक समय बल्ली और रहमत को वह यह कह कर घर भेजने का प्रबंध करने में जरा भी संकोच नहीं करता बल्कि प्रोत्साहित करते हुए यथा संभव उनकी मदद भी करता है। कह सकते हैं- चोरों के (भी) ही उसूल होते हैं। इसके बरक्स दयाशंकर निजी स्वार्थ में अपनी एक मात्र बहन के विवाह में भी राजनैतिक लाभ लेने में तनिक भी संकोच नहीं करता बल्कि उसकी पसंद के लड़के को रास्ते से हटाने में ट्रक दुर्घटना तक करा के उसे मरवा डालने तक में संकोच नहीं करता। कितना गिर गया आदमी अपने जमीर से। इस पर 'कड़वी और नीम चढ़ी' की कहावत चरितार्थ करती राजनैतिक दुरभि संधियां- अब इसमें कांग्रेस हो या तत्कालीन जनसंघ या किरू टाइप छुट भैये-बड़ भैये राजनेता। एक बात यहां साफ है कि इलाहाबाद हाइकोर्ट के फैसले से बचाव में लगाया गया आपातकाल और उसके अंतर्गत की गई विरोधियों की बेहिसाब गिरफ्तारियां थोड़े समय के लिए बचाव या सुरक्षा कवच की तरह जरूर लगा मगर यह कोई स्थाई राहत का आधार नहीं बन सका। इसने बदल कर रख दिया पूरे देश के समाज मनोविज्ञान को। राजनैतिक विश्वास की यह गाड़ी एक बार जो पटरी से उतरी तो फिर अभी तक इसे सही पटरी नसीब नहीं हो सकी है।

उपन्यास पर सम्पन्न आलोचना गोष्ठी में प्रकारान्तर से हुई चर्चा में यह बात पूरी तरह एक मुद्दे के रूप में जरूर असरकारी रही कि यह उपन्यास देश की राजनीति के अहम पड़ाव-आपातकाल और उसके बाद 1984 में सिख विरोधी जन (प्रतिनिधि प्रेरित) तांडव और क्षत-मानसिकता के दवाब में उभरे असुरक्षा बोध को जिस शिद्दत से विवेचित-विश्लेषित करता है, जहां निरपराध समुदाय का आहत मन भीड़ में उमड़े जनाक्रोश के रूप में एक व्यापक सामाजिक-ऐक्य भाव-युक्त गुहार के रूप में एक बड़ा सवाल खड़ा कर देता है; इसी सवाल को कथाकार महीप सिंह ने अपनी रचनात्मकता के बहाने अकारण उभरने वाले आपाकालीन संकट की शल्यक्रिया से पूरे वैचारिक संज्ञान के साथ शब्दवद्ध करने का सार्थक प्रयास किया है।

'बीच की धूप' उपन्यास की तटस्थ, निष्पक्ष एवं वस्तुनिष्ठ आलोचना पूर्व-निर्धारित प्रतिमानों के आधार पर करना मेरे लिए एक बड़ी चुनौती है। मैं इसे व्यक्ति अनुभव-परक संवेदना-प्रभाव को शाब्दिक मगर जरूरी अभिव्यक्ति के रूप में देख रहा हूं और कथा नायक आनन्द (एक पत्र सम्पादक) को इस उपन्यास की केन्द्रीय विचारक धुरी मानता हूं। पात्र संयोजना

आकलन

वस्तुतः कविता की आलोचना में तत्वात्मकता की पड़ताल एक सेट-थ्योरी के तहत संभव हो जाती है, हालांकि वह भी अब इतना सरल रेखीय नहीं रहा, मगर गद्य विधा के प्रातिनिधिक-संसार के उद्भावक रूप की शल्यक्रिया में औपन्यासिकता के जीवन-गत जटिल सिरों के सुलझाने में खर्च ऊर्जा और क्षरण के हिसाब-किताब के बावजूद कुल बची नकद से परिवार चलाने की चिन्ता के साथ कितने ही जरूरी और गैर जरूरी सवालों, संकीर्णताओं, स्वार्थी, जड़ताओं के दृष्टि सीमांतों पर खड़ी की गई धर्म-समाज-राजनीति की गहरी खाइयों के बीच अस्तित्व की द्वन्द्वात्मक स्थिति में दोलायमान अस्मिता के रख-रखाव में सनातन-गैर सनातन, वाजिब-गैरवाजिब और सही-गलत के नाम पर शक्ति का एक पक्षीय प्रयोग-यानी बहुत कुछ तस्वीर के सही रुख को कभी भरमाता है, कभी उजागर कर देता है, मगर सोचने की बात यह है कि यहां प्रभाव डालने वाला भी और प्रभावित होने वाला भी, दोनों ही इस अनिर्णयात्मकता के बावजूद स्वयं की निर्णयात्मकता पर सुनिश्चित रूप से टस से मस होने को तैयार नहीं। ऐसे में, जो लोग किसी कथा-रचना में औपन्यासिक कथानक की एक सूत्रता, नवीनता, सिरों को मिलाते हुए तथा अन्यानेक अंतर्ग्रंथियों के रूप में बैठी सिद्धांतवादिता की बिखरी अक्रमित स्थितियों के उल्लेख के बहाने नाव को मंझधार से निकालने की जुगत में बने बनाए फार्मूले पर किसी रचना को कसने लगते हैं तो अक्सर ऐसे में किसी भी आलोचक के भीतर का विचारक रूढ़ियों, दृष्टि-सीमांतों, अनुभव जगत की एकांगिता-वादिता के शिकार के रूप में सामाजिक न्याय के मामले में चूक कर बैठता है। इसमें कोई-कोई तो अतिउत्साह में अच्छी-भली कर्मठ नारी की पात्रता को ही अपनी समझ पर लगी जंग का सार्वजनिक तमाशा करते हुए उसे 'रंगी हुई चिड़िया' कहने तक में संकोच नहीं करता।

असल में यहां उपन्यास समीक्षा के बहाने मेरी चिंता औपन्यासिक-शिल्प के कुछ उन महत्वपूर्ण बिंदुओं पर विचार करने की है जो एक व्यवस्थित मगर बहुव्याख्यायित और अपनी आन्तरिकता में समाज-व्यवस्था के सरोकार के दायरे में समाज-दृष्टिजन्य व्यापकता से जुड़े हैं, जहां पालिटिकल-विजन मानव-मनोविज्ञान से संपृक्त होकर सामाजिक तौर पर खुले दृष्टिकोण के रूप में अवतरित हुआ मानव मात्र के लिए एक बड़ा अनुकरणीय राजपथ बन सके। आजादी से पहले के दौर में यह विजन स्पष्ट था। यशपाल ने भी इस दिशा में काफी कुछ जोड़ा, बटोरा; और कहना होगा कि डॉ. महीप सिंह के अंतस में भी वही पीड़ा करवटें बदलती दिखाई देती है। कई बार छोटी-छोटी उलझनें, संकीर्णताएं कुछ बड़ा करने से रोक देती हैं, कुछ छोटे-छोटे स्वार्थ संपूर्ण जीवन-यात्रा को एक आयामी बना देते हैं मगर लेखक आम आदमी से बड़ी रेंज पर खड़ा होता है। उससे एक बड़ी डाईमेंशनल एप्रोच की मांग करना गैर वाजिब नहीं।

यहां यह भी ध्यातव्य है कि सामान्य और विशेष में फर्क करने का अभ्यास बड़ी मुश्किल से हो पाता है। इतिहास किसी भी घटना का सामान्यीकृत पक्ष प्रस्तुत कर सकता है जो समयांतराल की दूरी पार करता हुआ विशेष नहीं रह पाता मगर इतिहास का जन्म तो विशेष के कारण ही होता है। यहीं उभरता है परंपरागत दर्द और इस दर्द से आदमी का रिश्ता। आलोचना कर्म की दृष्टि से कि कथा-लोचन (कहानी और उपन्यास तो और भी ज्यादा) सदा से ही एक बड़ी चुनौती रही है और ऐसा तो बिल्कुल नहीं कि आप अपने नजरिए के साथ रचनाकार के अनुभव-जन्य पक्ष को बिल्कुल ही नज़रन्दाज कर दें क्योंकि अक्सर रचनाकार के नज़रिए और समय और समाज की न्यायसंगत मांग के बीच स्वस्थ संवाद के स्थलों की सही पहचान और उन पर तटस्थ विचार-दृष्टि जरूरी होती है। यह बात जितनी बार दोहराई जाए कम है कि आजादी से पहले की जुझारूता के पीछे एक सपना था यों हर किसी बड़े संघर्ष के पीछे एक उद्देश्य के साथ-साथ एक सपना होता है और जब सपना टूटता है तो बहुत कुछ छूटता है। 1857 के स्वाधीनता संग्राम में पाई विफलता ने भी एक सपने को तोड़ने में खास भूमिका निभाई थी मगर ब्रिटिश सरकार की दमनकारी नीतियों ने उसमें आग में घी का काम करते हुए संघर्ष-चेतना की आग को बुझने नहीं दिया लेकिन आजादी के बाद अपने ही संवैधानिक ढांचे में अपनी ही चुनी हुई सरकार के जन (खे) प्रतिनिधियों के नए बने कॉकस की आत्मकेंद्रित नीतियों ने उस सपने को जल्दी ही चकनाचूर कर दिया और मोहभंग ने जिस नई रचनाधर्मिता को जन्म दिया वह ही नई कविता, नई कहानी और नई औपन्यासिकता के रूप में सामने आई। और यहीं यह सवाल भी उठना स्वाभाविक है कि उपन्यास या कहानी की आलोचना भी इस नई रचनाधर्मिता और उसकी पहचान-परख के आलोक में होनी चाहिए। व्यवस्था विरोध और विरोध के कारणों पर लेखकीय चिंता जिस तरह रचना में रचनात्मक सरोकार के रूप में उभरती है उसका

आकलन, अनुशीलन-विवेचन भी उसी चिंता की रेखाओं के ईर्द-गिर्द बनती-बुनती- उभरती आलोचना दृष्टि के रूप में झलकना चाहिए।

रचना के स्तर पर अक्सर रचनाकार अपनी (प्र) भावात्मकता के दबाव में पाठक या प्रबुद्ध और सरोकारी व्यक्ति कोई भी लिबर्टी ले पर आलोचक के लिए यह लिबर्टी फेफड़ों में शुद्ध वायु अवरोध के रूप में कन्जैशन के आरोप-सी एक चिकित्सकीय लापरवाही के रूप में अक्षम्य है। सही व अवसरानुकूल उपचार के भाव से, इसमें अनुभवहीनता, पूर्वग्रहों या अतिविश्वसनीयता के दबाव उसे अर्थ के प्रति गैर जिम्मेदार ही करार देंगे...और कहना न होगा कि राजरोग के निदान व निराकरण के लिए निरन्तर श्रम साध्य खोज एवं आविष्कारक-प्रक्रिया की निरंतरता, नए प्रयोग, नए आधार व उपचार के प्रयास के रूप में देखें जाते रहे हैं, इसके बिना हम ज्ञान-विज्ञान के विकास की बात कर पाएंगे? यह एक बड़ा खतरा है कि यदि आलोचना भी स्टीरियों-टाइप और मैकेनिकल हो गयी तो मानवीय संचेतना और संवेदना की पहचान का दावा क्या निर्दोष रह पाएगा? यानी पुरानी पीढ़ी के तथाकथित खैरख्वाहों को, स्थापित साहित्य-प्रहरियों को या तो अपने नज़रिये में बदलाव लाना होगा वरना अप्रासंगिक हो जाने के अभिशाप से ग्रस्त हुए उन्हें हाशिए से बाहर होते जाने की नियति के शिकार होने से कौन रोक सकेगा?

यह भी विचारणीय सवाल है कि आलोचक तत्वाभिनिवेषी है या मत्सरी भाव-ग्रस्त (जड़ कह सकते हैं, अज्ञानी नहीं) खैर बात थोड़ा-सा दूर जरूर हो गई मगर कुछ जटिल गुत्थियां सुलझाने में मददगार जरूर होगी। डॉ. महीप सिंह का हालिया प्रकाशित उपन्यास 'बीच की धूप' असल में स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के लिखित दस्तावेज के रूप में चीजों को देखने-परखने की कोशिश में एक रचनात्मक प्रयास है। उपन्यास का प्रारंभ ही बल्ली और रहमत की कहानी से होता है। बल्ली सिख है और रहमत मुसलमान। और हमारी राष्ट्रीय और संप्रभुता संपन्न प्रजातांत्रिक राज्य व्यवस्था में सिख और मुस्लिम के रूप में दोनों को हिकारती जातीयता के रूप में देखे जाने का रवैया बहुत पुराना रहा है। बहरहाल, किस्सा ये कि ये दोनों ही बिगड़े युवक के रूप में एक जगह बैठ कर चैन से रोटी खाने में विश्वास नहीं करते और इसीलिए एक जगह ठहर नहीं पाते। चन्दू उस्ताद इनका खैरख्वाह है और हो भी क्यों नहीं, आखिर उसी की शागिर्दी में तो इन्होंने धन्धे के गुर सीखे थे। चोर-चोर की और गरीब-गरीब की मदद करता है। यह बात यहां भी चरितार्थ हुई है, जब एक समय बल्ली और रहमत को वह यह कह कर घर भेजने का प्रबंध करने में जरा भी संकोच नहीं करता बल्कि प्रोत्साहित करते हुए यथा संभव उनकी मदद भी करता है। कह सकते हैं- चोरों के (भी) ही उसूल होते हैं। इसके बरक्स दयाशंकर निजी स्वार्थ में अपनी एक मात्र बहन के विवाह में भी राजनैतिक लाभ लेने में तनिक भी संकोच नहीं करता बल्कि उसकी पसंद के लड़के को रास्ते से हटाने में ट्रक दुर्घटना तक करा के उसे मरवा डालने तक में संकोच नहीं करता। कितना गिर गया आदमी अपने जमीर से। इस पर 'कड़वी और नीम चढ़ी' की कहावत चरितार्थ करती राजनैतिक दुरभि संधियां- अब इसमें कांग्रेस हो या तत्कालीन जनसंघ या किरू टाइप छुट भैये-बड़ भैये राजनेता। एक बात यहां साफ है कि इलाहाबाद हाइकोर्ट के फैसले से बचाव में लगाया गया आपातकाल और उसके अंतर्गत की गई विरोधियों की बेहिसाब गिरफ्तारियां थोड़े समय के लिए बचाव या सुरक्षा कवच की तरह जरूर लगा मगर यह कोई स्थाई राहत का आधार नहीं बन सका। इसने बदल कर रख दिया पूरे देश के समाज मनोविज्ञान को। राजनैतिक विश्वास की यह गाड़ी एक बार जो पटरी से उतरी तो फिर अभी तक इसे सही पटरी नसीब नहीं हो सकी है।

उपन्यास पर सम्पन्न आलोचना गोष्ठी में प्रकारान्तर से हुई चर्चा में यह बात पूरी तरह एक मुद्दे के रूप में जरूर असरकारी रही कि यह उपन्यास देश की राजनीति के अहम पड़ाव-आपातकाल और उसके बाद 1984 में सिख विरोधी जन (प्रतिनिधि प्रेरित) तांडव और क्षत-मानसिकता के दबाव में उभरे असुरक्षा बोध को जिस शिद्दत से विवेचित-विश्लेपित करता है, जहां निरपराध समुदाय का आहत मन भीड़ में उमड़े जनाक्रोश के रूप में एक व्यापक सामाजिक-एक्य भाव-युक्त गुहार के रूप में एक बड़ा सवाल खड़ा कर देता है; इसी सवाल को कथाकार महीप सिंह ने अपनी रचनात्मकता के बहाने अकारण उभरने वाले आपाकालीन संकट की शल्यक्रिया से पूरे वैचारिक संज्ञान के साथ शब्दबद्ध करने का सार्थक प्रयास किया है।

'बीच की धूप' उपन्यास की तटस्थ, निष्पक्ष एवं वस्तुनिष्ठ आलोचना पूर्व-निर्धारित प्रतिमानों के आधार पर करना मेरे लिए एक बड़ी चुनौती है। मैं इसे व्यक्ति अनुभव-परक संवेदना-प्रभाव को शाब्दिक मगर जरूरी अभिव्यक्ति के रूप में देख रहा हूं और कथा नायक आनन्द (एक पत्र सम्पादक) को इस उपन्यास की केन्द्रीय विचारक धुरी मानता हूं। पात्र संयोजना

में आए अधिकांश नाम महज कथ्य प्रक्षेपण के हैंगर मात्र हैं जिन पर लटकी रह गई है नए भारत की नवयुवा पीढ़ी जिसे राजनैतिक घिनौनेपन की सियासतधर्मिता ने इस कदर हिकारत भरा बना दिया है...कि लेखक भी महज 'दृष्टा' भर हो कर रह गया है। इसके किसी भी षड्यंत्र में, इसकी किसी भी निर्णायात्मकता में, किसी भी घटिया सोच में सामूहिक अवचेतन में वायरस की तरह घुसपैठ करने वाली आक्रमणकारिता में उसकी क्या भूमिका हो सकती है, 'वेट एण्ड वाच' के सिवा? बस एक साहित्य समीक्षा की त्रैमासिक पत्रिका 'संचेतना' है, वह भी कितना जगा पाएगी सोया जमीर? यह भी एक मौजूं सवाल है यहां विचारणीय। यहां मैं मानता हूं कि लेखक का सिख होना भी महज एक इत्तफाक है। असल में यह तो समय-विशेष में एक खास सियासती सन्दर्भ में गैर जरूरी तरीके से उपजी घटनात्मकता के पीछे की दाव-पेंची जघन्यता है, जिसे लेखक आम आदमी के जीवन में उपजी विषम जीवन-स्थितियों के दवाव में आई आकस्मिक, दुरूह ओर असामान्य परिस्थितियों के विच्छुडंक के रूप में देख रहा है और उपचार की जिद थामे कोमा की स्थिति में आए रोगी को अभी भी कोरामीन के द्वारा प्राणवायु फूंकता हुआ चाहता है कि कम-से-कम वह असल तस्वीर के सच को एक बार सही तरह तो उजागर कर दे ताकि निर्दोषिता का चादर ओढ़े ये राजनीतिक 'ऑक्टोपस' एक बार तो कानून के शिकंजे में फंस कर अपनी जघन्यता की सजा पा सकें। यहां लेखक का यह सकारात्मक, विवेक-युक्त और एक मात्र सही नज़रिया है।

एक बात यह भी ध्यातव्य है कि समाज (समय कोई भी रहा हो) हर 'समय' अपनी चुनौतियों के साथ रचना वस्तु का आधार बना है और रचनाकार इन चुनौतियों की गहनकारो से ही समय की जकड़न तोड़ने की जुगत में बहुत कुछ ऐसा भी टटोलता चलता है (हिट एण्ड ट्रॉयल मेथड-सा) जो भले ही इतिहास न बनाए, इतिहास के बीच के जाले काटने के कारगर हथियार के रूप में जरूर कारगर हो सके। श्रीमती इंदिरागांधी की हत्या...सामाजिक सन्दर्भ में एक बड़ी घटना इस लिए थी क्योंकि इसे एक राजनैतिक निर्णय और उसके अमल के खिलाफ व्यक्तिगत रूप से एक जाति, वर्ग, धर्म, सम्प्रदाय की अस्मिता के क्षेत्र में हस्तक्षेप मानते हुए प्रतिक्रिया रूप में जो अमानवीय, अविवेकी ताण्डव सामने आया, उस पर टिप्पणी किसी के लिए भी, किसी की भी पक्षधरता में एकांगी ही होंगी...और मजेदार बात यह है कि लेखक ने ... पर 'एकांगीतावादी' दृष्टि से ऊपर उठकर उसका स्वतं... निष्पक्ष, और विश्लेषणवादिता के माध्यम से विचार करने ... साहस किया है।

यहां सीधा-सा सवाल उठता है कि ऐसे में क्या सिख हो... राष्ट्र विरोधी जातीयता का प्रतीक मान लिया जाना चाहि... था? राष्ट्रीय फलक पर यह एक समाज-राजनैतिक ही न... बल्कि समाज मनोवैज्ञानिक और मानवीय सवाल इसलिए ... है क्योंकि इसमें निष्पक्ष उत्तर अधिकांश में 'नहीं' में ... होगा। यह 'नहीं' अपने स्वीकार और अस्वीकार में ब... तलब हो कसता है क्योंकि 'कौमीयत' सियासत का ... हिस्सा हो सकती है मगर कुल सियासत नहीं। तो फिर कि... लोगों ने कौम को सियासत का शिकार बनाने में अ... भूमिका निबाही है? इस बात पर क्या न्यायपालिका की का... प्रक्रिया संसद और कार्यपालिका से संचालित होगी? और य... ऐसा है, तो क्या यह आचरण असंवैधानिक, असंसदीय न... कहलाएगी? लेखक ने इस विषय को बुद्धिजीवियों के लि... खुला छोड़ दिया है...आरोप-प्रत्यारोप, पक्ष-विपक्ष, उचित-अनुचि... के एक पक्षीय निर्णय के बगैर जनता की अदालत में ... फैसला जनता द्वारा तय होना चाहिए...इसे एक खास च... की जद में रख कर देखना इधर से हो या उधर से, इतिहा... में गाड़ी गई एक ऐसी कील होगी जो गड़े हुए तो दर्द देगी ... मगर उखड़ने पर या उखाड़े जाने पर भी एक भद्दे दाग ... रूप में दर्ज हो जाएगी। समय की इस कड़वी सच्चाई ... भारत विभाजन की पृष्ठभूमि में देखने पर यह उपपत्ति बेह... तरीके से समझ में आ सकती है।

चिन्तनपरक उपन्यास की कोटि में यह असल ... समाज-राजनैतिक स्तर की अपेक्षा समाज मनोविज्ञान उपन्या... है जहां समूह का बनता-बिगड़ता मनोविज्ञान भी चीजों ... डिक्टेट करने की दशाओं में बहुत कुछ कुरेद रहा है औ... नासूर को जड़ से खत्म करने का यह एक वैचारिक उपचार ... और महीप सिंह इसे कुछ अलग अंदाज से देखते, उस ... सोचते दिखाई पड़ते हैं। एक दृष्टि से कह सकते हैं ... उपन्यास का वैचारिक पक्ष ज्वलंत और बड़ा प्रबल है। कु... ऐसे सवाल फिर से उठे हैं जिन पर खुले तौर पर बिना कि... राजनैतिक भय एवं संशय के विचार-मंथन किया जाना चाहि... और किया जा सकता है- यह प्रश्न प्रजातांत्रिक शक्ति व अ... ाकार का है, अगर प्रजातंत्र में जनमत द्वारा किसी जनप्रतिनि...

ा का चुनाव प्रजातांत्रिकता का एक अधिकार है तो उसी जनमत के बल पर उसकी वापसी (पुनर्मूषको भव की टेक पर) का अधिकार भी जनता को होना चाहिए। जायज-नाजायज का सवाल बाद का है। इलाहाबाद हाइकोर्ट का फैसला श्रीमती गांध ी की संसद सदस्यता को अवैध घोषित करता है। इससे प्रभावित श्रीमती गांधी अपनी कुर्सी बचाने के लिए कुछ बहुज्ञात, बहुशक्ति-संपन्न बहुसुरुचि एवं समर्थक भीड़ के बल पर एक राजनैतिक दाँव चलती हैं तो विरोध आग में 'घी' का काम करेगा ही। उसमें लपट तो तेज होगी ही। उस पर आपातकाल की घोषणा, विरोधियों को उनके जनतांत्रिक अधिकार से निरस्त करते हुए एक ही दिन में हजारों की संख्या में लोगों को सींकचों के भीतर बंद करने का फैसला निरा व्यक्तिवादी आचरण था समाजवादी कतई नहीं। अब यह प्रश्न मत उछालिएगा कि रूस में स्टालिन व ब्रेझनेव की सरकार ने क्या किया और ग्लासनोत्स और पेरिसत्राइका वहां समाज व्यवस्था की किस एक सूत्रता का मूल्य सामने रख पाया? असल में यहां तो अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य और समाज-मनोविज्ञान के बीच कुत्सित राजनैतिक आशय ने सेंसर की एक ऐसी अभेद्य दीवार खड़ी कर दी कि जिस के परे कुछ भी देख-समझ पाना आम आदमी के बूते से बाहर हो गया। कुछ जटिल गुत्थियां सुलझाने में मददगार जरूर होंगी।

सन्दर्भों-सूचनाओं, घटनाओं के विवेचन-वर्णन या विवरण के बीच उपन्यास का कथानायक और 'क्लैमर' वीकली का निर्द्वंद्व सम्पादक आनन्द महज एक प्रतिष्ठित-पत्र का सम्पादक मात्र नहीं बल्कि वह अन्तर्विरोधों के जालक की तथ्यात्मकता को समझते हुए राष्ट्रीय, मानवीय और एक बड़े आशय को राष्ट्र-हित में संजोए हुए जातिगत संकीर्णता से ऊपर उठकर कुछ सार्थक करने, सोचने वाला 'प्रतिनिधि' बनकर सामने आता है। असल में, वह विगलित होते प्रजातंत्र के चौथे खम्भे के सजग प्रतिनिधि के रूप में यह दर्शाना चाहता है कि जैसे कन्धे मजबूत हों तो एक गुर्दे या फेफड़े से भी व्यक्ति स्वस्थ जीवन जी सकता है, उसी तरह अकेला चना भाड़ न भी फोड़ सके, मगर तिड़क कर भड़भूजे की आंख जरूड़ फोड़ सकता है। इसमें चाहे प्रतीक्षा में टकटकी लगाए शून्य में ताकते लोग हों, हेमन्त के होश में आने की उम्मीद में आस लगाए उसके माता-पिता या तमाम सामाजिक-धार्मिक व जातीय बेड़ियों के बावजूद अपने इरादे में दृढ़ रश्मि हो, चाहे केन्द्र में अपनी पार्टी की सरकार के सत्ता में आने की उम्मीद में मिथ्या और दंभ से भरा दया कृष्ण हो जो हर हैवानियत भरे दुष्कृत्यों के बावजूद इस बात की उम्मीद लगाए बैठा है कि गवाहों के टूटने पर वह निर्दोष छूट जाएगा या फिर जनता का सही प्रतिनिधित्व करने वाले राष्ट्र के सजग प्रहरी सम्पादक निरवैर सिंह आनन्द हो या लोगों के पारस्परिक सम्बंधों की परिणति हो या अपराध की दुनिया में सार्थकता खोजते बल्ली और रहमत हों क्योंकि इसी धारा में सबकुछ को साथ लिए चलती नदी के 'उद्गम से विलीनता' के बीच एक गहरा अन्तराल है।

डॉ. महीप सिंह ने इस उपन्यास के बहाने सामाजिकता के गिरते ग्राफ को मानव मनोविज्ञान के आलोक में रेखांकित करते हुए, असल में, उन बातों को बल पूर्वक उठाया है, जिन्हें हर आदमी को समझना चाहिए। राष्ट्रीयता, आपसी भाईचारा, राज्य और राज्य के बीच अच्छे पड़ोसी होने के धर्म के नाते सहभाव और समतावादी समाज की निर्मिति की दिशा में सार्थक पहल-- कोई शब्दकोश तक सीमित संकेतग्रह मात्र नहीं हैं बल्कि जीवन व्यवहार को सही दिशा देने वाली अर्थ ध वनियां हैं और समय का तकाजा है कि अब इन्हें और हाशिए पर नहीं सरकाया जा सकता। आखिर एक न एक दिन तो इन व्यापक एवं भयावह होती जा रही विसंगतियों से रू-ब-रू होना ही पड़ेगा तो फिर प्रतीक्षा किस बात की है। डॉ. महीप सिंह ने एक सचेतन और सजग लेखक के नाते उपन्यास के माध्यम से मुहूर्त निकाल दिया है। अब इन समस्याओं के समाधान और निराकरण की दिशा में सक्रिय पहल की प्रतीक्षा है। तय है कि सामाजिक समस्या का हल सामूहिक शक्ति के बल पर ही संभव है।

उपन्यास के अंत में कुछ दृष्टि बिन्दुओं के बहाने सही कहा है लेखक ने, 'कोहरा बड़ा घना है। इसके बीच में से उगती धूप की सभी बाट जोह रहे हैं।...सभी लोग किसी प्रतीक्षा में हैं और सभी टकटकी लगाए शून्य में ताक रहे हैं. ..बस एक उम्मीद है और उम्मीद पे दुनिया कायम है इसे आप नकार नहीं सकते।' और बहुत कुछ शेष है मगर 'धूप' का संकेत शुभ भी है, सकारात्मक भी।

बीच की धूप : उपन्यास; लेखक महीप सिंह, प्रकाशक : किताब घर, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2009, मूल्य 295 रुपये।

161, कादम्बरी, सेक्टर-9, रोहिणी, दिल्ली-85

विपिन बिहारी

उनसे दूर

समय की करवट नहीं मानते थे ध्यानचंद। न ही अपने भाग्य को श्रेय देते थे। सब परिश्रम और ईमानदारी के कारण संभव हो पाया था। अपनी औलादों की परवरिश निष्ठापूर्वक की और वे भी उनके मनोनुकूल निकले। कहीं पर ऐसा नहीं लगा कि वे उनके विरूद्ध जा रहे हैं। न वे कभी चीखे- न चिल्लाए। न कभी डांट-फटकार की। जब भी वे मिले उनके आदर्श रूप में ही। वे गद्गद् होते थे। कभी-कभी भाव-विह्वल भी। आज के समय में औलादें मां-बाप के आदर्श रूप में ही निकले तो इसे क्या कहा जा सकता है?

उन्होंने अपनी औलादों को पालने-पोसने में कम तकलीफें नहीं बर्दाश्त की थीं। कम आमदनी वाले को मन-माफिक करने में क्या-क्या तकलीफें झेलनी पड़ती हैं, कोई उनसे पूछे। वे ज्यादा बीमारियों से परेशान रहे। ललिता अक्सर खूं-खूं करती रहती। महीने-दो महीने पर उसकी सांसें अनियंत्रित हो उठतीं और उन्हें नियमित करने में कितने रुपए हजम हो जाते थे, हिसाब कभी नहीं रखा। फिर शेखर निमोनिया- ग्रसित। बचपन में तो हर महीने दो से तीन सौ तक ले ही लेता था। बारह साल तक उसका निमोनिया खर्च बजट में अनिवार्य रूप से शामिल हो गया था। स्वरूप ही ऐसा निकला कि उसने कभी परेशान नहीं किया। और वे...ध्यानचंद, इन खरचों से तंग आ गए थे। होता ये था कि वे अपने बच्चों को कुछ देना चाहते थे अपनी तरफ से तो कल पर टाल देते थे जबकि वे चाहते थे कि बच्चे उनसे फरमाइश करें और वे उन्हें तुरत हाजिर कर दें। संयोग ही ऐसा हो पाया।

बच्चों की फरमाइश भी अनर्गल नहीं होती थी...ये शूट सिलवा दीजिए... मैंने बहुत खूबसूरत जूते देखे हैं। या वो वाली सायकिल या फिर खाने-पीने की चीजें खरीदने की जिद। बाजारू खाने-पीने की चीजों पर उनका एक हीन नजरिया था. ..वे सेहत के लिए नुकसानदायी हैं। खाना है तो घर बनवा कर खाओ। इससे ये फायदा होगा कि पाककला में सिद्ध हस्त होवोगे। पाककला जीवन् का ही हिस्सा है। खाना मनमाफिक न हो तो कुछ नहीं, आत्म संतुष्टि होनी चाहिए। आदमी खाने के लिए ही कर्म-कुकर्म करता है।

शेखर चटोर किस्म का हो सकता था। लेकिन ध्यानचंद के आगे उसका चटोरपन जाता रहता था। लेकिन वह जब तब ललिता से उनके पीछे जिद कर ही लेता था। लेकिन ये अलग बात होती थी कि उसकी जिद पूरी की जाती थी या नहीं।

ध्यानचंद से शेखर और स्वरूप पढ़ाई-लिखाई से ही मुतल्लिक चीजों की मांग करते रहे और वे उन चीजों को तकलीफें सहकर भी लाते रहे। वे उन चीजों को जिंदगी से भी अहम मानते थे। यहां तक कि वे चीजें महंगी किस्म की भी उठा लाते थे। शेखर और स्वरूप खूब-खूब खुश होते थे। उन्हें खुश देखकर वे भी खुश होते थे ये सोचकर कि पढ़ाई-लिखाई की चीजों से यदि बच्चे खुश होते हैं तो ये तय है कि अपने भविष्य में जरूर अच्छा करेंगे।

एक मामूली मास्टर का बेटा क्लास वन बन जाए, क्या यह कम गरूर की बात है? मामूली मास्टरी उनका भाग्य था या दुर्भाग्य या कि उनकी विवशता, वे प्रतिभा सम्पन्न थे या नहीं, उन्होंने कभी ऐलान नहीं किया और न ही कभी किसी से कम आंका। मास्टरी भी एक पेशा है, जो उनकी जिंदगी को एक रफ्तार दे रही है। वे उसे छोटा नहीं मानते थे।

शेखर बिल्कुल उन पर ही गया था। तेज-तर्रार होते हुए भी उसे अच्छा पद हासिल नहीं हो पाया था। शेखर को इसका मलाल हो सकता था, लेकिन ध्यानचंद को नहीं। जिंदगी गुजारने के लिए हर वक्त ऊंचाई अच्छी नहीं होती या कि ऊंचाई के साथ जिंदगी जी जा सकती है? वे इस पर यकीन कभी नहीं करते थे। उन्हें ये अवधारणा अति भौतिकवादी लगती थी। ऐसी अवधारणाओं से ही समाज विघटन की कगार पर खड़ा है और व्यक्तिवादियों की तादाद में लगातार इजाफा हो रहा है और इंसान इंसान के बीच न पटने वाली खाइयां निरंतर अपनी चौड़ाई बढ़ाती जा रही हैं। जिंदगी में यदि रोमांच भरना है तो साधारण और मामूली बनकर ही भरा जा सकता है। यही योग्यता और प्रतिभा है। छोटे लोग बड़े कारनामे कर जाते हैं तो उनका ही नाम होता है। बड़े तो करते ही रहते हैं कारनामे पर कारनामे।

शेखर जब अपने पैरों पर खड़ा हुआ था, ध्यानचंद की मास्टरी अमूमन सात साल बाकी थी। शरीर रूप से और मानसिक रूप से खुशहाल थे। शेखर से उन्होंने कोई अपेक्षा नहीं रखी थी कि उसके कमाने से उनके कंधे का बोझ रूई हो जाएगा या फिर उनकी जवाबदेहियां वह अपने कंधे पर ले लेगा। वे सिर्फ इतना जानते थे कि उन्होंने अपनी जवाबदेही निभा ली। अब उसकी जवाबदेही है कि उसे क्या करना है उनके लिए। क्योंकि जिस तरह से उनका कुनबा था, उसी

तरह उसका भी हो सकता है। जिस तरह से उन्होंने जवाबदेहियां उठाई हैं, उसी तरह से उसे भी उठानी है। वैसे उन्हें इतना यकीन था कि शेखर ऐसा-वैसा कुछ नहीं करेगा जिससे उन्हें आहत होना पड़ेगा।

लेकिन जब शेखर का ब्याह हुआ तब उन्हें लगा कि वह उनसे दूर हो गया है। उन्हें कुछ मलाल हुआ था, औलादों को अपने मां-बाप से दूर नहीं होना चाहिए। फिर सोचने लगते थे, उसका भी कुनबा है, उसकी भी औलादें होंगी। औलादों से जुड़े हुए उसके भी सपने होंगे। जैसे उन्होंने अपनी औलादों की इच्छाएं पूरी करने के लिए अपनी सारी ऊर्जाएं झोंक दी थीं, उसी तरह शेखर भी। वे सारा कुछ दिशा सीध में सोचते थे, लेकिन उनके भीतर कुछ उथल-पुथल होते रहता था जिसे कब्जाने में उन्हें खासा मशक्कत करनी पड़ जाती थी।

स्वरूप का क्लास वन में सेलेक्शन होते ही बधाइयों का तांता लग गया था। ध्यानचंद के आगे उनकी प्रशंसाओं के पुल बांधे जाने लगे थे...'इसमें परवरिश की भूमिका है। आपका बेटा मेधावी ही नहीं आदर्शवादी भी है। समाज़ के साथ-साथ राष्ट्र की प्रगति में अपना योगदान एकनिष्ठ होकर देगा। राष्ट्र की भविष्य ऐसे नौजवानों पर ही सुरक्षित कहा जा सकता है।'

'एक मामूली मास्टर का बेटा क्लास वन, मैं तो मान गया भाई, इसमें आपकी निष्ठता है, आपकी मिहनत है, आपकी जीवटता है। आप पद में मामूली हो सकते हैं, लेकिन व्यक्ति रूप में मामूली नहीं हो सकते हैं। अपने बेटे को संस्कारित ही नहीं किया बल्कि उसके भीतर आगे बढ़ने की इच्छा भी जगाई। मामूली बाप के बेटे जब कुछ नायाब करते हैं तो उस मामूलीपन में बाप की विलक्षणता देखी जा सकती है।''

ध्यानचंद को ऐसे-ऐसे जुमले सुनने को मिल रहे थे जो उनके लिए ऊबाऊ ही नहीं बल्कि तकलीफदेह भी हो जाते थे। उनकी प्रशंसा कहां तक और किस तरह की होनी चाहिए, इस पर वे विचारने लगते थे। अरे, उन्होंने कुछ नहीं किया है अपनी औलाद के लिए, उन्होंने सिर्फ पिता धर्म निभाया है। हर पिता अपना धर्म ही निभाता है। यदि औलाद ने उनके पिता धर्म को गंभीरता से आत्मसात किया तो इसमें नायाब क्या है? कौन पिता चाहता कि उसकी औलाद की परवरिश में कोई खोट रह जाए, उसकी औलाद अच्छा न करे? उनकी छाती गर्व से तन जानी चाहिए थी, लेकिन वे ऐसा-वैसा रत्ती भर भी नहीं महसूस रहे थे। वे देश के नागरिक हैं। देश की प्रगति में उनके कुनबे का एक ढेले का भी योगदान होता है तो यह उनका सौभाग्य होगा। जिससे जितना बन पाता है, उतना करता ही है देश सेवा...समाज सेवा। इसमें गर्व जैसी बात कहां से आती है? बधाइयां देने के पीछे कौन-सा उद्देश्य हो सकता है, उनके सामने एक नया मसला खड़ा हो गया था। अंत में उन्हें कहना पड़ा था,'' भाई, आपकी बधाइयां मुझे अतिशयोक्ति पूर्ण लग रही हैं। मैंने ऐसा कोई काम नहीं किया है, जिससे मुझे बधाइयां मिलनी चाहिए। अपनी औलादों को सिर्फ मैंने ही पालापोसा है, ऐसी बात नहीं। सभी की अपनी औलादें होती हैं, सभी उन्हें पालते हैं। यदि मेरी औलाद मिहनत के बल पर आज कुछ हो गई तो, मां-बाप का काम है उन्हें सहयोग देना, उत्साहित करना।''

स्वरूप ने जब ज्वाइन किया था तो ध्यानचंद की मास्टरी महज एक साल बची थी। अब उन्हें पसीने गारने की क्या जरूरत? जिनके घर में दो-दो कमाने वाले हो गए तो...माना कि शेखर उतना नहीं कमाता है जितने में अपने कुनबे को ही पाल सकता है, लेकिन स्वरूप तो...वह कुछ भी कर सकता है। ध्यानचंद चाहेंगे तो उसकी कमाई में तैर भी सकते हैं। वोलिंटरी मार दें अब। बहुत थक गए होंगे। दो बेटों को मानमाफिक परवरिश करना कम थकाऊ काम है? अब आराम कीजिए। मिहनत का फल मिल गया। फल खाना चाहिए, कुछ तो संतुष्टि मिलेगी।

बेटों की वजह से वे क्या-क्या करेंगे, क्या-क्या नहीं करेंगे, वे काहिल बन जाएं? इसी समय ध्यानचंद बीमार पड़े थे। सूई-दवाइयां हुई थीं और ये घोषित कर दिया गया था जांच-पड़ताल के बाद कि उन्हें मधुमेह हो गया है। वे ताज्जुब खा गए थे...उन्हें मधुमेह कैसे हो गया? न कभी शराब का सेवन किया, न मांसाहार किया, फिर ऐसी बीमारी? क्या इत्फाक है? ललिता भी बीमारी पड़ी। जब वह चंगा हुई तो डॉक्टर ने किसी ऐसे रोग का जिक्र नहीं किया जो उसके जीवन के साथ जाए। डॉक्टर ने ध्यानचंद को किस्म-किस्म की सलाहें दी थीं, खासकर खाने-पीने की चीजों के मामले में... तैलीय तो बिल्कुल न खाएं, चाय बिना चीनी के ले सकते हैं। सब्जियां ताजी और हरी...करैले का सेवन खूब करें। हो सके तो उसका जूस निकाल कर पी सकते हैं, यह एक औषधीय प्रयोग है। सुबह-शाम जितना ज्यादा हो सके घूमें। यूं समझ लीजिए, यदि उम्र भर जीना है तो खान-पान के मामले में संन्यासी बनना पड़ेगा। ऐसा भी कहा जा सकता है कि जीवन की बागडोर अब पूरी तरह आपके हाथों में है। बागडोर थामना अच्छा लगेगा या बागडोर छोड़ना, ये आप पर निर्भर करता है।

ध्यानचंद कब अपनी सीमाओं से बाहर गए, कभी मौका ही नहीं मिला। संन्यासी ही बने रहे। मजबूरी भी कभी-कभी फायदेमंद नतीजा दे जाती है। अब वे परहेज करेंगे। वे ऐसे मौके पर जरूर मुस्कुराते थे, किसी को पता नहीं चलता था। ललिता भी नहीं देख पाती थी। लेकिन इस बार की मुस्कुराहट उसने देख ली थी। वह खांसते हुए पूछ बैठी, "मुस्कुरा रहे हो, क्या सोच रहे हो?"

"यूं ही..।"

"कुछ जरूर सोच रहे हो, यूं कोई नहीं मुस्कुराता।"

"क्या वजह हो सकती है? इतना जान लो, कोई रूपसी मेरा विषय नहीं हो सकती।" ठठाकर हंसे थे ध्यानचंद।

"कौन घास डालेगी इस उम्र में?" ललिता ने चुहल की थी।

"तब सोचो...खूब सोचो और पागलों की तरह हंसो भी।"

ऐसा लगता है, उनके बीच कुछ है जो उनके मन मुताबिक नहीं है और जिसे दूर करने के लिए उनसे ललिता या वे ललिता से छोटी-मोटी ठिठोली करते रहते थे।

ज्वाइन करने जाते समय स्वरूप ने ध्यानचंद और ललिता के पांव छुए थे। दोनों भाव-विभोर हो गए थे। ललिता के मुंह से 'जियो बेटा, ठीक से रहना' शब्द निकले तो सही, लेकिन वह इतना विह्वल हो गई थी कि उसके शब्द मौन पड़ गए थे। लेकिन उसकी आंखों में एक चमक थी जिसे स्वरूप पढ़ और समझ सकता था। ध्यानचंद स्वरूप के साथ हो लिए थे। ललिता उनके पीछे-पीछे हो ली थी। ध्यानचंद नसीहतें देते जा रहे थे जैसे स्वरूप को, "बेटा, तुम एक जिम्मेवार पद पर जा रहे हो। तुमसे समाज को ढेर-सारी अपेक्षाएं हैं। देश की प्रगति में भी तुम्हारा योगदान होगा। मैं समझता हूं, तुम कोई भी काम अपना कर्तव्य समझकर करोगे। न्याय करना, सार्वजनिक जीवन जीना। मुझे गर्व है कि मैं तुम्हारा पिता हूं। मेरे घर से एक कर्मठ, आशावान...शख्स निकला। मेरा जीवन सार्थक हुआ। लोभ-लालच से मुक्त रहना बेटा। इस देश में बहुतों ऐसे हैं, जिन्हें न्याय नहीं मिलता, जो समस्याओं से रात-दिन जूझते रहते हैं। जिनकी बुनियादी जरूरतें भी पूरी नहीं हो पा रही हैं। तुम भले ही एक छोटी इकाई हो सकते हो, लेकिन तुम्हारा काम निश्चय ही अनुकरणीय और प्रशंसनीय होगा। रही बात हम दोनों की, तो बाप जब बुजुर्ग होता है तो औलादों पर निर्भर हो जाता है...वैसे मैं...।" ध्यानचंद कुछ भावुक हो गए थे जैसे वे बहुत कुछ कहना चाहते थे स्वरूप से, लेकिन गला रूंध जाने की वजह से वे बीच में ही ठहर गए थे।

स्वरूप गर्दन झुकाए सुनता जा रहा था। जब चलने को हुआ था अंतिम तौर पर तो ललिता बोल पड़ी थी, "अपना ख्याल रखना बेटा।"

देर तक खड़े रहे थे ध्यानचंद और ललिता। देखते रहे थे एक टक उस रास्ते को, जिस रास्ते स्वरूप चला जा रहा था। स्वरूप जब ओझल हो गया था तब लौट आए थे दोनों।

"देखना, मेरा बेटा नाम करेगा, मुझे पूरा भरोसा है। उसकी जय-जयकार होगी।" घर के भीतर आते ही ध्यानचंद ने नारा लगाया था।

"ऐसे कह रहे हो जैसे वह सिर्फ तुम्हारा ही बेटा है, मैं उसकी कुछ हूं ही नहीं। पेट में नौ महीने तक तुमने ही पाला था?" ललिता मुंह बिगाड़ने के अंदाज में बोली थी।

दोनों का मुंह बंद हुआ था। ध्यानचंद किसी बात को लेकर सशंकित लग रहे थे। उनका चेहरा देखकर सहज ही अंदाजा लगाया जा सकता था। लेकिन शंका कैसी और किस बात की शंका?

"क्या सोच रहे हो?"

"मेरा मन बहुत डर रहा है।"

"कैसा डर, किस बात का डर? ये क्यों नहीं कहते कि अब सठिया गए हो तुम। बुढ़ौती में ऐसा रोग हो ही जाता है कि बिना डर का...अनाप शनाप सोच-सोच कर डर। अब हमलोग सारी फिक्र छोड़कर ईश्वर में मन लगाएं।"

ललिता की बातों पर कुछ नहीं बोले थे ध्यानचंद।

स्वरूप की ज्वाइनिंग हुए अभी कुछ महीने ही व्यतीत हुए थे कि बड़े-बड़े रिश्ते आने लगे उसके लिए। ध्यानचंद का दिमाग खराब होने लगा था," इतने बड़े-बड़े लोग मेरे बेटे से शादी करेंगे अपनी बेटी की?"

"ध्यानचंद जी, जो मांगिए मैं देने के लिए तैयार हूं...दस लाख...बीस लाख...आप बोलिए तो सही।"

"मेरी लड़की बहुत खूबसूरत है, अच्छी लड़की के साथ-साथ आपके बेटे की कीमत भी दे सकते हैं।"

ध्यानचंद के दरवाजे पर एक-दो गाड़ियां अक्सर दिखने लगी थीं। वे गड़बड़ा जाते थे उन्हें देखकर। बोलना होता कुछ और बोल जाते थे कुछ। ललिता भी सकदम।

"पैसे से लड़का खरीदने आ गए अपनी बेटी के लिए जैसे स्वरूप कोई 'माल' हो गया बाजार का। मैं तो अपने बेटे को नहीं बेचूंगा।" ध्यानचंद बड़बड़ा उठते थे।

"ब्याहना तो है एक न एक दिन।" ललिता जैसे स्वरूप की कीमत से प्रभावित लगती थी, "दान-दहेज भी तो चाहिए।"

"इतना नहीं कि घर बाजार हो जाए। मैं बहू लाना चाहता हूं पैसे की गुड़िया नहीं।" थोड़ा तैश में आ गए थे ध्यानचंद।

"लड़की वाले जब स्वेच्छा से दे रहे हैं तो हमें लेने में हर्ज क्या है?"

"हर्ज है तभी तो कह रहा हूं।"

"क्या हर्ज है?"

"जो लड़की अपने साथ दस-बीस लाख लाएगी तो समझ सकते हैं कि हमारी कीमत क्या होगी उसके आगे, स्वरूप तो उसका गुलाम बनकर रह जाएगा और बहू...क्या हमारी औकात है दस-बीस लाख लेने की?"

"हम थोड़े ही ले रहे हैं, बेटे को मिल रहा है।"

"क्या बेटे के लिए हम कुछ नहीं हैं? मैं औकात से बाहर जाने के बिल्कुल खिलाफ हूं। भविष्य भी देखना है और घर भी।"

"यदि स्वरूप ही चाहे ऊंची कीमत में बिकना तब क्या करोगे?"

"तब वह गलत करेगा। समझाऊंगा उसे।"

"स्वरूप तुमसे बहुत आगे है। तुम ठहरे दो टके के मास्टर और वह...उसकी सोच तुमसे ऊंची है।" ललिता गर्वोन्नत हो गई थी।

"ऐसा भी हो सकता है।" ध्यानचंद थोड़ा लाचार लगे थे," वैसे उसे पैसे की जरूरत ही क्या है, तनख्वाह पा ही रहा है।"

लड़कियों के बापों की आवाजाही देखी और उनकी ऊंची बोलियां सुनीं तो ध्यानचंद के भीतर एक डर गहरे धंसने लगा था। ऐसा लगा था, ये धनाढ्य बाप उनके बेटे को उनसे दूर ले जाएंगे और फिर उससे मनमाना करवाएंगे। उन्होंने जो आस लगा रखी है अपने बेटे से, सब मटियामेट हो जाएगा। वह अपने लक्ष्य, निष्ठा से बिदक जाएगा और फिर वही आम धारणा...पैसों की निरंतर बढ़ती भूख, उल्टे-सीधे काम...कोई देखने वाला नहीं, सुननेवाला नहीं...फिर देश...समाज, नहीं बेटा, ऐसा कतई नहीं करना। देश...समाज को आगे ले जाने में सहयोग दो, अपनी योग्यता, विलक्षणता का परिचय दो। हम कोई 'माल' नहीं खरीदते, मिहनत से हासिल करते हैं जैसे तुमने अपनी मिहनत से मुकाम हासिल किया। बेटा, मेरा मान रखना...

ध्यानचंद गिड़गिड़ा रहे थे जैसे स्वरूप के आगे, उसे पथ भ्रष्ट होने से मना कर रहे थे। शादी साधारण परिवार में भी कर सकते हो जैसे हमलोग हैं। आज दरजा हासिल हुआ है तो उसका लाभ अपने दरजे को ही मिलना चाहिए। वे तो दरजेदार हैं ही। उनके भी तो सपने हैं जो दरजेदार नहीं है। और वे तुम्हें पसंद करते हैं।

"नहीं भाई, मेरा बेटा 'माल' नहीं है कि उसे बेच दूं। आप खरीदार हैं तो मेरा बेटा बिकाऊ नहीं है। मैं हाथ जोड़ता हूं, आप लोगों से मुझे घबराहट होती है। मैं डर जाता हूं। मुझे डराने मत आइए।" एक लड़कीवाले को ध्यानचंद ने कह दिया था।

"मास्टर साहेब, मैं जब अपनी इच्छा से कीमत देना चाहता हूं तो इसमें आपको कोई गुरेज नहीं होना चाहिए। देखिए, दिल मत दुखाइए। बड़ी उम्मीद लेकर आए हैं।"

"मुझे शर्मिंदा न करें। हम लोग आपके योग्य नहीं हैं।"

"आपका बेटा तो है न।"

"बेटे का अस्तित्व इस घर से ही है।"

"मास्टर साहेब, आपकी सोच निहायत ही दकियानूस, अप्रगतिशील है। समय और परिस्थितियां एक जैसी नहीं होतीं। आप वर्तमान में जीना सीखिए, वर्तमान ही अहम् होता है इस आर्थिक युग में। भूत में मत जाइए। कहते हैं पूर्वज बंदर थे। क्या आप बंदरों की जमात में जाना पसंद करेंगे? ये भी अतीत से जुड़ा हुआ है। जैसे अपने बेटे को स्वयं से जुड़ा हुआ मानते हैं। आज आपका बेटा आपसे आगे निकल गया तो उसे आगे जाने दीजिए। उसे क्यों अपनी जकड़ में रखना चाहते हैं? ऐसी भी तो गुंजाइश हो सकती है, आपका बेटा आपके रास्ते चलने से परहेज करे।"

ध्यानचंद चौंक गए थे। लड़की के बाप के तर्क का कोई वितर्क नहीं था उनके पास, फिर भी वे मानने के लिए तैयार नहीं थे। और अंत में हार न मानने के अंतिम हथियार के रूप में अपने हाथ जोड़कर इतना ही कहा था, "मैं साधारण मास्टर रहा, छोटे-छोटे बच्चों को पढ़ाता था। मेरी सोच छोटी रही शायद इसलिए मैं आपकी बात नहीं समझ पा रहा हूं। आपकी बातें आसमान की हैं और मैं जमीन की सोच रहा हूं, जमीन की सच्चाई की सोच रहा हूं। यही फर्क है हम दोनों में। रिश्ते बराबर वाले में होने चाहिए, ये मैं मानता हूं। मैं लड़के का बाप हूं और आप एक बाप के पास आए हैं तो बाप अपने हिसाब से बोल रहा है।"

लेकिन स्वरूप बाजार का माल हो गया था। ध्यानचंद को दर-किनार करते हुए उसने स्वयं ही अपनी कीमत तय की थी। ध्यानचंद ने जब उससे कहा, ''ये क्या कर रहा है बेटा, क्या तुम बिकाऊ हो?''

''हां बाबू जी, मैं क्या सभी बिकाऊ हैं। मैंने मिहनत की, तब कहीं जाकर इस पोजीशन में हूं। मैं क्लर्क किरानी भी बन सकता था, आप जैसे मास्टर भी बन सकता था। लेकिन मैं इसलिए नहीं बन पाया कि मैं ऊंचे दाम में बिकना चाहता था।'' स्वरूप ध्यानचंद की सोच से बिल्कुल ही विपरीत हो गया था।

''ऐसा मत बोल बेटा, तुमसे लोकहित जुड़ा हुआ है, राष्ट्रहित जुड़ा हुआ है। तुम हमारे बीच आदर्श भी हो सकते हो। ऐसा नहीं कि मैं तुमसे कोई लालसा पाल रहा हूं।''

''आप मुझे अपने जैसा बनाना चाहते हैं, यही आपकी लालसा कही जाएगी।''

''यदि तुम लोक हित, राष्ट्रहित को मेरी लालसा समझ रहे हो तो ये वैयक्तिक नहीं है।''

''अब चुप भी करो, बेटे के पांवों में तुम्हारे नाप के जूते आ गए हैं, ये समझना चाहिए तुम्हें। उसे अपनी तरह से करने दो। वह गलत ही क्या कर रहा है। बेटा, तुम अपने रास्ते ठीक हो, बाप सठिया गया है, उसे भूंकने दो।'' ललिता बीच में मेंढक की तरह उछलने लगी थी।

और ध्यानचंद, जैसे उनके दायरे से सब कुछ बाहर निकल गया था। रह गया था सिर्फ एक निशान जिसे ध्यानचंद ही देख सकते थे। वे मौन साध गए थे।

शादी के तीसरे दिन ही स्वरूप विभा को अपने साथ लेता गया। घर में बिजली आती-जाती थी। विभा बेहाल। तब उसकी खातिर जेनरेटर की व्यवस्था की गई थी। फिर विभा ने ही कह दिया, ''मैं यहां अब नहीं रह पाऊंगी।''

स्वरूप उसकी समस्या से रूबरू था सो उसने मना ही नहीं किया था। उसने ध्यानचंद से सिर्फ इतना ही कहा था, ''हम लोग जा रहे हैं, छुट्टी खत्म हो गई है। विभा यहां नहीं रहना चाहती। उसे दिक्कत हो रही है।''

''मुझे मालूम है बेटा।'' ध्यानचंद भावहीन बोले थे। उन्हें अब सारा कुछ फिजूल लग रहा था।

घर में खूब चहल-पहल रही। विभा की ठसक ही सही, उसके होने से उत्सव जैसा ही लग रहा था। लेकिन उसके जाते ही घर वीरान-वीरान...मरघटी सन्नाटा लिए लगने लगा था। ललिता महसूस कर रही थी।

''घर सूना हो गया।''

''सूना होना ही था क्योंकि चमक-दमक की उम्र बहुत कम होती है।'' ध्यानचंद कटु हो गए थे, ''अब हमें कोई उम्मीद नहीं रखनी चाहिए। संतान सुख जितना हमें मिलना था मिल गया। ऐसा लगता है स्वरूप को हमसे किसी ने छीन लिया है। क्या हमरे परिश्रम का यही फल मिलना चाहिए? जनम दें हम, पालन-पोषण में जो दिक्कतें आती हैं उन्हें सहें हम। और जब वह कुछ बन जाता है तो उसे कोई और खरीद ले जाए। विवशता ऐसी कि सारा कुछ होते हुए सिर्फ हम देखते रह जाएं। न रो पाएं, न सिसक पाएं। धन हमेशा ही बलवान रहा है। उसके आगे न नीति है, न लोकाचार, न नैतिकता, न आदर्श। सब रिरियाते रहते हैं। और हम मिडिल क्लास वाले उनके लिए क्या-क्या न करते हैं।''

''तुम ही हो कि लकीर पीटते रहे हो। हम बेटे के साथ हो लें तो क्या अच्छा हो?''

ध्यानचंद ने ललिता की बात पर चुप्पी साध ली थी।...नहीं, स्वरूप उनका नहीं रह गया अब। बड़े घर की बेटी से उसका ब्याह हुआ है। वह उसके बड़प्पन में बझ गया है। उसके लिए सुविधाएं हासिल करने के लिए जितने तरह के अनाप-शनाप हो सकते हैं, वह अब करेगा। यदि वह अब ईमानदार भी बनना चाहेगा तो नहीं बन पाएगा। उसके ससुरालवाल यही कहेंगे, उनके बराबर आना है तो अधिक से अधिक पैसे कमाओ। आज के आर्थिक युग में सारा कुछ बेमानी है। कुछ ऐसा ही सोचते रहते ध्यानचंद। बीच-बीच में चिहुंक पड़ते थे और बड़बड़ाने लगते थे जैसे वे स्वरूप से बहस लड़ा रहे हों और स्वरूप उन्हें आज के समय का वास्ता दे रहा हो। स्वरूप यह भी कहता हुआ लगता...आज के कठिन समय में कितना मुश्किल है एक व्यक्ति के लिए ईमानदार, निष्ठावान
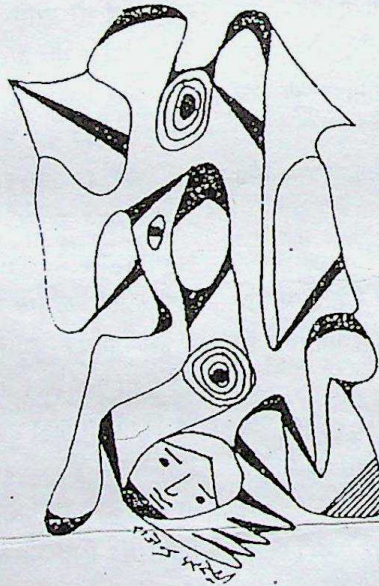
होना। जब हवा साथ-साथ नहीं चल रही हो तो वह अतिरिक्त मिहनत करने की जरूरत नहीं समझता है।

ध्यानचंद कहते हैं, "तुम एक आम आदमी नहीं हो। तुम्हारे हाथ में बहुत कुछ है। जब तुम आम धारणाओं के पिछलग्गू ही बने रहोगे तब फिर क्लास बन कैसा? विशिष्ट हो तो विशिष्ट रहा जा सकता है।"

जब ध्यानचंद की बड़बड़ाहट खत्म होती थी तो उनकी नींद सिरे से खुल जाती थी। दूर निहारते थे अंधेरे में जैसे छत उन पर गिरती चली आ रही है और अपने हाथों पर उसे रोक लेने की जुम्बिश। एक डर भी होता था उनके भीतर, कहीं छत न आ जाए हाथ पर और वे...। ललिता की घर्र-घर्र आवाज पर लानतें वांचने लगते थे। ये औरत जरा भी उनसे मानसिक तौर पर जुड़ी हुई नहीं है। बेफिक्र होकर कैसे सो रही है धर्र-धर्र? वे उसे कुहनियां दें। लेकिन क्या फायदा, उसे औलाद की सभी हरकत वाजिब लगती है। उनकी नींद उखड़ती थी तो उखड़ी ही रहती थी। दोबारा कभी नहीं आती थी। वैसे बुजुर्ग कुत्ते की नींद सोते भी हैं।

घर के वीरानियों के कई महीने हो गए थे। इस दौरान स्वरूप ने ध्यानचंद और ललिता की कोई खबर नहीं ली थी।

"फुर्सत ही नहीं मिलती होगी।" ललिता स्वरूप के बचाव में बोल पड़ती थी।

"हां, ये तो है।" ध्यानचंद उसका चेहरा देखते हुए बोलते थे।

"ऐसा क्यों नहीं करते, चल चलें हम दोनों कुछ दिनों के लिए उसके पास। बहू जैसी भी हो, आखिर बहू ही है।" ललिता ने अचानक ही अपनी इच्छा जाहिर की थी। उसकी आंखों में हसरतों के ढूह नजर आए थे।

"अपमानित होने के लिए जाएंगे।"

"क्या हुआ, बेटा जना है तो इतना भी नहीं सह पाएंगे? वैसे हम लोग उसके पास रहने के लिए थोड़े ही जाएंगे, लौट आएंगे दो-चार दिनों के बाद।"

"मेरा मन नहीं है।"

"तुम्हारे मन में स्वरूप को लेकर हमेशा कड़वाहट रही है।" ललिता ने जिद की थी।

ध्यानचंद उसकी जिद को शालीनता से टालते रहे थे हफ्तों, लेकिन फिर वे हिल गए थे।

सहमते-सिकुड़ते ही गए थे दोनों। नौकर ने उनका परिचय पूछा था। नौकर भीतर गया। जब आया तो उन्हें भीतर ले गया और एक सजे-सजाए कमरे में बिठा दिया। न विभा आई, न स्वरूप। ऐसा लग रहा था कई लोग थे भीतर। नौकर से पूछने की हिम्मत जुटाई थी ध्यानचंद ने। नौकर ने कहा था, "साहब के ससुराल वाले आए हुए हैं।"

"वे अक्सर आते हैं?"

"हां...।" नौकर का संक्षिप्त जवाब जैसे उसे कम बोलने की हिदायत दी हुई थी, "बोलिए, क्या लाऊं...चाय...शर्बत कोक या...?

"बेटा, फिलहाल हमें एक गिलास पानी पिला दो।" स्वरूप के उनके पास न आने से ध्यानचंद भीतर तक आहत लगे थे. ..वे इतना अदना हो गए?

"क्या सोच रही हो, देखा न...हम अपने बेटे के मां-बाप हैं।" ललिता के कान में फुसफुसाए थे ध्यानचंद। उनके होंठों पर व्यंग्यभरी मुस्कुराहट थी।

ललिता के चेहरे पर आंधियां चल रही थीं। वह बार-बार उधर ही ताके जा रही थी, जिधर से विभा और स्वरूप आ सकते थे उसके पास।

नौकर चाय ले आया था। चाय रखकर पूछा था उसने, "कोई काम है?"

"मैं अपने बेटे के पास आया हूं।" ध्यानचंद यकायक तैश में आ गए थे, "बाप अपने बेटे के पास किसी काम से ही आ सकता है?"

कई घंटे हो गए। दोनों के सामने नौकर ही आता-जाता रहा था। पूछता रहा था बीच-बीच में...कुछ चाहिए।

ध्यानचंद बोलते रहे थे, "अपने बेटे से मिलने आए हैं।"

और अंत में ललिता का हाथ पकड़कर उठ खड़े हुए थे ध्यानचंद, "चलो, बेटा हम सब से बहुत दूर निकल गया है।" ललिता को खींचते हुए ही निकले थे बाहर। बीच में लॉन पड़ता था और हरी-मखमली घास से ढंपा हुआ था। ललिता जैसे घिसट रही थी...एक बार ही सही मिल लेते। वे पीछे मुड़-मुड़कर देखती जा रही थी। बेटे-बहू की एक झलक ही सही।

जब फाटक से बाहर हुए दोनों तो ललिता भरभरा कर रो पड़ी थी। ध्यानचंद भी भावुक हो उठे थे। और जब दोनों स्टेशन की तरफ आने लगे थे तो उनके पांव बजनी हो उठे थे। उनके कदम काफी धीमे थे।

61बी, रेलवे कॉलोनी, जपला, पलामू, झारखंड-822116

वल्लूरु शिवप्रसाद

मुआवज़ा

तेज रफ्तार से दौड़ रही सफेद सुमो की गति बहुत धीमी हो गई। इसका मतलब है कि यातायात में कहीं कोई अड़चन है। खीझकर डॉक्टर सोमराज ने अपनी घड़ी देखी। तब तक आधे घंटे की देर हो चुकी थी। गहन पल्सपोलियो प्रतिरक्षा कार्यक्रम के संबंध में एक जिला स्तरीय बैठक हो रही थी। लंच के समय तक उससे निपटकर फिर उसके बाद उसे मंत्रीजी के कार्यक्रम में शामिल होना था। रोज किसी न किसी बात को लेकर तनाव! जिला चिकित्सा और स्वाथ्य विभागीय अधिकारी के रूप में पदोन्नति मिलने पर जो प्रसन्नता हुई थी, वह नौकरी के दायित्व निभाते हुए कहीं महसूस नहीं हो रही थी। नौकरी में ऊंचे ओहदे सम्मानजनक हो सकते हैं, परन्तु इससे मन की शांति लुप्त हो जाती है। जिम्मेदारियां और कर्तव्य जो हैं सो, ऊपर से राजनीतिज्ञों की हुकूमत, पैरवी, प्रलोभन और धमकियां...ओह! यह सब तलवार की धार पर चलने जैसा है।

सड़क पर यातायात पुलिस की हलचल दिख रही थी। एक ओर खड़े होकर एक सिपाही सतर्कतापूर्वक आदेश देते हुए ट्रैफिक को धीरे-धीरे क्लियर कर रहा था। दूसरी ओर यातायात क्षेत्र निरीक्षक और उप निरीक्षक उछल-कूद कर रहे थे। यातायात पुलिस वाहन के चारों ओर लोगों की भीड़ जमा थी। पुलिस वाहन में ठेले, साग-सब्जियों के टोकरे, बांस की टट्टियां आदि चढ़ाये जा रहे थे। दीन-हीन मुद्रा में पांव पड़कर गिड़गिड़ा रहे फेरीवालों को पुलिस के सिपाही गालियां देते हुए परे धकिया रहे थे।

जीप धीरे-धीरे आगे बढ़ रही थी। डॉक्टर सोमराज वहां की हालत को समझ गया। उस जगह से कब और कितनी जल्दी निकला जाए, इसे छोड़कर उसके मन में और कोई विचार नहीं था।

"साहब! रोज़ गश्ती सिपाही उन लोगों से हस्बेमामूल रकम ऐंठते ही रहते हैं। जब महीने के आखिर में केस की जरूरत पड़ती तो इस तरह जुल्म ढाते रहते हैं। गड़बड़ी के मामले बनाकर गरीब लोगों से अदालतों के चक्कर लगवाते हैं। जिनका कोई सहारा नहीं होता, उनकी तकलीफें बताई नहीं जा सकतीं।" ड्राइवर की सीट पर बैठा सैदाराव कह रहा था।

"साहब! अब की बार यह गलती माफ कर दीजिए माई-बाप! गांव का हूं। मैं कुछ जानता नहीं हूं। यह गाड़ी किराये पर लाया हूं। शाम तक वापस नहीं करूंगा तो वे लोग मुझे मारेंगे हुजूर!" पुलिस के सामने गिड़गिड़ा रहे उस व्यक्ति को देखते ही डॉक्टर सोमराज को यूं लगा कि उसकी यादों की परतों में कुछ हरकत होने लगी है। ऐसा प्रतीत हो रहा था कि उस व्यक्ति से वह पहले कभी कहीं पर मिल चुका था और वह उसके लिए एक जाना-पहचाना आदमी है। पर कौन, यह उसे तुरंत याद नहीं आ रहा था। उसकी बातों की परवाह किये बिना पुलिसवालों ने उसे एक तरफ बगल में ढकेल दिया।

सुमो कुछ आगे बढ़ी और फिर रफ्तार पकड़कर दौड़ पड़ी। जब तक दफ्तर नहीं पहुंचा, सोमराज उस व्यक्ति के बारे में ही सोच रहा था। काफी माथा-पच्ची करने के बावजूद उसे याद नहीं आया कि आखिर वह आदमी कौन है। ऑफिस में कदम रखने के बाद उसे फिर उसके बारे में सोचने का समय ही नहीं मिला। वह काम के दबाव में आ गया था।

अगले दिन सुबह वह घर में अखबार देख रहा था कि उसी वक्त साग-भाजी बेचने वाला एक आदमी चौखट के सामने खड़े होकर आवाज दे रहा था- "बीबीजी! चौली, पालक, मेथी, गोंगूरा, धनिया ले लो।"

सोमराज को ठीक उसी वक्त याद आ गया कि पिछले दिन देखा हुआ व्यक्ति कौन था। वह तो पापाराव था! लगभग दस वर्ष पहले जब वह एक इलाके के प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्र में चिकित्सा अधिकारी के रूप में काम कर रहा था, तब वह उसके सारे परिवार के लिए सुपरिचित था। हैसियत, धर्म और जाति से बेखबर वह 'बहनजी!' कहकर उसकी पत्नी से भाई का रिश्ता बनाकर उसके परिवार के करीब आ गया था।

बरसों बाद इस हालत में यहां इस तरह पापाराव से भेंट सोमराज के लिए आश्चर्यजनक लग रही थी। दूरदराज के एक छोटे-से गांव में अपने पसीने से मिट्टी को सींचकर सुनहरी फसलें उगानेवाला एक किसान इस महानगर में एक छोटे खुदरा व्यापारी की तरह दीख रहा है, इस बात पर उसे विश्वास नहीं हो रहा था।

उस गांव में पापाराव का परिवार साग-भाजी की खेती में माहिर था। ताज़ा और स्वादिष्ट भाजी के लिए उन्होंने अच्छा-खासा नाम कमाया था। रोज नियमित रूप से पापाराव, उसका भाई या उसके परिवार का कोई अन्य सदस्य साग-भाजी बेचने के लिए लाता था। सोमराज के घर में नेमी तौर पर कोई न कोई साग-सब्जी बनाने की आदत के कारण उनके यहां वे रोज कुछ न कुछ दे जाते थे।

"इतने में दो, इतना कम करो...ऐसा मोलभाव करने की जरूरत ही नहीं है। अगर यही चीज हम शहर में खरीदते तो दुगुना भाव होता" यह कहकर श्रीदेवी उनके बारे में प्रशंसापूर्वक अपनी राय देती थी।

शायद पापाराव का परिवार बड़ा था। महीने में कम से कम दो-तीन बार घर के बुजुर्गों या बच्चों में से किसी न किसी की तबीयत ठीक नहीं है, इस कारण से वे प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्र में आकर जांच करवाते थे। सावधानी से उनकी जांच-पड़ताल करके सोमराज उन्हें दवाइयां दिया करता था।

"सुनिए। पापाराव दो हजार रुपये उधार मांग रहा है। कहता है, जल्दी से जल्दी बीज बोने हैं। बैंक वालों ने एक हफ्ते में ऋण देने की बात कही। तब तक रुकने से मौका निकल जाएगा।" श्रीदेवी के कहने के ढंग से ही उन्हें उधार देने के लिए उसका अनुकूल रवैया साफ झलक रहा था।

"अनजान गांव में पैसे की लेनदेन करना ठीक नहीं है। हम तो ठहरे हैं नौकरीपेशा। यह तो अनचाही समस्या मोल लेने के सिवा और कुछ नहीं।" वह अनिच्छा से बुदबुदाया।

"बेचारा! एक साल भर के परिचय में भी इसने कभी हमसे कुछ भी नहीं मांगा। लगता है, ये लोग बात करने और काम करने में ईमानदार हैं उधार...वह भी जल्दी चुकाने के लिए कह रहा है न!" मना करने से श्रीदेवी के मन को किस कदर ठेस पहुंचेगी, इसे वह अच्छी तरह जानता था, इसलिए इनकार नहीं कर सका।

जैसा कहा था, वैसा ही पापाराव ने ठीक एक सप्ताह के अंदर ही दो हजार रुपये लाकर श्रीदेवी को लौटा दिये थे।

"बहनजी, आपने अपने मंगलमय हाथों से दिया। बीज बिना किसी झंझट के अंकुरित हो गए हैं। पहले ही दौर की फसल से साग-भाजी लाकर सबसे पहले आपको ही दूंगा।" उसने ऐसा कहा तो श्रीदेवी की खुशी की कोई सीमा नहीं रही।

श्रीदेवी का दृढ़ विश्वास था कि हम अपने से कम हैसियत वालों की जो भी सहायता करते हैं, उसे वे लोग लंबे समय तक याद रखते हैं और कृतज्ञ रहते हैं। उसके इस विश्वास के अनुरूप ही पापाराव के परिवार के सदस्य व्यवहार करते थे। चाहे सब्जी की पहली फसल हो या सागभाजी की पहली कतार, सबसे पहले श्रीदेवी को ही बोहनी करनी होती। वे जो कुछ देते उसका कोई नाप-तौल या मोलभाव नहीं होता। हाथ भर साग-सब्जी देने और बदले में दिए हुए पैसे ले लेने के अलावा और कोई गिनती या हिसाब नहीं रहता।

"बहनजी, जैसे साहब का हाथ अच्छा है, वैसे ही आपका हाथ भी बहुत लाभकारी है। आप हाथ लगाएं तो मिट्टी भी सोना बन जाएगी।" पापाराव की बातों से श्रीदेवी अत्यंत प्रसन्न होती थी।

धीरे-धीरे श्रीदेवी की घनिष्ठता इतनी बढ़ गई थी कि वह डॉक्टर साहब की पत्नी की हैसियत से पापाराव और उसके रिश्तेदारों के यहां शादी-ब्याह और ऐसे अन्य शुभ अवसरों पर जाकर उन्हें शुभकामनाएं और उपहार दे आने लगी।

एक निकटवर्ती गांव तोट्लापालेम में दस्त होने के 'डायरिया' वाले केस आ रहे हैं, यह सूचना क्षेत्र के स्टाफ से मिली तो इस कारण से सोमराज को अत्यावश्यक तौर पर दौर पर जाना पड़ा। शाम होने से पहले लौट आना उसके लिए संभव नहीं हुआ।

सड़क के दोनों ओर लहलहाती फसलों से शोभायमान हरे-भरे खेत। कोई न कोई काम निपटा रहे खेतिहर मजदूर। सूर्यास्त के समय जीप आगे बढ़ रही थी तो शीतल हवा के झोंके तन-बदन को आह्लादित कर रहे थे। डॉक्टर सोमराज शहर में जन्मा और वहीं पला-बढ़ा था। नौकरी के नाते उस इलाके के प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्र में नियुक्त होने से पहले गांव-देहात का सहज सौन्दर्य उसके अनुभव में नहीं आया था।

अचानक भीनी-भीनी सुगंध उसकी नाक को स्पर्श करने लगी। सोमराज ने एक बार अपने फेफड़ों में भरपूर हवा लेकर उसे थामे रखा और पुनः उस सुगंध के स्वाद को महसूस करने लगा।

"डॉक्टर साहब! रुक जाइए।" खेतों के बीच में से दो व्यक्ति दौड़े चले आए और जीप के सामने खड़े हो गए।

उसने सिर उठाकर देखा तो उसके सामने पापाराव और उसका भाई जोगाराव खड़े थे।

"थोड़ी देर के लिए उतर जाइए साहब! यही अपना खेत है।" पापाराव ने आत्मीयता के साथ आमंत्रित किया। सोमराज मना नहीं कर सका और गाड़ी से नीचे उतरा। दोनों भाइयों के साथ उनके पीछे-पीछे चलते हुए उसने भी खेत में कदम रखा।

"साहब! यही वह खेत है जहां से रोज आपको साग-सब्जी मिल रही है।" यह कहते हुए उसने अपना हाथ अर्धवृत्ताकार में घुमाकर दिखा दिया।

चौली, धनिया, पालक और कढ़ी पत्ती के साथ सारा खेत अलग-अलग क्यारियों में फैला हुआ था। थोड़ी देर में अपनी नासिका को स्पर्श कर रही भीनी और स्वादिष्ट सुगंध क्या है, यह सोमराज को मालूम हो गया। जी-भर उसने बार-बार वहां की हवा सूंघ ली।

"बहुत अच्छा है पापाराव! खेत बहुत ही सुंदर और व्यवस्थित है। अलग-अलग कतारों और क्यारियों में साग-भाजी के पौधों से धरती का सिंगार किया है तुम लोगों ने। यह तो देखते ही बनता है।" सोमराज ने हंसते हुए कहा।

"साहब! जिस तरह आकाश की सुंदरता सितारों से मिलती है, वैसे ही धरती की सुंदरता पेड़-पौधों से खिलती है। आप जैसे पढ़े-लिखे लोगों के लिए अक्षर रोजगार देते हैं, तो हम जैसे गरीब

अनपढ़ लोगों के जीवन का आधार ये पौधे ही हैं।''

बतियाते हुए वे खलिहानों के बीच थोड़ी दूर चलते रहे। उसे लगा कि इतनी-सी कृषि भूमि थोड़ी-बहुत उसकी अपनी भी होती तो कितना अच्छा रहता। सोमराज के मन में आया कि कुछ पल के लिए सफेद कागजों पर चार-छह अक्षर घसीटने की तुलना में हल से जोतकर इन खेत-खलिहानों में हरियाली लाने के लिए कितनी मेहनत और हुनर की आवश्यकता पड़ती है।

''राम-राम साहब! आपने अपने हाथ से मेरे लिए पेंशन का फार्म भर दिया। हर महीने डेढ़ सौ रुपये मिल रहे हैं। आपको याद करके रोटी खा रहा हूं।'' पापाराव के पिता वेंकटैय्या ने विनम्रतापूर्वक हाथ जोड़ दिये।

''इसमें मेरा किया हुआ क्या है? मैंने तो केवल आपकी आयु को प्रमाणित किया था। मंजूर करके पैसे तो आपको सरकार देती है।'' सोमराज हंसा।

आदमियों के अलावा खेत में दो औरतें भी काम कर रही थीं। चार बच्चे खेलते हुए क्यारियों के बीच दौड़ रहे थे। वे सब वेंकटैय्या के परिवार के ही थे। पापाराव ने बहुत पहले ही बताया था कि चार साल पहले वेंकटैय्या की पत्नी कैंसर के कारण चल बसी थी।

''क्या इस उम्र में भी आपको खेत में काम करना पड़ता है? आप घर में आराम कर सकते हैं न? हम नौकरीपेशा लोगों के लिए तो अट्ठावन वर्ष की आयु में ही सेवानिवृत्ति हो जाती है। तभी तो हम घर पर ही मक्खियां मारते हुए बैठ सकते हैं।'' सोमराज ने वेंकटैय्या से कहा।

''मनुष्य को जन्म तो उसकी सगी मां देती है, पर उसका पेट भरनेवाली तो यह धरती मां ही है। जब हम जिंदा रहते हैं, हमें इन दोनों को याद रखना चाहिए, दोनों की अराधना करनी चाहिए न साहब! मेरे यहां दादा-परदादाओं के जमाने से यही साग-सब्जी उगाने का काम करते आए हैं। 'सब्जीवाले' के नाम से हमारे परिवार को लोग जानते हैं। मेरी ही तरह मेरे बच्चे भी. ..। मुंह अंधेरे नींद से जागने पर ये पांव खेत की तरफ ही चल पड़ते हैं। इन खेत-खलिहानों और फसल की गंध जब तक नहीं मिलती, तब तक निवाला गले से नीचे नहीं उतरता और न ही आंखों में नींद आने का नाम लेती। जब तक मैंने होश संभाला था, तब से मेरी जिंदगी इन्हीं पौधों के बीच गुजरी है। इसी तरह मुझे अपनी आखिरी सांस भी इन्हीं पौधों के बीच लेनी है।'' वेंकटैय्या कहता जा रहा था।

इसी बीच पापाराव एक पपीता टुकड़ों में काटकर लाया और कहा, ''खाइए साहब! ये टुकड़े शहद की तरह मीठे हैं!'' फिर उसके हाथ में रख दिए।

हां, सच ही तो है। सोमराज को लगा कि जैसा उसने कहा, वैसा ही वह फल बहुत मीठा है। पापाराव ने उसे बताया कि वह हाईब्रीड वाला संकर पौधा नहीं है, बल्कि देशी है। साथ ही उसने उसकी खासियत भी स्पष्ट की। उनकी बातें सुनते हुए सोमराज समझ गया कि मिट्टी, बीज, उनके अंकुरित होने तथा उनके पौधों के साथ उनका जीवन किस हद तक जुड़ा हुआ है।

''क्या इसके अलावा आप लोगों का और भी कोई खेत है?'' पानी से अपने हाथ धोते हुए सोमराज ने पूछा।

''मेरे बापू के हिस्से में ढाई एकड़ की यह जमीन आई थी। हम भाइयों ने आपस में इसका कोई बंटवारा नहीं किया। आधा एकड़ जमीन हमने अपनी छोटी बहन की शादी में उपहार में दे दी। बंटाई पर खेती करके हर साल फसल में उनका हिस्सा उन्हें दे देते हैं।'' पापाराव ने बताया।

''मेरी इच्छा है कि जब तक मैं जिंदा हूं तब तक मेरे बच्चे इसी तरह मिल-जुलकर रहें। 'हमारे दो एकड़ हैं' ऐसा कहने में और 'मेरा एक एकड़ है' यह कहने में फर्क तो है न साहब?'' वेंकटैय्या ने पूछा।

''ये क्या पढ़ रहे हैं?'' वहां जो बच्चे खेल रहे थे उन्हें देखते हुए सोमराज ने पूछा। वेंकटय्या ने उन बच्चों को अपने पास बुलाया और उन्हीं के मुंह से कहलवाया कि वे क्या-क्या पढ़ रहे हैं।

''इनके जमाने तक आते-आते इस दो एकड़ की जमीन के और टुकड़े होने हैं न साहब! रोजी-रोटी के लिए इस खेत के टुकड़ों के साथ इनके पास स्कूल के प्रमाणपत्र भी होंगे तो ये दोनों तरह से अपना जीवन शांति से बिता सकेंगे।'' पता चल रहा था कि वेंकटैय्या कितनी दूर तक सोच रहा है।

औरतों ने तब तक तरह-तरह की साग-सब्जियों को काट-उखाड़कर उनके ढेर लगा दिए थे। जोगाराव उन्हें छांटकर एक-एक किस्म के अलग-अलग बड़े गट्ठर बांध रहा था।

''क्या कल सुबह जो सब्जियां बेचनी हैं, उनके अभी से गट्ठर बांधे जाते हैं?'' सोमराज ने अपनी शंका प्रकट की।

''गांव में बेचने के लिए जितनी चाहिए उतनी सब्जियां रख देते हैं। बाकी तो रात की आखिरी बस से शहर ले जाते हैं। बाजार में माल उतार लेते हैं और कपड़ा बिछाकर सारी रात सो जाते हैं बड़े सबेरे होटल वाले, मेस वाले और ठेले वाले आकर ये हमसे खरीदकर ले जाते हैं। अपनी सुविधा के अनुसार भैया या मैं...दोनों में से कोई न कोई बाजार जाते हैं।'' जोगाराव ने विस्तार से बताया।

सोमराज समझ गया कि एक गठरी के लिए एक या दो रुपये देकर सस्ते में जो साग-सब्जियां हम खरीदते हैं, उन्हें

उगाने के पीछे कितना श्रम और कितनी निपुणता छिपी हुई है। पौधों को उगाना जितना ब ड़ा काम है, उतना ही महत्वपूर्ण उनका विपणन करके लाभकारी ढंग से बेचना भी है। अगर ज़रा-सा भी इसमें फर्क आता है तो फिर नुकसान ही उठाना पड़ता है।

सेलफोन बजा तो सोमराज के चिंतन में रुकावट हुई। फोन पर बात करने के बाद उसने पापाराव को देखने की बात श्रीदेवी को बता दी। उससे मिलकर भी बात न करने के लिए श्रीदेवी ने उलाहना दिया। उसने कहा कि किसी न किसी तरह से आपको उसकी सहायता करनी चाहिए थी।

इन महानगरों में हर किसी को अपनी तकलीफ खुद ही उठानी पड़ती है और एक दूसरे की सहायता करने की फुरसत मिलती ही कहां है-- सोमराज ने सोचा। अगर वह यहीं रहता है तो किसी न किसी मौके पर फिर से भेंट जरूर होगी न... स्वयं को समझाते हुए उसने कहा।

जैसा उसने सोचा, वैसा ही एक सप्ताह के बाद रविवार के दिन साइकिल पर अनार के फलों से भरे हुए टोकरे लिए एकदम घर पर ही वह प्रकट हुआ। उसने मिलकर जब बात की तब पापाराव की आंखें भर आईं। श्रीदेवी को तो इतनी खुशी हुई मानों किसी करीबी रिश्तेदार से अरसे के बाद भेंट हुई हो।

"क्यों पापाराव! ये टोकरे...ये फल...यह साइकिल... यह शक्ल... यह सब क्या है? कहां से कहां आए हो तुम? तुम्हारे अपने गांव के खेत-खलिहान छोड़कर शहर में यह व्यापार कैसा? तुम्हारे अपने सब लोग कहां हैं?" सोमराज ने प्रश्न पर प्रश्न दाग दिया।

पापाराव तुरंत कुछ कह नहीं सका। उसके हृदय के अंतरतम से दुःख उफनकर निकल पड़ा। वह आंसुओं से सराबोर हो उठा। अतीत एक दुःखांत नाटक की तरह उसकी आंखों के सामने एक-एक अंक के रूप में उभरने लगा।

शहर में सब्जियां बेचने के बाद आवश्यक बीज और खाद खरीदकर पापाराव घर पहुंचा। डाकिया एक सरकारी नोटिस लाया, उसके बापू के हाथ में थमा दिया और अंगूठे की छाप लेकर चला गया। वह क्या है, किसके बारे में है, यह समझ न पाने से दोनों पिता-पुत्र आशंकित हो उठे। उनके दिल धक-धक करने लगे।

स्कूल की सेवा से निवृत्त मास्टर जी के पास दोनों नोटिस लेकर जा पहुंचे।

"वेंकटैय्या! तुम्हारे खेत-खलिहानों के लिए खतरा उत्पन्न हो गया है। दवाइयां बनानेवाले कारखाने के लिए सरकार तुम्हारी जमीन का कब्जा करने वाली है। इसका मुआवजा तुम्हे अदा करने के लिए भी तैयार है।" संक्षेप में मास्टरजी ने बताया।

यह बात सुनकर पिता-पुत्र दोनों सकते में आ गए। वे तड़प उठे कि यह पैसा अन्याय है।

"यह क्या वेंकटैय्या! कुछ महीनों से यहां जो कुछ चल रहा है इसकी खबर तुम्हें नहीं है क्या? अखबार में समाचार छप गया था कि किसी विदेशी दवाई फैक्टरी के लिए अपने इलाके में एक हजार एकड़ की जमीन प्राप्त कर सौंपने के बारे में सरकार ने अनुकूल रूप से निर्णय लिया है।"

"यह तो हमें पता था। लेकिन अपनी-अपनी जमीन सौंपने के लिए तो हम किसान सहमत नहीं हैं न! क्या हम लोगों की उपेक्षा करके इकतरफा निर्णय लेना अन्याय नहीं है? हम पीढ़ियों से खेती-बाड़ी करते आ रहे हैं। हम लोगों से जबरदस्ती जमीन छीनकर हम लोगों का पेट काटना कहां का इन्साफ है?" पापाराव ने अपनी पीड़ा व्यक्त की।

"सरकार चाहे तो क्या नहीं कर सकती भैया! अगर सरकार को पुनर्विचार करने के लिए मजबूर करता है तो तुम जैसे सभी किसानों को एकजुंट होना पड़ेगा। एकता के साथ ऐसे निर्णय के खिलाफ संघर्ष करना होगा।" मास्टरजी ने अपनी सलाह दी।

आसपास के गांवों में कई किसानों को नोटिस मिली तो हड़कंप मच गया। सबके सब पीड़ित किसान एक हो गए। राज्य की राजधानी हैदराबाद में निवास कर रहे अपने चुनाव-क्षेत्र के विधायक से मिलने के लिए वे लोग दो बसों में गए। किसानों पर ऐसी जो आफत आई, इसके लिए विधायक महोदय विचलित हो उठे। उन्होंने कहा कि हम मुख्यमंत्री तक जाकर मिलेंगे और संघर्ष करेंगे। तत्काल उन्होंने एक अभ्यावेदन बनवाकर उन लोगों की हिम्मत बंधाई और उन्हें वहां से रवाना कर दिया।

सरकार ने किसानों की जमीन पर कब्जा लेने की प्रक्रिया को तीव्र कर दिया। नोटिस पर नोटिस मिल रही थी। विधायक ही नहीं, बल्कि अपनी ओर से संघर्ष करने की बात करनेवाले किसी भी उच्चस्तरीय नेता का कोई अता-पता नहीं था। दिल में आग लगी तो किसान स्वयं ही सड़क पर उतर आए। उन्होंने ध रने दिए। विरोध-प्रदर्शन भी किए। इसका परिणाम था लाठी चार्ज और पुलिस केस।

"सरकार कहती है कि यह सब विकास के लिए है। किसके विकास के लिए हमारी जमीन छीनी जा रही है? कुछ बड़े रईसों के लाभ के लिए हम जैसे अनेक छोटे और कमजोर किसानों की जिंदगी को बाजार में क्यों खींचा जा रहा है?" किसान नेताओं

ने आक्रोश के साथ प्रश्न किया।

"जमीन जो हमारे जीवन का आधार है, अगर इसे खो देंगे तो फिर हमारे लिए आत्महत्या ही एकमात्र रास्ता है।" गरीब किसानों ने आंसू बहाये।

इन सबसे बेखबर सरकार ने जमीन के हिसाब और माप का कार्य पूरा कर दिया। घोषणा की गई कि सरकार द्वारा निर्धारित मूल्य के अनुसार प्रति एकड़ जमीन के लिए डेढ़ लाख से तीन लाख तक क्षतिपूर्ति की जाएगी। यदि कृषक इस तरह मुआवजा लेने के लिए राजी नहीं होंगे तो अदालत द्वारा कुर्की की जाएगी, ऐसी धमकी भी दी जाने लगी। यह भी स्पष्ट कर दिया गा कि अपनी हठधर्मिता से यदि कृषक न्यायालय में जाएंगे तो प्रति एकड़ केवल डेढ़ लाख ही दिया जाएगा।

किसान असमंजस की स्थिति में थे। उन्होंने नेताओं की निंदा की। छाती पीटकर रोदन किया। पर यह सब व्यर्थ का प्रयास ही सिद्ध हुआ। सरकार ने जमीन का कब्जा लेना प्रारंभ कर दिया। अन्न-जल ग्रहण करते हुए किसान व्यथित हुए जा रहे थे।

रोज अपने घर के सामनेवाले चबूतरे पर खटिया डालकर सोनेवाला वेंकटय्या उस दिन सुबह होने पर वहां पर नजर नहीं आया। सूरज के काफी चढ़ने पर भी उसका कोई अता-पता नहीं चला तो सारे गांव में उसे ढूंढ़ा गया। लेकिन वह किसी को भी नहीं दिखा। दो दिन तक खेत-खलिहान सब छान मारे गए, तो भी कोई लाभ नहीं रहा। आखिर वेंकटय्या का शरीर उसी के खेत में कुंए में लाश बनकर तैरता हुआ देखा गया। वेंकटैय्या की मौत दो दिन के लिए समाचार-पत्रों, मीडिया और विपक्ष के लिए अच्छे-खासे प्रचार का विषय बनी। अगले यानी तीसरे दिन तक यह बात सभी के ध्यान से बिलकुल उतर गई।

धरती और आकाश को छोड़कर और कहीं न देखने वाले मिट्टी के इन्सान। फसलों की बरबादी के अलावा राजनीति की गंदगी से अनभिज्ञ मासूम कृषक जन। आखिर कब तक संघर्ष करते? किसान मानसिक रूप से टूट गए। पीड़ित किसानों के समर्थन में खड़े होने की जिन नेताओं से अपेक्षा थी, उन्होंने न जाने किस प्रलोभन से हथियार डाल दिए और समय पर अपना मुंह चुराया या यह सोचकर कि जो मिल रहा है वही बहुत है, किसानों ने स्थिति से समझौता करते हुए पैसे के लिए लाईन लगाई।

किसानों को दी जानेवाली रकम में से प्रत्येक लाख रुपये से दस हजार की कटौती की गई। रोते-कलपते पूछा गया कि यह कैसा हिसाब है? उत्तर दिया गया कि यह तो आयकर के रूप में कटौती की गई है। दुख से अपनी छाती पीटते हुए किसानों ने कहा कि हम अपनी जमीन लाभ कमाने के लिए नहीं बेच रहे हैं। छोटे-छोटे नेताओं और अधिकारियों ने उन्हें आश्वस्त किया कि इस विषय पर सरकार द्वारा पुनर्विचार किया जाएगा।

खोई हुए जमीन के बदले मुआवजा मिलने के बाद दोनों भाइयों ने कुछ रकम से बैंक ऋण और फुटकर उधार चुका दिया। कुछ किसानों के लिए तो ऋणदाताओं ने उनके सिर पर बैठकर अपना पैसा ऐंठ लिया तो फिर उनके पास फूटी कौड़ी भी बाकी नहीं बची। छोटी बहन के लिए उपहार में दी हुई आधे एकड़ जमीन का हिसाब करने के लिए जीजाजी ने पापाराव से जिद की। यह तर्क दिया कि सरकार द्वारा निर्धारित दर से मुझे कुछ लेना-देना नहीं है और शादी के समय उस जमीन का बाजार में जो भाव था उसके अनुसार हिसाब करके देने के लिए वह झगड़े पर उतारू हो गया। छोटी बहन को ज़रा भी ठेस न पहुंचे, इसके लिए अनुनय-विनय करके उन्होंने आखिर उसके लिए कुछ अधिक ही प्रतिफल देने का बंदोबस्त कर दिया। इस मामले में दोनों भाइयों के बीच मतभेद हुआ और परस्पर कलह भी हुई। वे एक दूसरे के खिलाफ हो गए। बाकी रकम का आपस में बंटवारा कर लिया गया। दोनों के अलग-अलग चूल्हे जलने लगे।

उस गांव में जो नई फैक्टरी बन रही थी उसमें किसानों ने मजदूरी शुरू की। जो काम अपने बूते का नहीं था, ऐसे काम में हाथ डालकर कुछ किसान अपने प्राण गंवा बैठे। नई फैक्टरी के निर्माण में दो वर्ष लग गए। किसानों की मांग थी कि पहले किए गए वादे के अनुसार पीड़ित किसानों के परिवार-जनों को फैक्टरी में नौकरी दी जाए। परंतु दूसरी ओर से साफ इनकार किया गया कि कंपनी की आवश्यकताओं के अनुसार अपेक्षित निपुणता जिनके पास नहीं है, उन्हें नौकरी कैसे दी जा सकती है? सरकार से पूछा गया कि जमीन से बेदखल हुए किसानों को फिर से जमीन और दुधारू भैंसों को खरीदने के लिए ऋण और रियायतें देने के आश्वासन का क्या हुआ? इस संबंध में किसानों से आवेदनपत्र प्राप्त करने के सिवा वास्तव में उन्हें दी गई सहायता शून्य ही थी।

किसानों ने किसी भी तरह दूरस्थ प्रांतों में जाकर हाथ में बचे पैसे से थोड़ी-बहुत जमीन खरीदने की कोशिश की तो उन्हें एकदम विपरीत स्थिति का सामना करना पड़ा। वहां पर एक एकड़ जमीन का भाव छह-सात लाख से अधिक ही चल रहा था। सरकार से जो मुआवज़ा मिला वह कपूर की तरह देखते ही देखते काफूर हो गया। पेट की खातिर सभी किसान दूर-दूर तक बिखर गए।

जिन किसानों ने गांवों में आश्रय लिया वे अंततः खेतिहर

मजदूर बन गए। जो शहर पहुंचे वे दैनिक आधार पर छोटे-मोटे काम करते हुए दिहाड़ी मजदूर होकर रह गए। फैक्टरी के लिए मूल्यवान कृषि भूमि के साथ ही उनकी रोजी-रोटी को भी छीनकर उन्हें बाजार के हवाले कर दिया गया।

जो कुछ घटित हुआ, वह सब याद करके पापाराव फूट-फूटकर रोते हुए बता रहा था। डॉक्टर सोमराज का मन पीड़ा से भर गया।

कभी तो सारा संसार जनता और उनकी मूलभूत आवश्यकताओं के बारे में चिंतन करता था। मानव संसाधनों के सदुपयोग के लिए योजनाएं बनती थीं। लेकिन आज सारी दुनिया व्यापार और वाणिज्य के नाम पर मानव संसाधनों की उपेक्षा करते हुए उन्हें निष्प्रभावी कर रही है। मनुष्य और मनुष्य के बीच आर्थिक असमानताएं बढ़ रही हैं। जिस मानवीय संबंध को और मज़बूत होना चाहिए, उसका सत्यानाश हो रहा है और व्यापार की प्रवृत्ति दृढ़तर होती जा रही है। क्या इसके बारे में विचार किया जा रहा है कि ये परिस्थितियां किन घातक परिणामों के लिए मार्ग प्रशस्त करेंगी?

आर्थिक विकास के लिए वाणिज्य मंडलों और आईटी पार्कों के नाम पर लाखों एकड़ की उपजाऊ जमीन को निजी क्षेत्र के हवाले किया जा रहा है। जिन्होंने यह कहा था कि विदेशियों को सुई की नोक भर जमीन भी नहीं देंगे, वे ही लोग हजारों एकड़ की जमीन बहुराष्ट्रीय संस्थाओं के अधीन कर रहे हैं। यदि उद्योगों को ही राष्ट्र के लिए सबकुछ मान लिया जाए तो फिर खेती-बाड़ी और पशु-संपदा के बारे में क्या कहा जाए? जनता की खाद्य आवश्यकताओं की स्थिति क्या रहेगी?

"क्यों पापाराव! जब भी इधर आना हुआ तो मिलते हुए जाना। जयंती और बच्चों को हमारा प्यार कहना। एक बार सभी को घर ले आना।" श्रीदेवी पापाराव से कह रही थी।

श्रीदेवी ने पापाराव से जो अनार खरीदकर रखे थे, वे ऐसे दिख रहे थे मानों बरसों रो-रोकर लाल हुई किसानों की आंखें हों।

"अनार ले लो....अनार ले लो..." पापाराव गली में हांक लगाते हुए जा रहा था। उसकी आवाज में एक जमाने का आत्मविश्वास और धीरज ध्वनित नहीं हो रहा था। डॉक्टर सोमराज को उस आवाज में केवल एक पराजित और दीन-हीन स्वर सुनाई दे रहा था।

अनुवाद : के.वी. नरसिंह राव
बी-204, नेमिनाथ टॉवर, एवर शाइन
सिटी, बसई पूर्व-401208
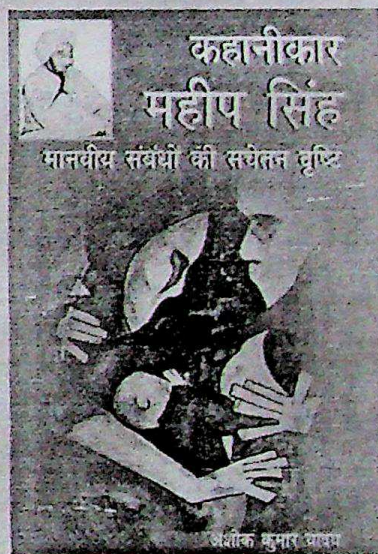
सुनीता जैन

दिल्ली में कविता

वहां कविता नहीं
कोई शोक सभा-सी थी
हर सुनने वाला बैठा था
मुंह लटकाए
ऊबा-सा
शोक भाव में डूबा-सा

और कवि सब
बहुत दुखी थे
कोई भ्रूण हत्या से,
कोई स्त्री के अधिकार दमन से,
कोई प्रदूषण से और
कोई नेताओं से

यों तो यह भी बुरा नहीं था
लेकिन वह जो कह रहे थे
बस उनके मुंह तक ही सीमित था

उनमें से एक भी
चकित नहीं था
सुवह के प्रतिदिन सूर्योदय से,
पक्षी के कलरव से,
वृक्षों के प्रस्फुटन से-

एक भी ऐसा नहीं था जिसके जी में
प्रेम की सुगबुग थी,
इकली छोड़ी मां की
पीड़ा या ममता थी,
आती-जाती सांसों में
जीने की उत्सवता थी।

बस एक ग़नीमत यह थी
कि कोई किसी को
देख नहीं रहा था।
बैठा था वहरा सा
सोच रहा था-
घर जाने की अंतिम
बस के बारे में,
देख रहा था
हाथ घड़ी को।

और कविता?
वह तो चल ही रही थी
चलती है जैसे
दिल्ली में-
हकलाती
लंगड़ाती-सी।

सी-132, सर्वोदय इन्कलेव,
नई दिल्ली-17

पुष्पा राही

मिली भगत

तन मन दोनों ही साथ नहीं जब देते
लगता दोनों ही मिलकर बदला लेते

यह मिलीभगत दोनों की महंगी पड़ती
वतला-बतला कर मुंह पर चाटें जड़ती
मैत्री इनकी सांसों पर पड़ती भारी
थक हार गए जीवन नौका को खेते

कहने को अपने लेकिन हुए पराये
अपना ही अपनों को ज्यों ख़ूब सताए
ज़्यादती बखाने इनकी किन शब्दों में
जैसे विरोध में उतरे अपने बेटे

तन का अपना रस्ता, मन का है अपना
दोनों का जैसे अलग अलग है सपना
ऐसे में ही आया करती है आफ़त
तन के या मन के किसके बने चहेते
तन लगता पर्वत मन लगता है खाई
दोनों ने अपनी दूरी ख़ूब जताई
संतुलन बिगड़कर तारतार हो जाता
कैसे कोई तब इनका अंतर मेटे
दोनों की बेक़दरी भी कैसे होगी
दोनों ही अपने सुख-दुख के हैं भोगी
कैसे सीधी राहों पर इन्हें चलाएं
कैसे इनके कानों को पकड़ उमेठें

तन में मन, मन में तन, डूबेगा किस
दिन
कब रह न पाएंगे ये इक दूजे के बिन
कब मानेंगे कहना ये इक दूजे का
इनके झगड़ों को आकर कौन समेटे

गए ज़माने

कविता भी अब लगी बुढ़ाने
वे वासन्ती गए ज़माने
पहले तो थी खुलकर गाती
अब आवाज़ लगी भर्राने
यौवन में चहकी चिड़िया-सी
उम्र ढली तो लगी रुलाने
पहले बड़े व्यंग्य कसती थी
अब उतरे सब नशे पुराने
श्रोता इससे कान बचाते
किसको, किसके, किसे सुनाने
भीड़-भड़क्के छूटे पीछे
बंद हुए सब आने जाने
हुई इधर एकान्तवासिनी
लगे सिलसिले सभी ठिकाने
सोचा था न हाल यह होगा
यूं होंगे दिन रात बिताने
काम आएंगे ऐसे में अब
यादों के सीले तहख़ाने

हरमहेन्द्र सिंह बेदी

उसी तरह

इरादों में
कुछ भी तय नहीं था।
न शहर
न घर
बस
बसता चला गया
घर भी शहर भी।
बनते चले गए
दोस्त भी दुश्मन भी
कहाँ तक जाना था
और कैसे
यह भी कहाँ निश्चित था।
फिर भी बरक़रार रहा
सब कुछ उसी तरह।
इरादों में
कुछ भी तय नहीं था।

गति-अगति

ट्रेन के भीतर
सीट पर रखा
डोलता है जल
आधी बोतल में।
खिड़की से बाहर दूर तक।
झूमते हैं पेड़
और मेरे भीतर
कांपता है मन।
ट्रेन गति पकड़ती है
जल थरथराता है
और मैं अलसाये तन से
गति-अगति के बीच
कभी जल
कभी ट्रेन
कभी मन
ट्रेन के भीतर
सीट पर रखा
आधी बोतल में
डोलता है जल
अभी भी।।

125, कबीर पार्क
अमृतसर-143002

पुष्पधर शर्मा

मिट्टी और जीवन

यह मिट्टी कुछ भी तो नहीं मांगती
तुम से
केवल तुम ही मांगते रहते हो
कुरेदते रहते हो इसकी परतें
जिगर अथवा इसकी गिरी तक
चूसते रहते हो बिन्दु-बिन्दु
कभी तोड़ते हो, कभी मरोड़ते हो
मनचाहा मचाते हो उद्दण्ड इस पर
और अंत में विषाद उगलते हो तुम
मिट्टी सह लेती है चुपचाप तुम्हारे ताने
मौन रहती है प्रत्युत्तर में
है तो जीवन और मिट्टी एक
अभिन्न
तुम इस पर बीज बोते हो
उगाते हो
काटते हो अनाज
जीते हो उसी में, रमते हो उसी में
तुम्हारा उसी में होता है सब कुछ
रोना-चिल्लाना
रमना-विचरना
और उसी में विलीन हो जाते हो एक
दिन
जब परिचय की घड़ी आती है
तब एक दूसरे को
अलग करके देखते हो
कहते हो-
मिट्टी, मिट्टी ही है
जीवन
जीवन ही है।

सपना खोयी रात

पर साल ही सोचा था
उसी वक़्त कर डालूंगा
मन्नत भी करता आया
पहुंचने के लिए
प्रतीक्षा भी करवायी
मिलने के लिए
बहुत दिन हुए फ़ुर्सत न होने से
नहीं कर पा रहा हूं मैं।
रात-रात सपना देखने से क्या होगा
मीठी-मीठी कल्पनाएं ढोने वाला आकाश।
रंगीन कल्पनाएं प्रसव करने वाली रात
सपने खोकर शून्य है
प्रभात भी रिक्त लेटा है मेरे सामने।
यह रात कभी रोती है मेरे पास आकर
कभी न जाने क्या-क्या बड़बड़ाती है
मन ही मन
गुम हो चुकी समता की कहानी सुनाने
को।
जुटा नहीं पाती है साहस
बकने लगती है न जाने क्या-क्या।
उसी तरह पिघलता है साफ-सुथरा दिन
भी
सुलगती है मन में आग।
'अब हमें न होगा किसी रात से लगाव'-
ऐसा कहते
दिन में ग़ायब हो चुके तारों को अह्वान
करती रात
जुटती है स्वागत में दूसरी रात के।
ज़रूरत है नई रात की
अब नये सपने देखते ज़रूरत है
पारखी हाथों की
सपनों से सच्चाई विनिमय के लिए।

**(नेपाली से हिंदी अनुवाद :
लक्ष्मण अधिकारी)**

लाचित रोड,
उदालगुडी-784509 (असम)

सुभदा पांडेय

सुबह होने तक

तुम्हारी उदासी की
एक शाम
कातर; निस्तब्ध
ऐसे में
तुम मिले मुझे
मोम दीप बन कर
जो करता रहा
मौन यात्रा मेरे साथ
गोल, तिकोने चौकोने
पत्र झपकते रहे
फूलों की तरह
उसके लौ की टकटकी
कहती रही अनकही कहानी
अपने गलने की
जो जियेगी रोशनी बनकर
और बुझेगी
रोशनी रहकर
जो जीते हैं दूसरों के लिए
मिटते नहीं
बन जाते हैं अमिट स्मृति
जिनकी यादों के साये में
मनाते हैं हम खुशियां
और खुशियों में बह जाते हैं आंसू
लौ नयनों से
जो लड़ते हैं अंधेरों से
अंधेरा जो बनाता है
आतंक, कुंठा त्रासदी
जो मिट जाता है
अपनी ही तपन में
जीता है वही
जिसने सीखा हो
मौसम को जीतना
जो मिटाकर काला अध्याय
बनाता एक इतिहास
और जलता है सुबह होने तक
बसंत की प्रतीक्षा में
हेमंत-सा

एक नया मन

पता नहीं
टूटा है सपना
या खुल गई हैं आंखें
टटोलती हैं आंखे
छरके हुए कांच के टुकड़े को
और पाती हैं हाथों में
कुछ नए ज़ख़्म
कहा था एक दिन
दर्द को मारेंगे दर्द से
शर्त ये कि
ये दर्द बड़ा हो
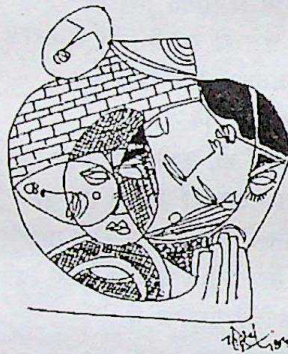
पिछले दर्द से
और हुआ भी ऐसा ही
प्रेम और प्रतीक्षा की पीड़ा से
बड़ा हो गया
बेपीर की ज़िन्दगी का दर्द
माना ख़त्म हो गया
आकलन और
स्थापना का सिलसिला
किंतु जैसे खोजता है बच्चा
गर्भ की पीड़ा के
खो जाने पर गर्भ
वैसे ही
मन से पीड़ा के
निकल जाने के बाद
खोजती है पीड़ा
एक नया मन।

मंगलायतन विश्वविद्यालय
अलीगढ़, उ.प्र.-202145

लालित्य ललित

वस्तुस्थिति

बड़ा अफसर
छोटे अफसर को डांटता है
छोटा अफसर बाबू को
बाबू चपरासी को
चपरासी डांटता है घर में
अपनी पत्नी को
पत्नी बच्चों की पिटाई करती है
बच्चे चुपचाप बाबूजी की साईकिल के
साथ सटी खड़ी
रामखिलावन पहलवान
चाय वाले की साईकिल की
हवा निकाल देते हैं और
पीपल के चबूतरे पर बैठ
रंग-बिरंगी गोलियां
खाते हुए खीं-खीं
करते हैं
मां सब जानती है
मुस्कराती है
और भीतर जा कर
चपरासी पति को
रिझाने लगती है
उसको आज दिवाली पर
बोनस जो मिला है।

नेशनल बुक ट्रस्ट इंडिया
वसंत कुंज, नई दिल्ली-70

डॉ. कीर्ति केसर

ज़िन्दाज़मीर की आवाज़ : अलाव जल रहा है

वसंत कुमार परिहार हिन्दी साहित्य जगत में चिर-परिचित, जाना-माना और बहुआयामी व्यक्तित्व है। अहिन्दी भाषी (पंजाबी) होते हुए अहिन्दी भाषी प्रांत गुजरात-अहमदाबाद में रहते हुए इन्होंने कई विधाओं मे हिन्दी साहित्य में अपना नाम दर्ज कराया है। साहित्य के प्रसार एवं प्रचार के लिए 'अहमदाबाद आकार' लघु पत्रिका का संपादन और प्रकाशन भी कई वर्षों तक किया। आकार प्रकाशन के माध्यम से पुस्तक प्रकाशन का कार्यभार भी संभालते हैं। साहित्य को नाट्यशाला और नृत्यशाला तक भी पहुंचाया है।

वसंत कुमार परिवाह ने कवि के रूप में 'चिन्दी चिंदी व्यक्तित्व', 'कैनवास पर फैलते रंग' और 'नाम शेष होता अमृत' कविता संग्रहों के साथ अपनी खास पहचान बनाई है। इस सिलसिले में एक नई कड़ी 'अलाव जल रहा है' के रूप में जुड़ गई है। अपने आत्म-कथ्य में कवि ने इस संग्रह की रचनाओं को बाकी संग्रहों से पूर्व और ओमान प्रवास के दौर की रचनाएं बताया है। हो सकता है बाद की रचनाओं में बढ़ती आयु, परिपक्व होती सोच-समझ तथा गहरे, गम्भीर होते अनुभव में, रचना-प्रक्रिया और कवि-कर्म के दायित्वों की पहचान में कोई अन्तर आया हो परन्तु जहां तक इस संग्रह के काव्यानुभव का प्रश्न है, ऐतिहासिक परिदृश्य का सवाल है वह वर्तमान दौर से ज्यादा भिन्न नहीं है। परदेस में बैठा कवि अपने वतन की सरजमीन पर घटित होते हुए को देख रहा है, महसूस कर रहा है और तड़पते जमीर की आवाज सुन रहा है। वह अपनी कविता में अमानवीय व्यवहारों, सत्ता के भ्रष्ट-लोभी दुष्टाचारण के प्रति रोष, अस्वीकार, प्रतिकार ओर विद्रोह भी प्रकट कर रहा है। आनेवाली सदी का उपहार कविता का एक अंश-

मुझे दे दो/ सुलगते शब्दों का वरदान
वरसों से सोए पड़े/ उस ज्वालामुखी को जगाना है मुझे/ इन उजड़ी हुई फिज़ाओं को/ सजाना है मुझे / आने वाली सदी के लिए/ इस गुलशन में / आग का फूल/ खिलाना है मुझे

जिस दौर में यह कविताएं रची गई यथार्थवाद के नाम पर आक्रोश, निराशा, अवसाद, उन्माद और वैचारिक तोड़फोड़ एक भदेस के रूप में साहित्य मे आ गई थी। भाषा में अभद्रता, गालियों और गलीज व्यवहारो का चित्रण साहित्य में आमप्रवृत्ति बन गया था। आधुनिकता के नाम पर यौनवाद, देहवाद एक फैशन बन गया था। आक्रोश, विरोध और प्रतिकार प्रकट करने के लिए नारी देह की दुर्गति रचनाकारों का शगल बन गया था। टोटल में कवि-कर्म कवियों की वीर्यहीनता और पौरुष की दीनता का ही परिचायक बन गया था। कहानी-कविता तो इस मानसिकता के लिए अनुकूल विधा सिद्ध हुई।

भारतीय साहित्य का रस-निष्पति सिद्धांत एक सिरे से नकार दिया गया था। पश्चिमी विचारधाराओं के सहारे बीमार मानसिकता, गुलाम मानसिकता को भी साहित्य में अच्छी खासी जगह मिल गई थी। ऐसी वस्तु स्थिति में "अलाव जल रहा है" एक सुखद स्थिति है-कविताएं अपने रचनाधर्म में स्वस्थ मानसिकता वीर्यवान भुजबल और ऊर्जावान पौरुष के आक्रोश, क्रोध और विरोध को 'रौद्र रस' में प्रकट करती हैं। रौद्र में शौर्य, मर्दानगी योद्धा जैसी वीरता और उदात्ता कविता में 'सिद्ध' होती है जो मनुष्य में मनुष्यता की शक्ति बनती है। विजयी होने के लिए दृढ़ इच्छा शक्ति और निडरता का स्त्रोत बनती है। ऐसी कविता हारे हुए को भी हिम्मत और साहस देती है। 'आग' शब्द को कवि ने शक्ति की तरह प्रयोग किया है-'आग का अहसास कविता से

आग का अहसास/ चेहरों पर ज़मीं राख झाड़ने से नहीं
अंगारों को मुट्टियो में भर कर/ तब तक भींचने में है
जब तक आंखो से/ लपटें नहीं निकलतीं! (पृष्ठ 62)

1975 से 1984 के बाद तक देश की आंतरिक सुरक्षा में राजनीति ही सेंध लगाती रही। आपात स्थिति, यू.पी., बिहार, गुजरात में साम्प्रदायिक दंगे, महाराष्ट्र में हिन्दुत्व का उभार शिवसेना के रूप में साम्प्रदायिक हिंसा से हुआ था। यह पार्टी आज भी अपने अस्तित्व के लिए कोई भी मुद्दा खड़ा करके राष्ट्रीयता का संकट खड़ा करने में जरा-सा भी परहेज नहीं बरतती। म.न.से. नाम की नई शिव सेना का उभार भी इसी तरह हुआ है। आतंक फैलान में इनमें होड़-सी लगी हुई है। जब भी इनका तंदूर तपता है आतंकवादी अपनी रोटियां सेंकने के लिए तैयारी कर लेते हैं। महाराष्ट्र की साम्प्रदायिक राजनीति ने सारे देश की सुरक्षा खतरे में डाल रखी है। इससे पहले पंजाब में आतंकवाद फिर 1984 के सिख विरोधी बरबर हिंसा में भारत की संस्कृति की महानता का मुखौटा किरच-किरच होकर टूटा था। इस पूरे ही दृश्य को मानवीय सरोकारों को कवि ने संवेदना की गहराइयों तक महसूस किया हैं 'बेहद परेशान हैं बच्चे' कविता का एक अंश –

बच्चों की आंखों में/ अब निरभ्र आकाश नहीं
इतिहास की पुस्तक में छपा/ ख़ूंखार चंगेज़ ख़ान है
उनकी आंखों के सम्मुख/ स्वच्छ जल का सरोवर नहीं
ख़ून से सना/ पानीपत का मैदान है।

व्यवस्था इतनी शक्तिशाली है कि संवेदनशील व्यक्ति की हस्ती नगण्य सी हो रही है। कविता की शक्ति यही है कि उसमें विवश आदमी का जमीर जिन्दा हैः पौरूष की भुजाएं फड़कती हैं। वह व्यवस्था के दुर्ग का ध्वंस तलाश रहा है। आग और रोशनी की तलाश में संघर्षरत प्रमथ्यु उसके अन्दर आज भी जिंदा है-'ओ मेरे प्रमथ्यु, कविता का एक अंश-

आज भी नोचे जा रहा है गिद्ध / और क़िले के बाहर खड़ा सब कुछ देख रहा है, मेरा पौरूष/ दुर्ग का अभेद्य प्राचीर खड़ा है सीना ताने/ एक ज्वलंत आग्नेय क्षण इसी दुग से चुराना है मुझे! / काया कल्प का और कोई उपाय नहीं है क्या/ ओ मेरे प्रमथ्यु! (पृष्ठ-64)।

आग का अहसास खंड में छपी सारी कविताएं 'जागतों' को जमीर से जगाने वाली हैं, ऊर्जा से भर देने वाली हैं। आग 'शब्द' बहुत सी अर्थो-निर्णयों ओर पौरूष की बलिष्ठता को समेटे हुए है। संवेदना का स्वरूप अंधेरे के लिबास में रोशनी को समेटने वाला है-'आग' शब्द के कई अर्थ संवेदना के समंदर में जन्मे मोती हैं। सरल भाषा का सधा हुआ काव्य-प्रयोग कविता की रचनात्मक धार को योद्धा के हाथ में चमकती तलवार जैसी बना देता है-'मोर पंख' कविता का एक अंश -

क़ागज़ में लपेट कर रखा मोर पंख/ जो तुमने मुझे दिया था सुरक्षित रखा पड़ा है / गहराते गरजते बादलों के इस माहौल में

वही तो एक संबल है / मेरे पास

रूपक जैसी छटा और व्यंग्य की धार का एक उदाहरण 'अभिशप्त उपवन' कविता से -

इन फूलों में जो सर्वाधिक सुन्दर फूल है / उसे संसद की सीढ़ियों पर बने / पुतले के हाथ में थमाकर / उपवन के तमाम कांटे/ राजपथ पर बिछा दिए गए हैं

यह सारी कविता अनूठे उपमानों ओर रूपकों का संसार रचकर जिन्दा जमीर की आवाज बनती है जमीरों को पुकारती है, मिलकर मनुष्य मात्र की सेना बनने के लिए। यह आवाज दूर तक, देर तक, चिरकाल तक इतिहास की अंधेरी राहों पर मशाल बनकर राहों को रोशन करती रहेगी। 'अलाव' जल रहा है' की कई कविताएं मुझे पंजाबी के कवि पाश की कविताओं की सहोदरा-सी प्रतीत होती हैं।

आलोच्य कृति : अलाव जल रहा है (कविता संग्रह)
कवि-वसंतकुमार परिहार- प्र. आकार प्रकाशन
पत्रकार कॉलोनी, अहमदाबाद, प्र. सं. 2008,
मूल्य 150 रु. मात्र।

1086 1ई, गोविंदगढ़, जालंधर-144001

डॉ. वीरेन्द्र सक्सेना

पारिवारिक विसंगतियों के विरुद्ध एक स्त्री का 'अस्वीकार'

लगभग दो दशक पहले लिखे 'इच्छा पत्र' के बाद जगन सिंह का जो दूसरा उपन्यास आया है, उसका शीर्षक है 'अस्वीकार'। अतः इस शीर्षक से भी यह आभास मिल जाता है कि जिस तरह 'इच्छापत्र' की 'नायिका' अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए संघर्ष करती रही थी, उसी तरह 'अस्वीकार' की 'नायिका' भी संघर्षरत रहेगी और रास्ते में आने वाली बाधाओं का 'वहिष्कार' या 'अस्वीकार' भी करेगी।

अस्तु, 'अस्वीकार' उपन्यास को पूरा पढ़ लेने के बाद, मुझे यह स्वीकार करने में तनिक भी संकोच नहीं है कि उपन्यास की नायिका 'मीती' द्वारा अपने परिवार एवं निकटस्थ संबंधियों का 'अस्वीकार' वस्तुतः एक तथ्यपरक निर्णय या निष्कर्ष है और उससे एक पाठक के रूप में भी असहमत नहीं हुआ जा सकता। इस निर्णय या निष्कर्ष तक पहुंचने के लिए लेखिका ने अपनी नायिका के पक्ष में इतना परिश्रम किया है कि उसके बचपन से लेकर युवावस्था तक के जीवन की विविध प्रकार की विसंगतियां एवं विडंबनाएं बड़ी बेबाकी से प्रस्तुत कर दी हैं और उनके माध्यम से उपन्यास के 'कथ्य' को पर्याप्त प्रभावी भी बना दिया है।

इस 'कथ्य' के अनुसार नायिका 'मीती' एक सिक्ख परिवार की सबसे छोटी बेटी है। उस परिवार में उसका एक बड़ा भाई, दो बड़ी बहनें और एक छोटा भाई भी है। इन सबकी अपनी-अपनी समस्याएं हैं, किंतु मीती उन सबमें सबसे ज्यादा उपेक्षा की शिकार है, क्योंकि वह एक लड़की है और अपनी बहनों में सबसे छोटी भी है। इस उपेक्षा के कारण ही परिवार का प्रत्येक सदस्य उसे डांटता रहता था और उसी से सबसे ज्यादा काम भी कराना चाहता था। ऐसी विपरीत परिस्थितियों में भी, मीती ने अपना आत्मविश्वास नहीं खोया और उसी के बल पर अपनी एम.ए. तक की पढ़ाई पूरी करके दिल्ली के एक कालेज में लेक्चरर भी बन गई। इसके बाद उसने, अपनी कर्मठता के बल पर एक पुरुष-मित्र भी पा लिया, फिर उसी से विवाह करके अपना एक 'नया घर' भी बसा लिया।

यों इस उपन्यास में इस तथ्य को भी रेखांकित किया गया है कि परंपरावादी संयुक्त परिवारों में लड़के-लड़कियों यानी पुत्र-पुत्रियों के बीच इतना अधिक भेद-भाव किया जाता है कि लड़कियों को अपनी इच्छानुसार पढ़ने-लिखने, नौकरी करने या शादी करने के

लिए हमेशा परिवार का विरोध झेलना पड़ता है। दूसरी ओर लड़के अपनी इच्छानुसार कुछ भी कर सकते हैं और वे करते भी रहते हैं। उदाहरणार्थ मीती का सबसे बड़ा भाई, अपने विवाह के बाद संयुक्त परिवार से अलग हो जाता है, अनंतर नौकरी के लिए अपनी पत्नी और बच्चों के साथ दिल्ली चला जाता है। इसी तरह सबसे छोटा भाई भी अपनी इच्छानुसार व्यवसाय बदलता रहता है और नशे की लत के कारण बुरी संगति में भी पड़ जाता है, पर कोई भी उसका विरोध नहीं कर पाता।

लड़के-लड़कियों, यानी पुत्र-पुत्रियों के बीच इस प्रकार के भेद-भाव के कारण ही जब माता-पिता अपनी आर्थिक असमर्थता के कारण पुत्रियों का विवाह नहीं कर पाते, तो उसे उनका 'दुर्भाग्य' मानकर निश्चिंत हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में यदि पुत्रियां अपनी इच्छानुसार स्वयं किसी से विवाह करना चाहें, तो वे उनका किसी न किसी कारण से विरोध करने लगते हैं और तब कई लड़कियां, आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर बनकर भी प्रायः अविवाहित रह जाती हैं। इस उपन्यास में ही नायिका मीती की बहन दीपो तथा एक परिचित प्राध्यापिका मिस सुदेश कपूर कुछ इसी तरह की 'अविवाहिताओं' के उदाहरण हैं, क्योंकि उन्हें लड़के-लड़की का यह भेद-भाव अपने परिवार में आजीवन सहना पड़ता है। इस संबंध में ध्यातव्य है मिस कपूर का यह कथन- "वह बड़ा भाई है न मेरा? मां मर जाए, तो भी आधे दिन की छुट्टी नहीं लेगा।... छोटा जितना छोटा है, उतना ही खोटा है।...और यह मेरी मां?...रहती मेरे साथ है, गुण उनके गाती है।... मेरा सामान उठाकर उन्हें देती रहती है और ये? मेरे से इनकी बोलचाल नहीं है, फिर भी जो मिलता है चुपके से रख लेते हैं। चार सौ बीस। थू है इनकी मर्दानगी पर।" (पृ. 96)

और इसे भी पारिवारिक विसंगतियों से उत्पन्न सबसे बड़ी विडंबना ही कहा जाएगा कि जिस प्रकार का दुर्व्यवहार मिस कपूर की मां मिस कपूर के साथ करती थी, उसी तरह का भेदभाव या दुर्व्यवहार नायिका मीती की मां ने मीती के साथ भी किया। अंततः इसी दुर्व्यहार से बेहद दुखी होकर मीती को अपनी रुग्ण मां को अपने घर से निकालकर वापस उसके घर भेजने का निर्णय करना पड़ा, क्योंकि उसकी मां ने ताने देते हुए यह तक कह दिया था- "जीता रहे मेरा पुत्तर और अभी तो मेरे सिर का साईं (पति) बैठा है। मैं कोई फालतू हूं? तेरे जैसी की मुझे परवाह क्या है?... हमें पता होता कि तू इतनी किरतघन (कृतघ्न) निकलेगी, तो पेट काटकर तुझे पढ़ाते नहीं।" (पृ. 270) तत्पश्चात जब मीती ने अपनी मां को रुग्णावस्था में ही उसके घर पहुंचा दिया, तो इस अप्रत्याशित 'अस्वीकार' के बावजूद उसे लगा- "चलो ठीक हुआ। फैसला हो गया। नाहक इतने साल अपने को दुख देती रही।" (पृ. 272)

लड़के-लड़कियों के प्रति भेद-भाव के कारण ही न केवल मीती के माता-पिता, बल्कि उनके बाद की पीढ़ी का उसका बड़ा भाई तब तक संतान पैदा करता रहता है, जब तक कि उसके पुत्र उत्पन्न नहीं हो जाता। इस तरह पहले वह चार बेटियां पैदा कर लेता है और उसके बाद ही एक पुत्र का पिता बन पाता है। इसके पीछे भी रुढ़िवादी सोच यह रही है कि बेटियां पराये घर की अमानत हैं, अतः वृद्धावस्था में बेटे ही माता-पिता का सहरा बनेंगे। संभवतः इसी सोच के कारण आज की पीढ़ी गर्भावस्था में ही लिंग-परीक्षण कराने लगी है और गर्भ में बेटी की पुष्टि होते ही गर्भपात भी करा देती है। और इसी सोच का दुष्परिणाम यह हुआ है कि पंजाब या हरियाणा जैसे कुछ राज्यों में स्त्री-पुरुष का लिंग-अनुपात काफी गड़बड़ा गया है।

'अस्वीकार' उपन्यास में लेखिका ने जिस सिख परिवार की विसंगतियों को प्रमुखता के साथ प्रस्तुत किया है, उसकी पृष्ठभूमि में एक कारण सन् 1947 के भारत विभाजन की त्रासदी का भी रहा है। इस विभाजन से पूर्व चूंकि यह सिख परिवार एक संपन्न परिवार था, अतः उसका मुखिया हमेशा पुराने दिनों को याद करता रहता था और मनोवैज्ञानिक कारणों से अपनी पत्नी और बच्चों को दोषी मानता रहता था। परिणाम यह होता था कि वह इस तरह का दोषारोपण करते हुए प्रायः खुद को भी कोसने लगता था। उदाहरणार्थ- "इस शख्स का कसूर यह है कि इसने सारी उमर की कमाई खर्च करके तुझ सुअर के बच्चे को पढ़ाया-लिखाया और बीवी लाकर दी, ताकि तू हमें कुत्ता समझे और उसके इशारों पर नट की तरह नाचे। वह तुझे कुल्हाड़ी दे और तू हमारी जड़ें काटे। यह शख़्स गोपाल सिंह, वल्द प्रीतम सिंह, ताजीराते हिंद के तहत सजा का हकदार है। इसे सख़्त से सख़्त सजा दो...तुम, तुम्हारी मां, तुम्हारी बीवी, यह...यह... यह. ..उन्होंने छोटी दी, मीती और छोटे की ओर बारी-बारी से इशारा किया।" (पृ. 17-18)

'कथ्य' की दृष्टि से एक-दूसरे के प्रति दोषारोपण या वाद-विवाद के अन्य अनेक प्रसंग भी 'अस्वीकार' में मौजूद हैं और उन्हें प्रस्तुत करके लेखिका ने अपने उपन्यास को प्रभावी बनाने की कोशिश की है। पर कई प्रसंगों में दोहराव भी हैं, जिन्हें कम किया जा सकता था। इसी तरह नायिका मीती और उसकी दो बड़ी बहनों, दीपो और तेजी के बीच के जो ईर्ष्या-द्वेष के प्रसंग हैं, उन्हें भी कुछ कम किया जाता, तो बेहतर होता, क्योंकि उनके माध्यम से पाठक यह सोचने लगता है कि जब बहनों के बीच ही सद्भाव का अभाव है, तो वह सास-बहू या ननद-भाभी के बीच तो रहेगा ही। अतः एक स्त्री का किसी अन्य स्त्री, यहां तक कि अपनी सगी बहनों के प्रति जो द्वेष-भाव या भेद-भाव है, उसे कैसे कम किया जाए?

इस बारे में लेखिका ने अपने उपन्यास में कोई संकेत भी नहीं दिया है, इसलिए यह भी इस उपन्यास के 'कथ्य' की एक कमजोरी ही है।

'कथ्य' के उपरांत 'शिल्प' की दृष्टि से विचार करने पर भी मुझे यह लगा है कि उपन्यास में कई कमियां रह गई हैं। सबसे पहली और बड़ी कमी तो यही है कि उपन्यास यद्यपि नायिका 'मीती' के अवलोकन-बिंदु से लिखा गया है, पर उसकी पृष्टिभूमि के विवरण देते समय कहीं-कहीं उसे 'अन्य पुरुष' की बजाय 'प्रथम पुरुष' में परिवर्तित कर दिया गया है। इसी तरह 'मीती' का पति 'अनुराग' का दूसरा नाम 'निखिल' भी है, यह इस उपन्यास में बहुत बाद में (पृ. 264 पर) पता चल पाता है, अतः तब तक यह भ्रम भी दूर नहीं हो पाता कि 'मीती' का पति 'अनुराग' या 'निखिल' एक ही व्यक्ति है और उसके नाम दो हैं।

'शिल्प' की दृष्टि से ही इस उपन्यास की एक अन्य कमी यह भी है कि इसमें पात्रों की संख्या इतनी ज्यादा है कि वे याद नहीं रह पाते। उनमें से कई तो केवल एक-दो बार ही प्रकट हो पाते हैं, अतः पाठक पर अपना कोई प्रभाव भी नहीं छोड़ पाते। उदाहरणार्थ मीती का चाचा अपने भाई के पास केवल एक-दो दिनों के लिए मिलने आता है, फिर गायब हो जाता है। अतः इस उपन्यास को पढ़ते हुए यह भी लगता है कि पूरा उपन्यास एक डायरी के रूप में संस्मरणात्मक शैली में लिखा गया है, किन्तु उसमें क्रमबद्धता का ध्यान नहीं रखा जा सका है। क्रमबद्धता की इस प्रकार की कमी इस तथ्य में भी साफ झलकती है कि उपन्यास को किन्हीं अध्यायों में नहीं बांटा जा सका है, बल्कि उसके पूरे 'कथ्य' को 'स्मृतियों' के आधार पर लगभग 270 पृष्ठों में एक ही अध्याय में लिख दिया गया है।

निष्कर्षतः मैं यह अवश्य कहना चाहूंगा कि 'अस्वीकार' उपन्यास चूंकि पारिवारिक विसंगतियों एवं बिडंबनाओं को बेबाकी से उजागर करने वाला एक तथ्यपरक उपन्यास है, अतः इसे पढ़ना अवश्य चाहिए। यह इस कारण भी जरूरी है, क्योंकि इसे पूरा पढ़ने के बाद ही यह जाना जा सकेगा कि इसकी लेखिका जगन सिंह ने इसे लिखने में जो परिश्रम किया है, वह कुछ कहने के लिए किया गया है, न कि केवल लिखने के लिए। दूसरे शब्दों में 'अस्वीकार' एक सोद्देश्य उपन्यास है और इसका मुख्य उद्देश्य है- 'स्त्रियों को विपरीत परिस्थितियों में भी आत्मनिर्भर बनने के लिए प्रेरित करना।'

अस्वीकार (उपन्यास), ले. जगन सिंह, प्र. नमन प्रकाशन, 4231/1, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, आकार-डिमाई, पृष्ठ 272, मूल्य 375 रुपए

6118/4, पॉकेट डी-6, वसंतकुंज,
नई दिल्ली-110070

डॉ. गुरचरण सिंह

कितना कुछ होता रहता है आसपास आगे मेरे

रमदरश मिश्र जी के सद्य प्रकाशित कविता संग्रह 'कभी-कभी इन दिनों' में सन् 2003 से 2009 तक की कविताएं संकलित हैं। अपने प्रारम्भिक दौर की कविता में कवि का रुझान गीत-रचना की ओर रहा था। मुक्त छंद अपनाने पर भी गीतात्मकता तथा लय उनकी कविताओं का अभिन्न हिस्सा बनी रही। आलोच्य कविता संग्रह में लगभग आधी कविताएं गीत, ग़ज़ल या दोनों के मिश्रित रूप को लिए हुए हैं। लगता है वे फिर गीतों की दुनिया की ओर लौट रहे हैं। गीत, गज़ल या मुक्त छंद कवि रचना की किसी भी शैली को अपनाए उसकी रचना के केंद्र में आज का मनुष्य है। अतः मानवीय सरोकार, मानव की चिंता, उसके दुख-दर्द, व्यथा का चित्रण उसका मुख्य कथ्य है। कवि दिल्ली जैसे नगर में अपने जीवन के कई दशक बिताने के बाद भी अपने गांव से जुड़ा हुआ है। उसे गांव के खेत-खलिहान, नदी-नाले अब भी बुलाते हैं। इस संग्रह की कई कविताओं में गांव तथा वहां की प्रकृति की छवियां हैं। पर ये छवियां भी आज के आदमी के साथ जुड़ी हुई हैं। इनके माध्यम से कहीं पर्यावरण की समस्या जुड़ी हुई है तो कहीं गांव के फैलते आकार, बाजारीकरण के कारण विलुप्त होती प्रकृति का चित्रण है। आज गांव का वह रूप नहीं रहा जो कुछ दशक पहले था। गांव के लोग भी वैसे नहीं रहे जो कवि की स्मृतियों में बसे हुए हैं। भौतिकवादी दृष्टि सिर्फ नगर के लोगों में ही नहीं गांव के लोगों में भी साफ-साफ दिखाई देती हैं। कवि, मूल्यों के विघटन से चिंतित है। लोग स्वकेंद्रित तथा भ्रष्ट होते जा रहे हैं। कवि को अब वह मानवीय संवेदना नज़र नहीं आती जो आदमी को आदमी बनाती है। यह चिंता संग्रह की प्रत्येक कविता में देखी जा सकती है।

आलोच्य संग्रह की 'ध्यान योग' कविता मन की चंचलता और अस्थिरता को व्यक्त करती है। चंचल मन कवि को सोचने विचारने, स्थितियों को समझने-परखने पर विवश करता है। कवि मन को समेट नहीं पाता। चाहते हुए भी वह उसे बांध नहीं पाता। प्रभु राम के चरणों में उसे एकाग्र करने का वह प्रयास करता तो राम के जीवन के विभिन्न प्रसंग उभरने लगते हैं। कवि इन सभी प्रसंगों-घटनाओं को समसमायिक परिवेश के साथ जोड़कर देखता है। उसके सामने मनुष्य के सुख-दुख का एक लम्बा इतिहास है'। वह 'देश और काल की न जाने कितनी दूरियां तय करने लगता है।' कविता के अंत में

कवि सोचता है 'कवि का मन न होकर किसी सौदागर का हुआ होता/तो कितना अच्छा रहा होता। तब कहीं और न सही/ पैसे के सुंदर रूप पर तो सहज ही स्थिर हो जाता।' इन पंक्तियों में गहरा व्यंग्य निहित है। सौदागर का मन जहां स्व-हित से भरा है वहीं कवि का मन संवेदनशील होने के कारण पर हित से भरा है। कवि को समस्त प्राणियों की चिंता है।

'आंगन' कविता आज के व्यक्ति पर गहरा कटाक्ष करती है जो अपने स्वार्थ के लिए स्व-केंद्रित हो गया है। ऐसा व्यक्ति अपने हित के लिए रसातल तक गिर सकता है। आमने-सामने रहने वाले व्यक्ति पड़ोसी के कर्तव्य को भूल गए हैं और अपने स्वार्थ हित के लिए एक दूसरे के शत्रु बन गए हैं जबकि दोनों मकानों की खिड़कियां-दरवाजे एक-दूसरे से प्यार से बतियाते हैं। खिड़कियों-दरवाजों का बतियाना स्थिति को गहराता ही नहीं बल्कि बेनकाब भी करता है। दुनिया में मची चीख चिल्लाहट, लूट-खसोट, दुख-अवसाद, मारकाट को देखकर कवि को लगता है कि पता नहीं भगवान है भी या नहीं। पर दूसरी तरफ जब वह 'जीवन के सौंदर्य की ज्योति' को जगमगाते देखता है तो उसे ईश्वर का अहसास होता है।

महानगरीय जीवन में मुक्त हंसी गंवारपन की निशानी हो गई हैं। लोगों की आंखों में हम अभिजात सन्नाटा देखते हैं जहां लोग- 'गंभीर ढंग से अगंभीर / विचार-विमर्श करते हैं।' ऐसा असहज वातावरण कवि को पसंद नहीं- 'हम तो गांव से आए हुए लेखक हैं / हमदिन भर सहज भाव से खुलकर हंसते हैं।' खुलकर हंसना व्यक्ति को सहज तथा तनाव मुक्त करता है। पर नगरवासी 'ओढ़े रहते हैं सभ्यता का मातमी मौन', कवि चाहता है कि हम जीवन को कृत्रिम ढंग से न जीकर सहज-उन्मुक्त भाव से जिएं। स्वस्थ, निश्छल तथा प्रेमपूर्ण जीवन के लिए यह जरूरी है। यह कृत्रिम जीवन हमें भौतिकवादी दौड़ में धकेल रहा है। औरों से आगे निकल कर हम प्रसन्न होते हैं अपनी जीत का उत्सव मनाते हैं, पार्टियां देते हैं। पर कवि का मानना है कि वास्तविक जीत तो उसी की होती है जो 'गिरे हुए आदमी को उठाता है।' उसके चेहरे पर 'सुख और शांति की अपूर्व दीप्ति' दिखाई देती है। यह दीप्ति सांसारिक दौड़ में जीते व्यक्ति के चेहरे पर कभी दिखाई नहीं दे सकती। 'दौड़' कविता इसी सत्य को उद्घाटित करती है।

'पद, पैसा, ताकत और झूठी बहसों की रगड़ खाते-खाते' आदमी का विश्वास छलनी-छलनी हो गया है। अपने सिर पर थोपी गई झूठ की तोहमत से मुक्त होना सहज नहीं रहा है। जीवन का मूल्यवान समय सच-झूठ की इस लड़ाई में ही गुजर जाता है। ऐसा व्यक्ति 'रह रह कर' अपने प्रभु से पूछता है- 'यह तुम्हारा कौन-सा खेल है।' कविता वर्तमान न्याय प्रणाली, पुलिस तंत्र तथा समाज के ढांचे पर गहरा व्यंग्य करती है, जहां एक सत्यवादी, ईमानदार भोले-भाले व्यक्ति का जीना दूभर होता जा रहा है। आदमी की वर्तमान स्थिति कवि को ईश्वर से प्रश्न करने के लिए विवश करती है- 'हे प्रभो, तुमने यह क्या किया/ घर के बाहर भीतर एक भीषण उजाड़ है / हर आदमी की आंख में एक ठहरी हुई खामोशी है। कंधे पर झुका हुआ समय का पहाड़ है / चूल्हे की आंच कभी मन से नहीं हंसती' कवि एक के बाद एक आदमी से जुड़ी समस्याओं को गिनाता जाता है जिसका कोई अंत नहीं है। चारों ओर धोखा-कपट, बेईमानी का राज्य है। इन विषम परिस्थितियों से जूझता, संघर्ष करता उन्हें सहता व्यक्ति भूख से मर रहा है।

नारी-मुक्ति का जो रूप उभर कर सामने आ रहा है वह चिंता का कारण है। नारी स्वतन्त्रता का भोग करना चाहती है। समाज में तथा परिवार में अधिकार चाहती है। वह पुरुष दासता से मुक्ति चाहती है। इसका समर्थन आज प्रत्येक बुद्धिजीवी कर रहा है। पर जब नारी इस अधिकार का प्रयोग 'बोल्ड' होने में दिखाती है तो मर्यादा तथा नैतिकता आड़े आ जाती है। देह-प्रदर्शन क्या नारी-मुक्ति का हिस्सा है? इसी समस्या पर कवि विचार करते हुए लिखता है- 'तुमने सही कहा है कि तुम्हारी देह तुम्हारी अपनी है / तुम्हें अधिकार है कि/ जैसे चाहो इसका उपयोग करो / जिस-जिसको चाहो/ उसे सौंपो और वापस ले लो।' पर साथ ही कवि प्रश्न करता है- 'देह की मुक्ति का क्या यही अर्थ लगाओगी / जो पुरुष अपने लिए लगाता आया है।' स्त्री की मुक्ति के साथ कवि चला है। उसने अपनी रचनाओं में स्त्रियों के अधिकार तथा सामाजिक अस्मिता की बात की है। पर आज वह यह सोचने पर विवश है- 'मैं खड़ा-खड़ा सोच रहा हूं / क्या मैं आपके साथ इसीलिए चला था!

संग्रह में कुछ कविताएं ऐसी भी हैं जिनका संबंध कवि के व्यक्तिगत जीवन से है। पर कवि इन कविताओं को निज तक सीमित नहीं रखता बल्कि सभी के साथ जोड़ देता है और प्रत्येक व्यक्ति इन कविताओं में अपनी छवि देखने लगता है। 'ड्राइंगरूम' कविता कमरे के साथ व्यक्ति के लगाव को स्पष्ट करती है। कमरे की अंतरात्मा के साथ कवि का दर्द स्पंदित होता है। यह कमरा ड्राइंग रूम ही नहीं कवि का अध्ययन कक्ष भी है जिसमें किताबों से भरी अलमारियां हैं। उसके मित्र इसी कमरे में बैठ बतियाते हैं, कविताएं सुनते और सुनाते हैं। कवि का शयन कक्ष भी यही है- 'मौसम के अनुसार/ दीवार इधर-उधर हुआ करता है/ सोता हूं तो यह पूरा कमरा/ मेरे सपनों में भर जाता है।' कवि का अस्तित्व इस कमरे के साथ जुड़ा हुआ है। यह कमरा हमें प्रत्येक मध्यवर्गीय

परिवार की याद दिला देता है।

नन्हें बच्चे तन की, मन की बेचैनी को हर लेते हैं। एकाकीपन से मुक्ति देते हैं। सभी व्यथाओं, दुखों, पीड़ाओं को दूर कर देते हैं। इसका एक चित्र 'इन दिनों कविता में कवि ने उकेरा है- 'मेरा नन्हा पौत्र आकर/ मेरी गोद में बैठ जाता है/ और मेरे समय में धंसने लगता है/ देखते-देखते मेरा पूरा वजूद हंसने लगता है।'

'सरस्वती जी पचहत्तर की हुईं' कविता पत्नी को संबोधित है। पत्नी का पति के प्रति पूर्ण समर्पण का भाव कविता में अभिव्यक्ति पाता है। जबकि कवि ने उसे- 'मैंने तो तुम्हें दिए/ अपने अभावों से लथपथ दिन/ चिंताओं से भरी लंबी-लंबी रातें।' पर पत्नी 'यह सब कुछ यों हंसकर लेती रही / जैसे जीवन का कोई अलभ्य वरदान हो।' रोटी-पानी के लिए कवि जगह-जगह भटका है। कभी बड़ौदा, अहमदाबाद, नवसारी, और फिर दिल्ली। पत्नी ने हर स्थिति में पति का साथ दिया है। इसे वह पत्नी के अमृत वर्ष में याद करता है। कवि का जीवन संघर्ष 'आज उम्र की दूर दिशा में' उजागर हुआ है 'निकला था मैं सालों पहले घर से गठरी लिए सफर की / कुछ अरूप अपने भविष्य के, कुछ गाढ़ी यादें थीं घर की।'

संग्रह की कई कविताएं गांव की स्मृति, प्रकृति तथा पर्यावरण की समस्या को समर्पित हैं। कवि की स्मृति में गांव अब भी बसा हुआ है- 'फिर भी रह-रह कर लगता ओ गांव तुम्हारी ही साया में/ मेरी इन शहरी सांसों से उन खेतों की सांस आ रही।' एक अन्य कविता में वह लिखता है- 'मैं जहां भी गया/ गांव मेरे साथ रहा है।' 'शहर' कविता में भी वह गांव को बार-बार याद करता है- 'मेरी दिल्ली में मेरा गांव कहां छूटा मुझसे।' स्मृतियों में वह गांव के प्राकृतिक सौन्दर्य से अब भी जुड़ा हुआ है। नगरों-महानगरों में प्रकृति की वह छटा नज़र नहीं आती जिसे कवि ने गांव में भोगा है। 'एक वसंत और' कविता इसी ओर संकेत करती है। महानगर में कभी-कभी 'किसी उद्यान में/ अकेले ही हंसता खिलखिलाता हुआ' वसंत नजर आ जाता है। पर महानगरों में 'कोई उसकी हंसी में हंसी नहीं मिलाता जबकि गांव में कवि 'सुध-बुध खोकर वसंत को जीता था/ और स्वयं वसंत बन जाता था।' गांव की 'रंग बिरंगे फूलों से लदी उमड़ी/ फसलों की घाटियां पुकारती रह जाती हैं, पर वह गांव जा नहीं पाता। इससे महानगर के जीवन की व्यस्तताएं ही उभरती हैं। वसंत ऋतु कवि को प्रिय है। इस संग्रह की कई कविताओं में वसंत के प्रति कवि के इस अनुराग को देखा जा सकता है- एक वसंत और, कहां गया वह बाग, गेंदे के फूल, देखते-देखते वसंत आ गया, तुम भी हंसो आदि कविताओं में वसंत का वर्णन है 'गेंदे के फूल' में वह गेंदों में गंवईपन देखता है जो 'एक बार खिल खिलाते हैं/ तो मौसम भर चुप नहीं होते / हर पौधा/ फूलों का उत्सव बन जाता है।' कवि को लगात है कि चांदनी रातों में भी ये मुझे पुकारते हैं स्वप्न की तरह' तो 'तुम भी हंसो 'कविता में वसंत महानगर के लोगों को प्रभावित नहीं कर पाता। कवि चाहात है कि वसंत के अवसर पर लोगों के चेहरों पर खिले फूल की मुसकान हो, पर उनकी भौतिकवादी दृष्टि में वसंत का कोई मूल्य नहीं है। कवि देखता है कि व्यक्ति अपने स्वार्थ के लिए, अल्पकालीन सुख के लिए प्रकृति का विनाश कर रहा है। इसकी चिंता संग्रह की कई कविताओं में उभरती है। प्रकृति का विनाश परिवेश को संकट में डाल रहा है। कभी यह चलन था कि प्रत्येक व्यक्ति अपने घर के आंगन में पेड़ों को लगाता था तथा अपने बच्चों की तरह उनकी देख भाल करता था। पेड़ों के साथ उसके आत्मीय संबंध बन जाते थे- 'मेरे लिए यह मात्र पेड़ नहीं था/ पुत्र था दोस्त था, रक्षक था / अपने फूलों और सुगंध से/ मेरे लिए छवियों में जगमगाता एक भरा पूरा मौसम था।' पर अब पेड़ लगाने का चलन खत्म हो गया है बल्कि घर में लगे पेड़ों को स्थान बचाने के लिए काटा जा रहा है। इससे लोगों को थोड़ी-सी अतिरिक्त जगह तो मिल जाती है, पर वे फूलों से, फल से, छाया से वंचित हो जाते हैं। कवि लिखता है- 'यह मेरे घर का प्रहरी भी था/ सामने से आते धूल-धक्कड़ के झोंकों को/ ग्रीष्म की प्रचंड धूप को अपने में समेट लेता था।' पेड़ों की हरियाली मनुष्य के स्वास्थ्य के लिए कितनी आवश्यक है इस सबसे हम परिचित हैं। वृक्ष संरक्षण तथा वृक्षारोपण के लिए यह कविता हमें प्रेरित करती है। 'मेरे आंगन के पेड़' में भी इसी समस्या को उठाया गया है। इस कविता में उसे पक्षियों की चिंता है। आंगन के पेड़ पर कभी पक्षी चहचहाते थे, पर अब पक्षी नहीं आते क्योंकि वे शिकारियों को पहचान गए हैं- 'पक्षी पहचान गए हैं इसे/ अब मैं पक्षी विहीन पेड़ों को देखता रहता हूं।' 'कहां गया वह बाग' कविता में लंबे अंतराल के बाद जब कवि गांव लौटता है तो गांव के बदले हुए रूप को देखता है। पगडंडियां सड़कों में बदल गई हैं, जगह-जगह दुकानें खुल गई हैं और 'समृद्धि की खुशबू फैल रही है हवाओं में।' आम का बाग जो गांव की पहचान था उसे कहीं नजर नहीं आता- 'बिना बाग के कोई गांव होता है क्या?/ न आम्र मंजरियों की पागल पुकार थी । न कोयलों की हूक भरी कूक / हां, कहां था वसंत! बाजारीकरण के कारण नगर और गांव अब लगभग एक जैसे होते जा रहे हैं।

कभी-कभी इन दिनों : रामदरश मिश्र : इंद्रप्रस्थ इंटरनेशनल, दिल्ली-110051, संस्करण 2010, मूल्य 175 रुपए।

6/15, अशोक नगर, नई दिल्ली-110018

मलिक राजकुमार

युद्धरत

उपन्यास साहित्य की सशक्त विधा है। वृहद फलक के कारण कथाकार के पास अपनी बात कहने, पात्रों स्थितियों, घटनाओं, परिवेश इत्यादि को कलात्मकता से उभार सकने का पर्याप्त अवकाश रहता है। यही तेजिन्दर के नवीनतम उपन्यास 'सीढ़ियों पर चीता' में हुआ है।

उपन्यास का मुख्य पात्र जगजीत सिंह रंधावा देहरादून से चेन्नई स्थानान्तरित हुआ है। उसकी जड़ें पंजाब में हैं जहां उसने आतंकवाद को देखा है। उसने अपनी बेटी को उसके बचपन में ही खो दिया था। स्थानान्तरणों से विस्थापन को महसूसता हुआ, चेन्नई जैसे बड़े नगर में अजनबीपन से मुठभेड़ें करता रंधावा चेलम्मा से मिल जाता है जो बाईस वर्ष की युवती है और पत्रकारिता में रूचि रखती है।

यहीं से उपन्यास विस्तार पाना शुरू कर देता है। रंधावा पंजाब के रोपड़ में अपनी जिस बच्ची को खो आया था वह चेलम्मा में जीवित हो उठती है। यह संवेदनात्मक स्थिति वास्तव में बड़ी बात है। चेलम्मा का प्रेमी कमलनाथन शिवा मनियम तमिल आतंकवादी संगठन से जुड़ा हुआ है। वह प्रोफेसर राघवन के जाल का पक्षी है, ठीक उसी तरह जैसे पंजाब में जागीर सिंह एक ग्रंथी के जाल का पक्षी था और अन्त में मारा गया था। यहां रंधावा की चिन्ता सार्वजनीन है।

इसी प्रकार कथा में हिन्दु-सिख, तमिल-सिंहली, दक्षिण- उत्तर, फिलिस्तीनी छापामारों के वर्णन के साथ आतंक की सोच और कारणों की बारीकी से पड़ताल उपन्यासकार द्वारा की गयी है। एक फेंटेसी के माध्यम से लेखक उपन्यास के शीपर्क के संदर्भ को लेकर लम्बी बात करता है जो पर्त दर पर्त आंतक की मानसिकता को उजागर करती चली जाती है।

समाज के हर वर्ग के पात्र प्रायः उपन्यास में हाज़िर है। उनकी भाव-भंगिमाएं, विचार, सोच, कट्टरता, राग, द्वेष, प्रेम इत्यादि का वर्णन जगह-जगह छितरा पड़ा है जो लेखक की बारीक दृष्टि वाली पकड़ को पाठक के समक्ष सहज ही खोलता चला जाता है।

लेखक बड़ी बेबाकी से आतंकवाद की जड़ों को मट्ठा देता चलता है। जागीर सिंह आतंकवादी है, उसे गोली लगी है, रंधावा उसकी मानवीय स्तर पर सहायता करता है। जागीर सिंह रंधावा का धन्यवाद करता है साथ ही कह देता है "आप दाढ़ी पर कैंची चलाते हो!"

रंधावा आश्चर्य करता है कि जागीर सिंह की उम्र का आदमी जो मौत की घड़ियां गिन रहा है उसकी मूल चिन्ता में दाढ़ी कैसे हो सकती है? वह कहता है 'ये सारे निजी मसले हैं और मामूली भी, तुमको अपना ध्यान रखना चाहिए और गुरु के बताए उपदेशों पर चलना चाहिए, तुम इंसानों की जान ले रहे हो और उसमें गर्व महसूस करते हो और मेरी दाढ़ी को लेकर तुम्हें चिन्ता हो रही है, ये बेहूदा है (पृ. 58)। तुम्हें पहले एक बेहतर इंसान बनना होगा, तभी तुम एक अच्छे सिख बन सकोगे (पृ. 58)। फिर लेखक पूरा किस्सा बयान करता है कि किस तरह एक ग्रंथी ने गांव के सरल लोगों को भड़काने का काम किया और जागीर सिंह जैसे ज़हीन लोगों को बरगला भी लिया। इन भटके लोगों के लिए गांवों और आबादियों में जगह नहीं थी पर गुरुद्वारों में उन्हें हर जगह आश्रय था। इस प्रकार उपन्यासकार धर्म के ठिकानों के गलत प्रयोग का चिट्ठा खोलता है जो प्रायः कट्टरता के कारण हर धर्म के व्यक्तियों द्वारा किया जा रहा है। जिससे लोगों की नसों में खून की जगह जहर दौड़ने लगता है। कथाकार यहां प्रश्न भी उठाता है कि क्या धर्म और घृणा का आपस में कोई गहरा संबंध होता है?

इसी तरह शिवा भी राघवन द्वारा बरगलाया गया है। दिल्ली में वह चलती बस से उतरते समय एक शराबी पर गिरा था और उसने सुना था...मद्रासी है क्या, स्साला रावण की औलाद। एक शराबी की बड़बड़ को वह सीने से लगाए फिरता था। उसकी कक्षा में एक पंजाबी लड़का संता-बंता, मद्रासियों और सिंधियों के चुटकले सुनाता था। वह करुणानिधि की नकल, जय ललिता के बारे में बेहूदी टिप्पणियां या मद्रासियों के अंग्रेजी बोलने की नकल किया करता था। वैसे ऐसा तो भारत के हर क्षेत्र में उस उम्र के छात्र करते ही हैं। उस उम्र और परिवेश में यह सहज भी होता है और अच्छा भी लगता है। जबकि वहां और भी मद्रासी लड़के थे और इन बातों को सामान्य ही लेते थे। पर शिवा उनसे भी घृणा करता था कि वे दिल्लीवासी हो गए हैं, उनसे उसे बदबू आती थी।

यह सब शिवा की मानसिक कमजोरी को दर्शाता है। शिवा जब एक पंजाबी लड़के के घर जाता है तो वहां आलू गोभी के परांठे पर घी देखकर सोचता है कि यह घी मेरी जान ले लेगा। वह सोचता है साले खुद भारी भरकम खाते हैं, हमें इडली-डोसा कह कर चिढ़ाते हैं।

इन्हीं सामान्य-सी बातों से उकताकर वह दिल्ली छोड़कर वापस चेन्नई भाग गया था। जबकि यह सब तो छात्र जीवन की सामान्य छेड़खानियां हैं और प्रायः विश्वभर में सदियों से प्रचलित हैं। इसे असमान्य समझना शायद मानसिक रोग का लक्षण ही कहा जाएगा।

इस प्रकार कथाकार भी सतत एक युद्ध लड़ता प्रतीत होता है। वह यह भी देख रहा है कि उधर के युद्ध के कारण स्त्री...बूढ़े

माता-पिता की दुर्गति हो रही हे और उसकी परवाह किसी को भी नहीं है। उसको तो बिलकुल भी नहीं जिसकी होना अनिवार्य स्थिति है। पर उसे बरगलाया गया है। वह समुद्र की पीठ पर घर बनाने का सपना पाले बैठा है।

जहां सिर्फ मौत है...दिमाग का खलल है..धर्म के नाम पर...जाति के नाम पर...सिर्फ घृणा ही घृणा है। इन्सानियत सिरे से गायब है, इस पर अन्यास यह कि यह हद की सीमा तक अमानवीय है।

इन्हीं भटके हुओं में से एक गर्भवती स्त्री ने एक राजनेता को मारने के लिए स्वयं को आत्मघाती बम बना कर उड़ा लिया था। उसके साथ ही उसकी कोख का भ्रूण भी छितरा गा था। जबकि वह मां थी...उसका फर्ज़ था वह उसे जन्म देती, उसे समाज का सभ्य नागरिक बनाने का कार्य करती। परन्तु उसे बरगला दिया गया था, उसे पथभ्रष्ट किया गया था, धर्म और जाति के ठेकेदारों द्वारा।

यहां भी शिवा अपनी प्रेयसी चेलम्मा से प्रेम करने का दावा करता है। जबकि यह दावा सरासर खोखला और झूठा है। अपने को दाव पर लगाने से पूर्व वह चेलम्मा के पास आता है।

चेलम्मा से वासनायुक्त प्रेम करता है...संभोग करने के पश्चात ही वह जाता है। यहां प्रश्न उठता है कि प्रेयसी से संभोग का अर्थ क्या है? क्या शिवा प्रतीक रूप में अपना बीज छोड़कर जाने का आग्रही है कि यह युद्ध पीड़ी दर पीढ़ी यूं ही चलता रहेगा। या फिर उसके लिए प्रेयसी भी एक स्त्री और और भोग्या मात्र है जहां वासना का कीड़ा कुलबुलाकर चला गया, या फिर मनोवैज्ञानिक रूप से एक आश्रय स्त्री शरीर में तलाशा जा रहा था, वह भी स्त्री को केवल जिंस समझकर।

इस सबका उत्तर है शिवा यहां ढोंगी था...स्त्री, प्रेमिका...मां इत्यादि का कोई महत्व उसके लिए नहीं था। वह मात्र अपनी भावनाओं का गुलाम था और संवेदनशून्य होने तक अमानवीय भी, वरना बूढ़े मां-पिता और प्रेमिका की चिन्ता उसे अवश्य होती।

इस तरह सीढ़ियों पर चीता उपन्यास के माध्यम से हम पाते हैं कि तेजिन्दर ने समाज के नासूर आतंकवाद की सलीके से चीरफाड़ की है और निष्कर्ष निकालने के प्रयास किए हैं, इसके लिए तेजिन्दर को बधाई दी जानी चाहिए। उम्मीद भी की जानी चाहिए कि युद्धरत तेजिन्दर अन्तोगत्वा इन युद्धों के प्रति सजग भूमिका के साथ कलिंग युद्ध के अवसाद के पश्चात की शान्ति बहाल करने में सफल होगा।

सीढ़ियों पर चीता, तेजिन्दर सं. 2010, राजकमल प्रकाश्न, नई दिल्ली-110002, मूल्य : 200 रुपये।

ए1/28 मियावाली नगर, दिल्ली-110087

सुरेन्द्र तिवारी
सजग और तटस्थ पत्रिकाएं

लघु पत्रिकाओं के संपादन-प्रकाशन में अब अधिक सजगता और तटस्थता नजर आने लगी है। पिछले एक-दो माह के बीच प्रकाशित पत्रिकाएं रचनात्मक दृष्टि से इतनी विविधरंगी हैं कि भविष्य की रचनात्मकता के प्रति बेहद आशान्वित करती हैं। ऐसी पत्रिकाओं का व्यावसायिक पक्ष भले ही कमजोर हो और कमजोर होना ही स्वाभाविक है क्योंकि इनकी पकड़ में बाजार नहीं है, ये बाजार की चीज नहीं हैं, बल्कि रचनाकारों और पाठकों के बीच अच्छी रचनाओं के माध्यम से एक सेतु का काम कर रही हैं।

'तीसरा विमर्श' (सं. विश्रांत वसिष्ठ, दक्षिण विकास नगर, एलम मुजफ्फर नगर, उ.प्र.) का संपादकीय पढ़ते हुए कई तरह के प्रश्नों से हमारा सामना होता है, और इस पत्रिका का शायद यही उद्देश्य भी रहा है कि पाठक प्रश्नों से टकराएं। संपादक का स्पष्ट मानना है कि 'साहित्य केवल कविता, गीत, कहानी और किस्से तथा समाज का दर्पण ही नहीं है, यह अपने और आने वाले युग का निर्देशक, दिग्दर्शक भी होता है, बल्कि 'ही' होता है। अस्तु जहां अपने दायित्व को स्वयं जानना जरूरी है, वहीं इसकी जानकारी दूसरों को भी रहे तो उचित रहता है।' हालांकि विमर्श शब्द के प्रति संपादक का अतिशय मोह भी प्रकट होता है जब वह रचनाओं को 'विमर्श' के खेमे में बांट देता है- 'यात्रा विमर्श', 'शोध विमर्श', 'दलित विमर्श', 'पत्रकारिता विमर्श', 'भाव विमर्श', 'काव्य विमर्श', 'कथा विमर्श' 'स्त्री विमर्श' आदि-आदि। वस्तुतः 'तीसरा विमर्श' भी मूलतः स्वतंत्र पत्रिका न होकर 'साप्ताहिक संवाद विमर्श' का साहित्यिक विशेषांक है। खैर, इससे पत्रिका के रूप-स्वरूप पर कोई अंतर नहीं पड़ता। रचनाएं संपादकीय सोच और सजगता का प्रमाण हैं। रामदरश मिश्र का यात्रा-वृतांत 'एक यात्रा यह भी' अपनी कवितामयी भाषा और संवेदनात्मक भाव-अनुभव के कारण बहुत ही प्रभावशाली बन गया है। गंगोत्तरी ओर यमनोत्तरी का यात्रा-वर्णन (कृष्ण चन्द्र गुप्त) भी रोचक है। इक्कीस कवियों की कविताएं, सात कथाकारों की कहानियां, करीब तीस विविध विषयक लेख/ निबंध और नई पुस्तकों की समीक्षाओं से सजा यह अंक निश्चित रूप से मानसिक भूख मिटाने के लिए बहुत कुछ देता है।

'युग तेवर' (सं. कमल नयन पांडेय, 1587/1, उदय प्रताप

कॉलोनी बढ़ैयावीर, सिविल लाइन्स-2, सुल्तानपुर, उ.प्र.) विगत पांच वर्षों से लगातार प्रकाशित होने वाली पत्रिका है जो जीवन के हर मुद्‌दों से मुठभेड़ करती नजर आती है। इसका संपादकीय विशेष रूप से पठनीय विचारणीय होता है, जहां आज के ज्वलंत प्रश्नों पर वैचारिक विश्लेषण हमारे सामने होते हैं। इस अंक में भी 'बाजारवाद' पर संपादक ने तटस्थ भाव से विचार किया है। 'पूंजीकेन्द्रित ताकतों ने उन्नत तकनीक के बलबूते बाजार को बाजारवाद में कुरूपांतरित कर दिया है और उपभोक्ता को उपभोक्तावाद में।' 'आज के बाजार को नैतिक मनुष्य नहीं सिर्फ ग्राहक मनुष्य चाहिए। ग्राहक मनुष्य की निर्मिति के लिए वह भोगवादी मनःस्थिति का सृजन कर रहा है।' इत्यादि स्थापनाओं के साथ ही संपादक यह विश्वास भी जगाता है कि 'प्राणवान सामाजिक जीवन के बलबूते ही हम नवबाजारवाद के मोहपाश से अपनी मनुष्यता को बचा सकते हैं।' अंक में कई वैचारिक लेख हैं परन्तु प्रसिद्ध लोहियावादी और समाजवादी चिंतक रघु ठाकुर का 'महिला आरक्षण; लोहिया की दृष्टि में' विशेष रूप से पठनीय है। सोमेश शेखरचन्द्र की लंबी कहानी कथ्य की दृष्टि से जहां आकर्षित करती है, बुनावट में काफी बिखरी हुई नजर आती है। अनीता चौधरी और अलीक की कहानियां पठनीय हैं। गीत, कविता, गज़ल, डायरी, यात्रा-वृत आदि के साथ ही आनंदस्वरूप श्रीवास्तव का 'विष्णु प्रभाकर' पर एक संस्मरण भी है जिसमें उन्होंने 'धरती अब भी धूम रही है' को उपन्यास बताया है। इस तरह की अधूरी जानकारी पाठक को भ्रमित ही करती है।

'तत्सम' (सं. सत्यप्रकाश सिंह, बी-49, दिव्य नगर, पो. खोराबार, गोरखपुर-273008) का अंक 4, 'आमोद स्मृति अंक' है। वस्तुतः 'तत्सम' का प्रकाशन -संपादन आमोद कुमार सिंह के जीवन का एक सपना था, किंतु सिर्फ तीन अंक निकालने के बाद ही असमय उनका निधन हो गया। उनके बाद चौथे अंक को उनके पिता सत्यप्रकाश सिंह ने संपादित-प्रकाशित किया है। एक पुत्र के सपनों को पूरा करने का यह कार्य स्तुत्य है। 226 पृष्ठों का यह वृहद् अंक, स्मृति-अंक तो है, जिसमें आमोद के प्रति श्रद्धा संवेदन तो है ही परन्तु साहित्य-खंड भी महत्वपूर्ण है। जसवंत सिंह विरदी, दामोदर पड़से, शत्रुघ्न लाल आदि की कहानियां कीर्ति केसर, शीला इन्दु का आत्म-कथ्य, बालकवि वैरागी, हरदर्शन सहगल, राजकुमार कुंभज, वेदप्रकाश अमिताभ, विजेन्द्र, केदारनाथ सिंह, लीलाधर मंडलोई, एकांत श्रीवास्तव आदि की कविताएं तथा अन्य स्तंभ इस अंक को महत्वपूर्ण बनाते हैं।

संस्थागत प्रकाशनों में 'ईसुरी' (सं. आनंदप्रकाश त्रिपाठी, हिंदी विभाग, बुंदेली पीठ, डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर-470003, म.प्र.) का प्रकाशन अपना एक अलग महत्व रखता है। 'ईसुरी' के प्रकाशन का मुख्य उद्‌देश्य बुंदेली संस्कृति के वैभव को प्रकाश में लाना रहा है। 'ईसुरी' के माध्यम से यह प्रयास किया जाता रहा है कि बुंदेली लोक साहित्य, संस्कृति एवं कला को राष्ट्रीय परिदृश्य पर यथोचित सम्मान मिले। उसी दृष्टि से इस अंक में रचनाओं का चयन हुआ है। बुंदेली धरती पर बिखरी कविता का संचयन तो है ही, ईसुरी के काव्य और जीवन पर भी काफी विश्लेषणात्मक सामग्री है। 'पुनर्पाठ में ईसुरी' (श्यामसुंदर दुबे), 'मरण को जिसने वरा है' (राधावल्लभ त्रिपाठी), 'लोक के विलक्षण कवि ईसुरी' (राजमति दिवाकर), 'ईसुरी के काव्य में लोकमंगल' (अजय कुमार चौधरी), ईसुरी के काव्य में रजउ' (वेदप्रकाश दुबे), 'कही ईसुरी भाग-एक अद्‌भुत प्रेमकथा' (दया दीक्षित) आदि रचनाएं कवि ईसुरी को समझने में विशेष सहायक सिद्ध होती हैं। वास्तव में बुंदेलखंड के विविध रंग-रूपों से परिचित कराने वाला यह अंक कई अर्थों में ऐतिहासिक अंक है, जहां बुंदेलखंड का आधुनिक रंगमंच भी है, लोकनृत्य भी है, लोकचित्र की परंपरा का अवलोकन भी है। 'बुंदेली व्रत कथाओं में स्त्री विमर्श (शरद सिंह) और बुंदेली लोकगीतों में स्त्री जीवन का यथार्थ' (आनंद प्रकाश त्रिपाठी) के माध्यम से स्त्री-विमर्श की बात भी की गई है, जो बुंदेली काव्य के लिए एक नई ही अवधारणा है। किसी अंचल विशेष की लोक-रचनाओं, लोक-कलाओं को व्यापक स्तर पर सामने लाने का प्रयास अवश्य ही सराहनीय है।

और अंत में 'युग स्पंदन' (सं. भ.प्र. निदारिया, 10841/44, मानकपुरा, करोल बाग, नई दिल्ली-5) के समकालीन हिंदी कविता विशेषांक की बात। इस अंक के अतिथि संपादक हैं प्रताप सिंह, जिन्होंने माना है कि 'काव्य-विवेक की उस बाती से संभाल की जिम्मेदारी ओढ़ी है जो इस विधा और इसके काव्य-पुरुषों की शैली के मणके-मोतियों की जाग में भी अनुभूत हुई है।' नवचेतन से भरपूर कवियों को ही संपादक ने यहां स्थान दिया है। हालांकि इस लघुकाय पत्रिका में ज्यादा लोगों को स्थान देना असंभव था फिर भी सूर्यभानु गुप्त, कुंतल कुमार जैन, दिविक रमेश, सुभाष वसिष्ठ, रामकुमार कृषक जैसे कवि आश्वस्त करते हैं कि कविता का भविष्य अभी भी उज्ज्वल है।

बी-3/76, सेक्टर-16, रोहिणी, नई दिल्ली-110089

नरेन्द्र मोहन : एक बहुआयामीय प्रतिभा

सुप्रसिद्ध साहित्यकार डॉ. नरेन्द्र मोहन के तीन चौथाई शती पार करने के अवसर पर हाल ही में 'शब्द सेतु' दिल्ली की ओर से एक भव्य कार्यक्रम का संयोजन साहित्य अकादमी में किया गया। मुख्य अतिथि थे उर्दू के प्रख्यात कहानीकार श्री जोगिन्दर पाल और अध्यक्ष थे प्रसिद्ध साहित्यकार डॉ. रामदरश मिश्र तथा पंजाबी के कवि-आलोचक डॉ. सतिन्दर सिंह 'नूर'।

यह आयोजन लोकार्पण और विचार-गोष्ठी का सम्मिलित और अपूर्व उत्सव था। नरेन्द्र मोहन की प्रकाशित तीन पुस्तकों 'मंच अंधेरे में' (नाटक), 'साये से अलग' (डायरी), 'फ्रेम से बाहर आती तस्वीरें' (संस्मरण), रजनी बाला द्वारा संपादित नरेन्द्र मोहन पर केंद्रित संस्मरण पुस्तक 'स्मृति में साथ' और उनके साहित्य पर केंद्रित 'कल्पांत' पत्रिका के विशेषांक का लोकार्पन करते हुए श्री जोगिन्दर पाल ने नाटकों, डायरियों और कविताओं में सन्नाटे में बजते शोर और मौन की चीख की ध्वनियों को सुने जाने पर जोर दिया।

डॉ. रामदरश मिश्र ने कहा कि नरेन्द्र मोहन एक लंबे समय से लेखकीय विरादरी के सक्रिय सदस्य रहे हैं और एक लंबे दौर में उन्होंने एक व्यक्ति और लेखक के तौर पर गहरी विश्वसनीयता अर्जित की है। डॉ. सतिंदर सिंह नूर ने नरेन्द्र मोहन के साहित्य के पीछे काम कर रहे विभाजन के खौफनाक मंजरों और दर्दनाक स्मृतियों से बाहर आने की छटपटाहट को मार्क किया और कहा कि वे तेजी से आधुनिकता के घेरे को लांघकर आधुनिकता का नया मॉडल अपनी कविताओं और नाटकों में तैयार कर रहे हैं।

डॉ. हरदयाल ने लोकार्पित पुस्तकों के संदर्भ में चर्चा का प्रारंभ करते हुए कहा कि नरेन्द्र मोहन ने कविता, नाटक, डायरी, संस्मरण आदि विभिन्न विधाओं में निरन्तर और व्यवस्थित लेखन किया है। डॉ. महीप सिंह ने नरेन्द्र मोहन के साथ अपने लंबे संबंधों का जिक्र किया और कहा कि साहचार्य और संवेदना के ताने-बाने उनकी रचनाओं में खुलते जाते हैं। उनके बहुचर्चित नाटक 'मिस्टर जिन्ना' पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने विभाजन से जुड़े उनके सरोकारों को रेखांकित किया।

प्रसिद्ध रंगकर्मी देवेन्द्र राज अंकुर ने नरेन्द्र मोहन के साथ लंबे दौर के अपने अनुभवों को साझा किया और कहा कि वे चरित्रों की मौलिक परिकल्पना करते हैं। नाटकों में वे खुद को, अपने समय के केंद्रीय मुद्दों को और संकटों को रेखांकित करते हैं।

प्रसिद्ध लेखिका मृदुला गर्ग ने उनकी संवेदनशीलता की तरफ संकेत करते हुए कहा कि उनके भीतर एक स्त्री का वास है। कथाकार राजी सेठ ने नरेन्द्र मोहन के लेखकीय स्वभाव, रचनाशीलता की चर्चा करते हुए कहा कि विभाजन और मंटो उनकी मानसिकता और साहित्य की धुरी रहे हैं। मीरा सीकरी ने उनके अवचेतन की टोह लेते हुए कहा कि बचपन में गूंगे हो जाने की जो अनुभूति उन्हें हुई, उसी के साथ जुड़ी हुई है उनके भीतर की छटपटाहट और बचपन का निंदर उनकी शख़्सियत और रचना में लगातार उनका पीछा करता रहा है।

कथाकार रवीन्द्र कालिया ने नरेन्द्र मोहन के साथ जालन्धर के दिनों के प्रसंगों को याद करते हुए कहा कि उन्होंने लगातार संघर्ष करते हुए साहित्य में अपनी पहचान बनाई है। डॉ. गोपाल राय ने विभिन्न विधाओं में उनकी रचनाशीलता का उल्लेख किया। के.जी. वर्मा ने कहा कि नरेन्द्र मोहन की कविताएं और नाटक आधुनिकता के फ्रेम-वर्क से तेजी से बाहर आए हैं और उत्तर आधुनिकता की जमीन से जुड़ते गये हैं। चेन्नई से आए बाल शौर्य रेड्डी ने उनके व्यक्तित्व और रचना-कर्म वे बुनियादी घटकों में जो मानवीय संवेदन-सूत्र हैं, उसकी तरफ संकेत किया। बालस्वरूप राही ने कहा कि नरेन्द्र मोहन 'दूर रह कर भी पास होते हैं/ लोग ऐसे ही खास होते हैं।' अमरनाथ अमर ने नरेन्द्र मोहन की विभिन्न रचनाओं में प्रतिफलित उनकी साहित्यिक दृष्टि की चर्चा करते हुए कहा कि वे (स्व से सर्व और सर्व से स्व) तक चलते हुए अपनी रचनाओं में आत्म मंथन करते चलते हैं।

इस अवसर पर नरेन्द्र मोहन ने कहा कि जिन्दा रहने के अर्थ को पाने का एक मात्र रास्ता शब्द ही है। मेरे लिए और कोई रास्ता नहीं है मुक्ति का- शब्द के सिवा। इसी लिए मैं लेखक के रुतबे को दुनिया के बड़े से बड़े रुतबे से बड़ा मानता हूं।

इस समारोह में द्रोणवीर कोहली, ममता वालिया, कृष्णदत्त पालीवाल, शरद दत्त, बलदेव वंशी, प्रताप सहगल, वीरेन्द्र सक्सेना, कमल कुमार, कुसुम अंसल, कमल किशोर गोयनका, मंजु गुप्ता, सुषमा प्रियदर्शिनी, प्रदीप पांडव, डॉ. विनय, सुरेन्द्र

तिवारी, रीतारानी पालीवाल, पवन माथुर, शशि सहगल, गुरचरण सिंह, जगवीर सिंह की उपस्थिति उल्लेखनीय रही।

कार्यक्रम का संचालन डॉ. हरीश अरोड़ा ने किया और धन्यवाद ज्ञापन दिया 'शब्द सेतु' के अध्यक्ष डॉ. हरीश नवल ने।

प्रस्तुति : रजनीबाला, दिल्ली

ताज अम्बेसडर में हुआ जन्म-दिन का महोत्सव

28 अगस्त की शाम दि मेल्टिंग पॉट एवं रमा पांडे के सहयोग से संवाद द्वारा पावस की एक शाम में महीप सिंह के अस्सीवें, कुसुम अंसल के सत्तरवें और दिविक रमेश के चौसठवें जन्मदिन को ताज अम्बेसडर होटल में धूमधाम से मनाया गया।

प्रख्यात कवि बालस्वरूप राही की अध्यक्षता में हुए इस समारोह का रंग एकदम अलग था। वहां उपस्थित अनेक लेखकों की ओर से फूलों से अगस्त में जन्मे लेखकों का अभिनंदन किया गया। यह समारोह इस मामले में भी अन्य समारोहों से एकदम अनूठा था कि वहां मौजूद लेखकों की हाल ही में प्रकाशित हुई किताबों और मिले सम्मानों को रेखांकित किया गया।

उसके बाद उपस्थित कवियों ने हिन्दी तथा पंजाबी में अपनी-अपनी कविताओं का पाठ किया। काव्य-पाठ करने वालों में बालस्वरूप राही, पुष्पा राही, रमा पांडे, कुसुम अंसल, दिविक रमेश, शशि सहगल, मंजु गुप्ता, मीरा सीकरी, जगतार, हरीश नवल, लक्ष्मीशंकर वाजपेयी, ममता किरण, शामा, पवन माथुर, सुरेश धींगड़ा, अर्चना त्रिपाठी, रेखा व्यास, लालित्य ललित, रवि शर्मा और प्रताप सहगल आदि प्रमुख थे।

कार्यक्रम का समायोजन प्रताप सहगल ने किया।

ढलता सूरज : ढलती शाम का लोकार्पण

कवि-कथाकार सिद्धेश्वर के कथा-संग्रह का लोकार्पण करते हुए प्रख्यात लेखिका उषा किरण खान ने कहा कि सिद्धेश्वर में लेखन का एक जुनून है। उनका लेखन लोगों को प्रभावित करता है। ये एक सशक्त चित्रकार भी हैं।

'वातायन' द्वारा आयोजित लोकार्पण समारोह के विशिष्ट अतिथि डॉ. शांति जैन एवं कथाकार भगवती प्रसाद द्विवेदी ने भी अपने विचार प्रकट किए तथा सिद्धेश्वर के लेखन की सराहना की। वातायन के सभागार में आयोजित इस समारोह का आरंभ पल्लवी विश्वास के स्वागत भाषण से हुआ। वरिष्ठ लेखिका एवं मर्मज्ञ संगीतमर्मज्ञ डॉ. शांति जैन ने लोकार्पण संगोष्ठी को संबोधित किया।

लोकार्पण करते हुए प्रसिद्ध व्यंग्यलेखक पद्मश्री रवीन्द्र राजहंस ने सिद्धेश्वर की कहानियों में व्याप्त सामाजिक कुरीतियों एवं इस भौतिकवादी समाज में लेखक की पैनी दृष्टि की सराहना की।

डॉ. उषा किरण खान ने पुस्तक का लोकार्पण करते हुए कहा कि इस संग्रह की कहानियां सामाजिक यथार्थ का चित्रण करने में कामयाब हैं।

प्रस्तुति : जया अग्निहोत्री

हिन्दी प्रचारक शताब्दी सम्मान 2010

14 सितम्बर 2010 को 'हिन्दी लाओ : देश बचाओ' अनुष्ठान के अवसर पर 'हिन्दी प्रचारक शताब्दी सम्मान : 2010' का पुरस्कार हिन्दी के लब्धप्रतिष्ठ प्रवासी भारतीय कथाकार, कवि एवं पत्रकार श्री सुरेश चन्द्र शुक्ल 'शरद आलोक' (ओस्लो, नार्वे) को देना सुनिश्चित किया गया है। यह सम्मान श्रीनाथद्वारा में आयोजित भव्य समारोह में प्रदान किया जाएगा।

वाराणसी में सन् 1905 में स्थापित हिन्दी प्रचारक परिवार के संस्थापक, निस्पृह समाजसेवी, साहित्यानुरागी एवं ऐय्यारी कथाओं के सुप्रसिद्ध लेखक श्री निहालचन्द बेरी तथा उनके यशस्वी पुत्र व हिन्दी प्रकाशन जगत के पुरोधा श्री कृष्ण चन्द्र बेरी की पावन स्मृति में 'हिन्दी प्रचारक शताब्दी सम्मान' की स्थापना की गयी है।

जन-सम्पर्क अधिकारी
(हिन्दी प्रचारक पब्लिकेशन्स)

समय-चेतना के संवाहक साहित्यकार
महीप सिंह
की दस खण्डों में प्रकाशित रचनावली

खण्ड : एक (कहानियां)
'मैडम' (1956) से 'सीधी रेखाओं का वृत्त' (1970) तक प्रकाशित 69 कहानियां
खण्ड : दो (कहानियां)
'नींद' (1970) से लेकर 'निगति' (2006) तक प्रकाशित 52 कहानियों के साथ 28 बाल कहानि
खण्ड : तीन (उपन्यास)
यह भी नहीं, अभी शेष है
खण्ड : चार
साक्षात्कार, व्यंग्य, रेडियो रूपक, नाटक
खण्ड : पाँच (शोध प्रबन्ध)
गुरु गोबिंद सिंह और उनकी हिन्दी कविता
खण्ड : छह (शोध एवं जीवनियां)
आदि ग्रन्थ में संगृहीत संत कवि, सिख विचारधारा : गुरु नानक से गुरु ग्रन्थ साहब तक, गुरु नानक, गुरु तेग़ बहादुर, स्वामी विवेकानंद
खण्ड : सात (साहित्य)
विभिन्न साहित्यिक समस्याओं पर लिखे गए सुचिंतित लेख
खण्ड : आठ (धर्म और इतिहास)
धर्म और इतिहास के विभिन्न पक्षों पर लिखे गए विचारपूर्ण लेख
खण्ड : नौ (समाज और राजनीति)
विभिन्न सामाजिक एवं राजनीतिक विषयों पर लिखे गए तलस्पर्शी लेख
खण्ड : दस (राजनीति)
राष्ट्रीय एवं अन्तरराष्ट्रीय समस्याओं पर लिखे गए सुविचारित लेख

संपादक : अनिल कुमार
पृष्ठ संख्या : लगभग 5000; मूल्य : छह हज़ार रुपये
संचेतना के पाठकों के लिए मात्र चार हज़ार रुपये
प्रकाशक : नमन प्रकाशन
4231/1, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली : 110002
फोन : 23254306,23247003

पानी रोको महाअभियान

मुख्यमंत्री डॉ. रमन सिंह का
जन-जन से आह्वान

प्रिय भाइयों और बहनों,

जय जोहार !

बीते साल हमने राज्य स्तर पर पानी और पर्यावरण के संरक्षण-संवर्धन का अभियान शुरू किया था। जिसे आगे बढ़ाते हुए इस साल "अक्षय तृतीया" 16 मई 2010 से पानी रोको महाभियान का शुभारंभ किया गया है। राज्य सरकार के विभिन्न विभाग जलाशयों तथा तालाबों के गहरीकरण, संरक्षण के साथ नई जल संरचनाएं बनाने का काम करेंगे ही, लेकिन आप सबकी भागीदारी के बिना यह महाअभियान सफल नहीं हो सकता। माननीय सांसदों, विधायकों, त्रि-स्तरीय पंचायत राज संस्थाओं, जनप्रतिनिधियों, सामाजिक-औद्योगिक संगठनों, छात्र-छात्राओं, कामगारों, नागरिक बंधुओं, गृहणियों सभी से मेरा अनुरोध है कि अपने-अपने क्षेत्र में इस महाभियान में भागीदार बनिए। अपने घरों-दफ्तरों में रेनवाटर हार्वेस्टिंग स्ट्रक्चर्स बनवाएं। अपनी जमीन पर भी पानी सोखने वाली कोई संरचना बनवाएं। आज आप धरती की प्यास बुझाएंगे तो कल धरती आपकी सभी कामनाएं पूर्ण करेगी।

पानी बचाने, रोकने का महाभियान लगातार चलाना है इसके बाद हमें तीन वर्षीय कार्ययोजना बनाना है और उसे अमल में लाना है। मेरा पुनः अनुरोध है कि आप सब इस विषय की गंभीरता को समझें और अपना योगदान दें।

आपका ही

(डॉ. रमन सिंह)

Samvad/UM/4-10

मूल्य : रु.20

संचेतना

सृजन, संवाद एवं विचार का माध्यम

पूर्णांक 194

कृति विमर्श

मेरा लेखन मेरे लेखक होने का प्रयास भर है..

-हरदर्शन सहगल

- इतिहास और स्मृति साथ-साथ
  -डॉ. नरेन्द्र मोहन
- ज़मीन टूटी है और दिलों में खाई बनी है
  -डॉ. गुरचरण सिंह
- एक त्रासदी से गुजरता बालपन
  -डॉ. हेतु भारद्वाज
- टूटी हुई ज़मीन
  -डॉ. उमाकांत शुक्ल

स्मृति शेष :
डॉ. विनय

संचेतना

पूर्णांक 194, वर्ष 40, अंक 4
दिसम्बर–2010

संपादक
महीप सिंह

प्रबंध संपादक
जयदीप सिंह
संदीप सिंह

संयुक्त संपादक
कमलेश सचदेव
गुरचरण सिंह

सह संपादक
इम्तियाज़ अहमद आज़ाद

शब्द–संयोजक
राजेश सिंह
कार्यालय सहयोगी
मनजीत कौर, परमजीत सिंह
आवरण सज्जा
संदीप

क्षेत्रीय प्रतिनिधि
कीर्ति केसर (जालन्धर) कमलेश बख्शी (मुंबई), जसबीर चावला (इंदौर), सुभाष रस्तोगी (चण्डीगढ़), सरोज वशिष्ठ (शिमला), हरनाम सिंह भट्टी (छिंदवाड़ा), वीरेन्द्र कुमार दुबे (जबलपुर)

मूल्य
एक प्रति : 20 रुपये, वार्षिक : 75 रुपये
संस्थाओं–पुस्तकालयों के लिए : 100 रुपये
विदेशों में : 20 डालर, आजीवन : 1000 रुपये

सम्पर्क
एच–108, शिवाजी पार्क, पंजाबी बाग,
नई दिल्ली–26, फोन : 25222888
Email : sanchetna@live.com

मुद्रक एवं प्रकाशक
संदीप सिंह
डीके आफसेट
डी.एस.आई.डी.सी. रोहतक रोड इंडस्ट्रियल काम्प्लेक्स, नांगलोई, दिल्ली–110041 से मुद्रित तथा एच–108, शिवाजी पार्क, पंजाबी बाग नई दिल्ली–110026 से प्रकाशित

स्मृति शेष

कृति–विमर्श : *हरदर्शन सहगल का उपन्यास – टूटी हुई ज़मीन*

लेख

यात्रा

कहानियाँ

कविताएँ

समीक्षा

पत्रिकाएँ

प्रतिक्रियाएँ

पत्रिका के सितम्बर अंक का दर्शन हुआ, अच्छा लगा। यह मेरी पूर्ण प्रतिक्रिया नहीं है, क्योंकि संपादकीय पढ़कर मैं रात भर परेशान रही, इसलिए नहीं कि नंदन जी नहीं रहे, यह तो दुखद समाचार है ही, इसलिए भी नहीं कि वे अन्त समय बहुत कष्ट झेल गए। दुख इस बात का है कि आपने उसमें अंत में लिखा है- 'नंदन जी के अंतिम संस्कार में आए बड़ी संख्या में लेखकों, पत्रकारों, प्रकाशकों, राजनयिकों में दिल्ली के कुछ स्वनामधन्य लेखकों की अनुपस्थिति इस बात का द्योतक है कि संवेदनशीलता को रात-दिन ओढ़ने-बिछाने वाले कुछ लोग अपनी गुटपरस्ती में कितने असंवेदनशील हो सकते हैं।''

पिछले दिनों मैंने गांवों की विद्रुप स्थिति पर एक कविता लिखी है, जिसकी सबसे दुखद स्थिति है- 'मेरा गांव अब शहर हो गया'। शहर सचमुच आदमी को आदमी नहीं रहने देता। अधिक बौद्धिकता व्यक्ति को वर्गीकरण सिखा रही है। अंतिम संस्कार एक ऐसा संस्कार होता है, जब व्यक्ति किसी की सारी बातें भूल कर भी उससे मिल आता है, क्योंकि फिर उसके दर्शन की कोई सम्भावना नहीं रहती, ख़ैर.... समाचारों में भी किसी साहित्यकार का न होना, कोई विशेष महत्व नहीं रखता, कहीं छपा, कहीं नहीं, कहीं प्रसारित हुआ, कहीं नहीं या तो हम पूर्ण विरागी हो गए हैं, जीवन और मृत्यु हमारे लिए कोई अर्थ नहीं रखता, या इतने स्वार्थी और और अर्थ केन्द्रित कि अपने सिवा कुछ नहीं दीखता।

नंदन जी से मेरा व्यक्तिगत परिचय तो नहीं था, पर अनेक सभा-समारोहों में उन्हें मंचस्थ देखा व सुना है। वाणी में ओज, अनुभव, अपनत्व बोलता था। सदा मुस्काता हुआ चेहरा, आंखों पर मोटा चश्मा। बहुत प्रभावशाली व्यक्तित्व था। आपके द्वारा उन्हें जान सकी। फतेहपुर, कानपुर और इलाहाबाद की ख़ूब व्याख्या की है आपने। फिर मुम्बई और दिल्ली शहरों का अपना प्रभाव होता है। नंदन जी ने अपनी संवेदना को नहीं मरने दिया, यही उनका देवत्व है। कष्ट में उनका मुस्कुराना, सबसे कीमती भेंट है।

शुभदा पांडेय
आसम विश्वविद्यालय, शिलचर, असम

'संचेतना' सितम्बर अंक में आपने कन्हैया लाल नंदन को बड़ी मार्मिक श्रद्धांजलि अर्पित की है। ऐसी श्रद्धांजलि किसी और पत्रिका में पढ़ने को नहीं मिली। नंदन एक संवेदनशील साहित्यकार तो थे ही, मित्र थे, प्रफुल्ल चित्र थे, मिलनसार थे, जीवन में जूझारू थे और सबसे बड़ी बात है, छोटे-बड़े सबसे खुलकर मिलते थे। उन्होंने अंतिम समय में काफी कष्ट सहा, परन्तु वे साहित्यिक कार्यक्रमों में बराबर आते रहे। वे जब 'सारिका' के सम्पादक बने तो कई बार सम्पर्क हुआ, मेरे कार्यों की सराहना की और पत्रिका में बराबर सहयोग लिया। उसके बाद भी उनसे बराबर सम्पर्क रहा और वे हमको प्रेम व सम्मान देते रहे। आपने सच ही लिखा है कि नंदन जैसा जीवंत और जूझारू व्यक्ति ढूंढ़ने पर भी नहीं मिलेगा। एक अच्छे मनुष्य और एक अच्छे साहित्यकार का सुन्दर मिलन उनमें था, जो इधर दुर्लभ होता जा रहा है। वे शुद्ध साहित्य के व्यक्ति थे, राजनीतिक कहरता से वे दूर थे, इसी कारण वे सबके मित्र थे।

कमल किशोर गोयनका
ए-98,अशोक विहार, फेज-प्रथम, दिल्ली-52

'संचेतना' का नया अंक प्राप्त हुआ। अन्य साहित्य-सामग्री के साथ विशेष रूप से कृति विमर्श यामिनी कथा : सूर्यबाला अतिरोचक लगे।

नर्मिश ठक्कर
बी-9/31, ओएनजीसी कॉलोनी, फैज-1
मेघालय, सूरत-394518, गुजरात

'संचेतना' का अक्टूबर में प्रकाशित सितम्बर का अंक मिला। प्रसिद्ध कवि-पत्रकार नंदन जी के विषय में आपने विस्तृत जानकारी दी। पृष्ठ 9 पर आपने लिखा कि अब कवि सम्मेलनों में गीतात्मक कविता के प्रति अरुचि पर आपकी चिंता लाजमी है। किंतु मेरा ख़्याल से आज भी कवि सम्मेलनों में गोपाल दास 'नीरज', भारत भूषण, सोमठाकुर, कुंवर बेचैन, विष्णु सक्सैना, सरिता शर्मा, राजेन्द्र 'राजन', जैसे गीतकारों को पूरे मन से सुना जाता है जो कि एक शुभ संकेत है। मुझे हिंदी दिवस पर रूड़की विश्वविद्यालय में आयोजित वह कवि सम्मेलन आज भी याद है, जब 'नंदन' जी को पूरे एक घंटे तक सुना गया था। कृति-विमर्श के अन्तर्गत सूर्यबाला के उपन्यास 'यामिनी कथा' के विषय में जो जानकारी मिली, उससे कोई भी साहित्य प्रेमी इस उपन्यास को पढ़ने का लोभ संवरण नहीं कर सकेगा। विपिन बिहारी की कहानी 'उनसे दूर' वर्तमान समाज का सही चित्रण करती है। पुष्पा 'राही' की कविताएं प्रभावशाली हैं।

हुक्का बिजनौरी
नीलकमल सिनेमा के पीछे, बिजनौर

बाज़ार का धर्म और धर्म का बाज़ार

व्यक्ति के साथ आज़ार शब्द प्राचीन काल से जुड़ा हुआ है। बाज़ार का काम है चीज़ों की पहचान करना, उन्हें तैयार करना, उनके लिए खरीददार ढूंढ़ना फिर उन्हें बेचना। चाहे गांव और शहरों में लगने वाले हफ्तावारी बाज़ार हों, चाहे छोटी-बड़ी दुकाने हों, चाहे डिपार्टमेंटल स्टोर हो, चाहे सुपर बाज़ार हो चाहे आज की दुनिया के मुक्त बाज़ार हो- चारों ओर खरीदो और बेचो तथा बेचने और खरीदारी की सरगरमी चलती रहती है। अगणित चीज़े नित्य बनाई जा रही है। कुछ का पहले से बना हुआ बाज़ार है, कुछ के लिए नये बाज़ारों की तलाश होती रहती है।

बाज़ार में बिकने वाली चीज़ क्या है, कैसी है, ठोस है या तरल, मूर्त है या अमूर्त है इसकी कोई निश्चित सीमा नहीं है। बाज़ार किसी भी चीज़ के लिए ग्राहक तैयार कर देता है। आटा-दाल से लेकर कला, साहित्य, संस्कृति, धर्म, आध्यात्मिकता की मूर्त और अमूर्त चीज़ों के लिए भी खरीदारों को ढूंढ़ लेना, उनके बीच उनकी महत्ता और उपयोगिता स्थापित कर देना, उनमें ललक पैदा कर देना और उस वस्तु को खरीदने के लिए उनकी जेब से पैसा निकलवा लेना किसी भी सफल बाज़ार की अपनी विशेषता है।

संस्कृति और कला कैसे बाज़ार का निर्माण कर देती हैं इसका अध्ययन भी कम रोचक नहीं है। पहले बाज़ार में देवी-देवताओं की तस्वीरें बिकती थीं, आज भी खूब बिकती हैं। अच्छी, सुंदर, मांसल स्त्रियों को तस्वीरों के खरीदारों की संख्या कम नहीं है। राजनेताओं की तस्वीरें उतनी नहीं बिकतीं जितनी फिल्मी अभिनेता और अभिनेत्रियों की। जब अमूर्त कला के चित्र बनने लगे तो बहुत लोगों ने सोचा, भला इन्हें कौन खरीदेगा। किन्तु देखते-देखते अमूर्त चित्रों का बाज़ार उठने लगा। बड़े समृद्ध घरों के ड्राइंगरूम में इन्हें लगाना, उन घरों-परिवारों की ललित अभिरूचियों का प्रतीक माना जाने लगा और 'स्टेटस सिंबल' के रूप में लिया जाने लगा। मूर्त कला के चित्र सामान्य जनता के बीच रह गये। अमूर्त कला की पेंटिंग्ज अमीरों के घर स्थान पाने लगीं और उसी के अनुसार उनका मूल्य भी हज़ारों-लाखों में आंका जानें लगा।

इसी तरह गायन, नर्तन, लेखन का बाज़ार भी अपने अंदर वे सारे तत्व समेटे है जो साबुन और टूथपेस्ट के बेंचने के लिए आवश्यक माने जाते हैं, केवल इन चीज़ों के खरीदारों की सही पहचान करनी पड़ती है।

मुझे लगता है कि आज धर्म का बाज़ार किसी भी अन्य बाज़ार की अपेक्षा बहुत अधिक फल-फूल रहा है। मेरा अनुमान है कि यदि इस बाज़ार का सही-सही अध्ययन और विश्लेषण किया जाए तो यह कई हज़ार करोड़ रुपयों का बाज़ार निकलेगा। देश और विदेश में फैले भगवानों, संतों, महंतों, उपदेशकों कथा वाचकों, कीर्तनियों को प्रति वर्ष कितना धन भेंट और दान में प्राप्त होता है इसका पूरा जायज़ा नहीं लिया गया है। किन्तु यदि इनका सही जायज़ा लिया जाए तो चौंकने वाले तथ्य सामने आएंगे।

धर्म का बाज़ार अन्य किसी भी भौतिक उत्पाद की अपेक्षा कहीं अधिक सीधे-सपाट रास्ते पर चलता है। इसके लिए लम्बी-चौड़ी पूंजी की आवश्यकता नहीं पड़ती। न कोई कारखाना लगाना पड़ता है, न किसी लम्बी-चौड़ी पूंजी की आवश्यकता पड़ती। यह बाज़ार किसी एक पुरुष या स्त्री के करिश्माई व्यक्तित्व के सहारे चलता है। जैसे-जैसे उस व्यक्ति का करिश्मा बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे उसका बाज़ार निखरता जाता है। इस बाज़ार में न ब्रिकी-कर लगता है, न इस पर आयकर वालों को गिद्ध दृष्टि पड़ती हैं इस बाज़ार में हिसाब-किताब के वही खातों का भी विशेष महत्व नहीं हैं, न मुनीमों का जमघट लगाने की ज़रूरत पड़ती है। इस बाज़ार की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसका सम्पूर्ण कार्य नकदी में चलता है। यहां उधार लेन-देन का कोई चक्कर नहीं है।

धर्म का बाज़ार कोई नई बात नहीं है। प्राचीन काल से भारत में, और संसार के सभी देशों में, यह व्यापार खूब चला है और बाज़ार की रौनक कभी कम नहीं हुई है। यह बाज़ार पूरी तरह लोगों की आत्मा और विश्वास के कारण ही फलता-फूलता है। सांसारिक चीज़ों को खरीदते समय ग्राहक चीज़ की परख भी करता है और मोल-भाव भी करता है। धर्म के बाज़ार में ऐसा कुछ नहीं होता। एक बार विश्वास जमता है तो ऐसा बहुत कम होता है कि वह उखड़ जाए। अधिकतर तो विश्वास, अंधविश्वास में बदल जाता है।यह भी कहा जा सकता है कि इस बाजार का आधार विश्वास पर कम, अंधविश्वास पर अधिक होता है।

गुरु नानक ने अपनी एक रचना में एक पाखंडी साधू को इस प्रकार की दुकानदारी की एक स्थान पर चर्चा की है। वह साधू बीच-बाज़ार अपनी दुकान लगाकर बैठा था और यह दावा कर रहा था कि वह आंख बंद करके भूत, भविष्य और वर्तमान की सभी बातें बता सकता है। एक बार उसने आंखें बंद कीं तो किसी व्यक्ति ने उसके सामने रखे कमण्डल को उसकी पीठ की ओर रख दिया। किसी ने पूछा महाराज आप तो त्रिकालदर्शी है। आप का कमण्डल कहां हैं? वह घबरा कर इधर-उधर उसे ढूंढ़ने लगा और लोग हंसने

लगे-

अक्खी न मीटहि नाक पकड़हि ठगन कउ संसार।
आंट सेती नाकु पकड़हि सूझते तिन लोअ।
मगर पाछे कुछ न सूझै एहु पदम अलोअ

(ऐसे लोग संसार को ठगने के लिए आंखें बंद करते हैं, नाक पकड़ते हैं। उंगलियों से नाक दबाते हैं और दावा करते हैं कि उन्हें तीनों लोक दिखाई देते हैं। किन्तु पीठ पीछे रखी वस्तु का इन्हें पता नहीं लगता। यह कैसा पद्मासन है)

आज धर्म के बाज़ार ने पूरा आधुनिक रूप धारण कर लिया है। अब संतों, महंतों, योगियों, योगिनियों का प्रचार उसी प्रकार होता है जैसा मशहूर हस्तियों का अथवा उन मॉडलों- जैसा जो साबुन, तेल, टूथ पेस्ट अथवा मोटर साइकिल जैसी चीजों की ब्रिकी के लिए प्रचार कार्य करते हैं। अब छोटे-बड़े नगरों में ऐसे चेलों और प्रवचनकर्ताओं के चार-पांच रंग में बने हुए पोस्टर लाखों की गिनती में लगाए जाते हैं। नगर के हर नुक्कड़ और राष्ट्रीय मार्ग पर ऐसे महापुरुषों के बड़े-बड़े होर्डिंग्ज़ लगे होते हैं। कुछ संतों के नगर में आगमन के समय बड़े-बड़े बैनर भी लगाए जाते हैं और अखबारों में लाखों रुपये खर्च करके विज्ञापन भी दिये जाते हैं।

आजकल एक और बाज़ार बहुत गरम है- जिसे शो बाज़ार कह सकते हैं। कुछ लोग अपने नगर में एक बड़ा शो आयोजित करते हैं जिसमें फिल्मी कलाकार, लोकप्रिय गायक और नर्तक, लतीफेबाज, भारी भरकम ऑरकेस्ट्रा के साथ बुलाए जाते हैं। शो के प्रबन्धक आमंत्रित कलाकारों से उनकी फीस तय कर लेते हैं। फिर प्रचार माध्यमों से लोगों को टिकट बेचे जाते हैं। स्वाभाविक है कि ऐसे आयोजकों के प्रबंधक व्यवयायी व्यक्ति होते हैं। शो से जमा की हुई रक़म से कलाकारों की फीस दे देने के पश्चात उनके पास अच्छी-ख़ासी धनराशि बच जाती है, जो उनका मुनाफ़ा होती है।

ऐसा शो व्यापार अब धर्म के क्षेत्र में भी शुरू हो गया है। कुछ दिन पहले एक ऐसे ही 'धार्मिक-शो' का विवरण मुझे सुनने को मिला। एक स्थान के कुछ उद्यमियों ने सोचा कि क्यों न अमुक संत को अपने यहां प्रवचन के लिए बुलाया जाए। संत महाराज को ऐसे आमन्त्रण देश के कोने-कोने से मिलते रहते हैं। वे जहां भी जाते हैं हज़ारों की भीड़ उनका प्रवचन सुनने के लिए आती हैं और श्रद्धालुओं द्वारा दी गई भेंट, दान, दक्षिणा में भारी धनराशि आती है। कार्य क्रम यह बना कि उन संत जी को पंद्रह दिनों के लिए निमंत्रित किया जाए। किसी खुले मैदान अथवा पार्क में विशाल पांडाल लगाया जाए, कार्यक्रम का धुआंधार प्रचार किया जाए।

प्रबंधकों ने संत जी के सचिव से बातचीत की। सौदा इस बात पर पटा कि संत जी जितने दिन प्रवचन करेंगे उन्हें एक लाख रुपये प्रतिदिन के हिसाब से दिया जाएगा।

निश्चित तिथि पर संत जी आ गये और अगली सुबह से उनका प्रवचन प्रारम्भ हो गया। संत जी की ख्याति तो चारों ओर फैली हुई थी। लाखों लोगों ने टी.वी. के एक चैनल पर उनके प्रवचन सुन रखे थे। उनके आगमन से पूर्व सभी आधुनिक साधनों से उनका प्रचार भी किया गया था। इस सबका ठीक परिणाम निकला। उनके प्रवचनों को दो सप्ताह तक असंख्य लोगों ने सुना और कृत-कृत्य हुए।

किन्तु अंतिम दिन लेन-देन को लेकर झगड़ा हो गया। पंद्रह दिनों में जितनी धनराशि जमा हुई थी, पांडाल, प्रचार तथा अन्य सभी खर्च निकालकर तीस लाख रुपये बचते थे। संत जी का दावा, थे सारी धन-राशि मेरी है क्योंकि यह मेरे कारण ही जमा हुई है। प्रबंधकों का कहना था कि हमारी बात तो आपसे पहले ही तय हो गई है। आपका हिस्सा पंद्रह लाख होता है, वह आप ले लीजिए। संत जी का कहना था तय होने से क्या होता है? आखिर तो यह धनराशि मेरे कारण इकट्ठी हुई है। आप अपने खर्च निकाल कर शेष राशि मुझे दे दीजिए।

प्रबंधक सोच रहे थे कि हम क्या मूर्ख हैं। हमने सारा आयोजन इसलिए किया था कि संत जी को उनका मुआवजा देने के बाद हमारे हिस्से में भी कुछ आ जाएगा। इस व्यापार में संत जी लाखों कमाएँ और हम केवल परमार्थ करते फिरें? यह कैसे हो सकता है?

संत जी से प्रबंधकों का कोई लिखित अनुबंध तो था नहीं। धर्म का सारा व्यापार तो ऐसे ही चलता हैं

अंत में बड़ी तू-तू, मैं-मैं के बाद फैसला हुआ। संत जी को पांच लाख रुपये और दिये गये अर्थात् कुल बीस लाख। शेष दस लाख रुपये प्रबंधकों ने आपस में बांट लिए।

बाजार अपना पूरा धर्म निभाता है। वह हर चीज़ खरीदता है और बेचता है। धर्म का भी इतना बड़ा और बिना किसी झंझट का बाजार है। अभी तक बाजार में इसकी पूरी समझ विकसित नहीं हुई है। किन्तु जिस ढंग से आजकल यह बाज़ार दिन-दुगनी, रात-चौगुनी तरक्की कर रहा है, उसे देखते हुए यह लगता है कि यह बाजार दूसरे बाज़ारों को जल्दी ही पीछे छोड़ जाएगा। सबसे बड़ी बात तो यह है कि इस बाजार में बहुराष्ट्रीय स्वरूप ग्रहण करने की बड़ी संभावनाएं हैं और नई आ रही सूचना तकनीक इस बाज़ार का अंतर्राष्ट्रीयकरण करने में अपनी पूरी भूमिका निभा सकती है।

रामदरश मिश्र

विनय चले गये

विनय भी चले गये। मुंबई जाने से पूर्व ही वे मोटरसाइकिल से गिरकर दुर्घटनाग्रस्त हो गये थे तभी से उनका स्वास्थ्य उन्हें तंग करने लगा था। बाद में कुछ और रोगों ने उन्हें घेर लिया किन्तु वे सबसे लड़ते हुए जीवन-रस बचाये रहे और अपनी क्रियाशीलता मंद नहीं पड़ने दी। मुंबई से दिल्ली तक की यात्राएं होती रहीं। वे मुंबई में गोष्ठियां आयोजित करते रहे और वैचारिक तथा सर्जनात्मक साहित्य के सृजन में लगातार रत रहे। अपनी भीषण अस्वस्थावस्था में भी उन्होंने कभी अपनी लाचारगी नहीं व्यक्त की और जिजीविषापूर्वक कुछ न कुछ करने का संकल्प दुहराते रहे।

कुछ समय पूर्व यानी पिछले विश्व-पुस्तक मेले में इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन से प्रकाशित कुछ पुस्तकों का लोकार्पण हुआ। उनमें विनय का उपन्यास 'वेद व्यास आये' भी था। यह शायद उनका पहला विशिष्ट उपन्यास था। अब तक तो उनकी प्रतिभा कविता, नाटक और आलोचना के क्षेत्र में ही अपना उजास, व्यक्त करती रही। एक पुरुष और, महाश्वेता तथा पुनर्वास के दंड खंड-काव्यों में उनकी काव्य संवेदना और मूल्य चेतना की प्रभावशाली छवि लक्षित होती है। उनके काव्य संग्रहों की उपस्थिति भी हिन्दी साहित्य में दर्ज की जाती रही। उनके नाटक अपनी अलग पहचान बनाने में समर्थ हुए। उनके प्रभावशाली मंचन भी हुए। पहला विद्रोही, एक प्रश्न मृत्यु नाटक विशेष रूप से चर्चित हुए।

विनय सर्जनात्मक प्रतिभा के साथ-साथ आलोचनात्मक प्रतिभा के भी धनी थे। उन्होंने कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, आलोचना सब पर नज़र रखी। आलोचना के क्षेत्र में उन्होंने कई पुस्तकें दीं।

विनय विद्वान व्यक्ति थे। उन्होंने भारतीय पौराणिक आख्यानों तथा दर्शन का गहन अध्ययन किया था। पाश्चात्य दर्शन से भी वे सुचारू रूप से गुज़रे थे। वेदांत मीमांसा, वैशेषिक तथा सांख्य दर्शन पर विवेचनात्मक अध्ययन और कनफ्यूशियस इस बात की गवाही देते हैं। चार-पांच दिन पहले किसी अस्पताल से विनय का फोन आया। उन्होंने बताया कि वे कल अस्पताल से छुट्टी पा लेंगे। किंतु अचानक कल डॉ. गुरचरण सिंह का फोन आया- 'विनय नहीं रहे।'

वह सातवां दशक था। मैं 1964 में दिल्ली आया था। उन दिनों बाहर के अनेक साहित्यकार दिल्ली में आ गये थे। बड़ी गहमागहमी थी। विनय तो दिल्ली विश्वविद्यालय के छात्र रहे और तब दयाल सिंह कॉलेज में पढ़ा रहे थे। धीरे-धीरे ऐसा संयोग बनता गया कि हम कई लोग परस्पर जुड़ते चले गये। हमारे साहित्यिक संबंध पारिवारिक संबंध बन गये। महीप सिंह, नरेन्द्र मोहन, विनय, हरदयाल, बलदेव वंशी आदि के पारस्परिक मिलन ने एक साहित्यिक मंच की स्थापना कर दी। विनय बहुत सक्रिय थे। वे दीघा पत्रिका भी निकालते थे। नव लेखन से संबंधित कई विशेषांक उसने दिये, 'संचेतना' पत्रिका भी मंच बनी हुई थी। उन दिनों दिल्ली का साहित्यिक जगत गुटों में बंटा हुआ था। ऐसी स्थिति में दस-पांच लोगों का साथ होना ज़रूरी था। हमने कोई गुठ नहीं बनाया था हमने खुला मंच बनाया था। जिस पर हर विचार-धारा के लोगों के उपस्थिति होने के लिए स्वागत भाव था। मैं यह कैसे भूल सकता हूं कि मेरा पहला कहानी-संग्रह 'खालीघर' विनय ने छापा था। कैसे भूल सकता हूं कि जब डॉ. महीप सिंह ने 'संचेतना' का संपादन शुरू किया तो पहले अंक में उन्होंने मेरी कहानी 'सीमा' के साथ मेरी कहानियों पर डॉ. नित्यानंद तिवारी का समीक्षात्मक लेख छापा। मेरी कहानियों पर यह पहला लेख था।

सातवें दशक में हम लोगों के जो संबंध बने वे क्रमशः प्रगाढ़ होते गये। आपातकाल के पश्चात् डॉ. महीप सिंह के प्रयत्नों से 'भारतीय लेखक संगठन' की स्थापना हुई। उससे हम लोग गहरे जुड़े। उसके तत्त्वावधान में अनेक महत्त्वपूर्ण गोष्ठियां संपन्न हुईं। दिल्ली, अहमदाबाद और मुंबई में वार्षिक अधिवेशन हुए। विनय शुरू से ही बहुत सक्रिय रहे। आगे चलकर वे संगठन के महासचिव और फिर अध्यक्ष बने। और अध्यक्ष के रूप में ही दुनिया से चले गये।

बहरहाल विनय मुंबई गये। वहां की दुनिया में रमे भी किन्तु न दिल्ली उन्हें भूली न वे दिल्ली को भूले। दिल्ली में उनकी बेटी तथा अनुज अश्वनी पाराशर तो हैं ही वे तमाम साहित्यकार हैं जिनके साथ उनका गहरा व्यक्तिगत और साहित्यिक लगाव रहा है। अतः वे अस्वस्थावस्था में भी दिल्ली आते-जाते रहे और हम लोगों को उनके आने की प्रतीति होती रही किंतु यह प्रतीति सूचनाओं द्वारा होती थी। वे दिन अब कहां रहे जब हम कई मिल-मिलकर बहुत आनंद पूर्वक एक समय खंड जी लेते थे और उसकी यादें अपने में भरकर अपने को भरपूर अनुभव करते थे। विनय के आने की सूचना से उनके साथ बीते हुए समय की कितनी ही यादें जाग आती थीं किंतु अब तो विनय के आने की सूचना भी नहीं मिलेगी।

मेरा लेखन मेरे लेखक होने का प्रयास भर है

- हरदर्शन सहगल

कृति-विमर्श स्तम्भ में आप पढ़ चुके हैं 'आवारा मसीहा' (विष्णु प्रभाकर), 'आवां' (चित्रा मुद्गल), 'अन्वेषक' (प्रताप सहगल), 'तापसी' (कुसुम अंसल), 'नागपर्व' (गुरचरण सिंह) और यामिनी कथा (सूर्य बाला) कृतियों के सम्बन्ध में। इस अंक में प्रस्तुत है हरदर्शन सहगल के उपन्यास 'टूटी हुई ज़मीन' पर चर्चा

- संपादक

मैंने अपनी किसी कहानी में खुलासा किया है कि जीवन में ज़्यादातर चीज़ें इत्तेफ़ाक़न, बिल्कुल लॉटरी की तरह होती हैं। जिनके पीछे हमारी कोई ख्वाहिश-रज़ामन्दगी कतई नहीं हुआ करती, ज़िन्दगी खुद-ब-खुद अपने आप में एक लॉटरी की तरह है। हमने कब चाहा था कि हमारा जन्म हो। बाक़ी की चीज़ें भी निरंतर हमारी तमन्ना को, दरकिनार रखकर होती चली जाती हैं। मसलन शहर, मुल्क, मां-बाप, बेटा-बेटी वग़ैरह-वग़ैरह। कहा जाता है कि ये सब ऊपर वाले के हाथ में है। मगर भगवान, खुदा या ईसा को चुनने में भी किसी ने हमसे कब पूछा था?

मेरे यह सब लिखने का असल मक़सद साफ़ है कि हम सब तो इस दुनिया में यूं ही अचानक बतौर इनसान किसी भी जगह पैदा होते हैं और दुनिया में पैर फैलाते ही खांचों में बंट जाते हैं।

महत्वपूर्ण प्रश्न होता है कि हम हैं क्या? हमारी निजी पहचान, आईडेन्टिटी क्या है? ये सब चीज़ें ज़रा बाद में। पहले औपचारिकता का निर्वाह कर लिया जाए। हां, मुझे मानने में कोई परहेज नहीं कि इन बातों का प्रभाव ताउम्र लगातार हमारी ज़िन्दगी के भविष्य पर पड़ता ही पड़ता है। माहौल को नाकारा नहीं जा सकता।

देखिए, मेरे गांव का नाम करोड़ लालीसन है। यहां पर लाली बाबा पीर का मकबरा है, जो हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों क़ौमों के लिए बराबर की इबादतगाह है। तहसील-लय्या, ज़िला-मुज़फरगढ़ है; लेकिन मेरा जन्म कुन्दियां, ज़िला मियांवाली, पंजाब में हुआ। तारीख़ 26 फरवरी, 1936। पिता का नाम श्री जे.एल. सहगल, माता का नाम श्रीमती जमना सहगल है। पिता रेलवे में नौकर थे। जल्दी-जल्दी तबादले हुआ करते थे। पिता जी की उर्दू डायरी के मुताबिक़ [illegible] अप्रैल, 1937 में सखर (सिन्ध) में तबादला हुआ। 22 म[illegible] 1939 को पेशावर में। 27 जुलाई, 1941 क़िला शेखू[पुरा] (पंजाब) में हम लोग आ गए। विभाजन से पूर्व पिता[जी] अकेले ट्रांसफर पर मुलतान चले गए थे। माताजी और ह[म] बच्चे क़िला शेख़ूपुरा में ही पढ़ाई के सिलसिले में रूक ग[ए] थे। विभाजन के बाद अलग-अलग बिना एक-दूसरे की ख़ब[र] के जलती आग में से निकलकर किसी तरह भारत आ पा[ए] थे।

सच्चाई आपके सामने है। हम सभी माता-पिता, भाई-बह[न] और दूसरे रिश्तेदार हिन्दुस्तान में ही पैदा हुए थे। ये सारे [illegible] सारे शहर, इलाक़े हिन्दुस्तान में ही तो पड़ते हैं (अब थे[illegible] लेकिन बग़ैर हमारी चाहत के हिन्दुस्तान, पाकिस्तान [illegible] तबदील हो गया। बड़े भाई साहब और पिताजी दोनों सरका[री] नौकरी में थे। ऑप्शन पूछी गई। हर एक को, अपने वत[न] ज़मीन, जायदाद से प्यार-मुहब्बत होती है। लिहाजा फार्म-अ[illegible] में 'पाकिस्तान' ही लिखा। मगर मारकर भगा दिये गए, [illegible] आज़ाद हिन्दुस्तान के नागरिक हो गए।

मेरी पहली स्कूली ज़बान पेशावर में अग्रेंजी थी। पंजा[ब] क़िला शेख़ूपुरा आने से पढ़ाई उर्दू में हो गई। लड़कों के लि[ए] उर्दू और लड़कियों के लिए हिन्दी हुआ करती थी। हम हिन्[दी] को कमतर मानकर इसका मज़ाक़ उड़ाया करते थे। अ[illegible] देखिए, जैसाकि मैंने पहले बताया कि हमारा कोई चुना[व] (च्वाइस) नहीं होता। बाद में मैं हिन्दी का लेखक ही कहलाया[,] कुछ अफ़साने उर्दू में भी शायर हुए। वैसे मेरी कहानियां[,] नॉवलों में बअसानी उर्दू का असर देखा जा सकता है, और यही मेरे लेखन की रवानी का सबब है। कई जगहों के धक्के

खाते हुए बरेली (उत्तर प्रदेश) में पिताजी को पोस्टिंग मिली। वहां पर हिन्दी थी। फिर से एक कक्षा पीछे। इस तरह जहां दुनिया के कई तरह के अनुभव हुए वहां बी.ए. भी पूरी न कर सका। मैं बी.ए. करना चाहता था। मैं नौकरी नहीं करना चाहता था। मैं शादी नहीं करना चाहता था। लेकिन सब कुछ मेरे इरादों के ख़िलाफ़ होता चला गया। 28 जुलाई, 1956 को बीकानेर डिवीज़न में रेलवे में नौकरी लगी। साढ़े छब्बीस वर्ष की आयु में 11 दिसम्बर, 1960 में कमला चोपड़ा से शादी भी हुई।

बहुत ही छोटी आयु में मस्तिष्क में एक बेचैनी, बेक़रारी, बेताबी, झुंझलाहट छाई रहती थी। मैं क्यों, किसलिए हूं और क्या हूं? शायद ये मेरे अन्दर लिखने, अपने आपको व्यक्त करने के बीज थे, जिन्होंने बहुत बाद में मुझसे लिखवाया। आलोचकों के अनुसार, 'विभाजन और विस्थापन की समस्याओं से वे (हरदर्शन सहगल) लेखन के स्तर पर बिंधे रहे हैं। विभाजन पर उनकी कई कहानियां हैं। और रूह है- 'टूटी हुई ज़मीन' उपन्यास। उनके अनुसार इस उपन्यास को लिखने में उन्हें 18 साल लगे। विभाजन पर लिखी जाने वाली कहानियों का यह सिलसिला अब तक जारी है। बिना किसी ख़ास प्रयास के आपसे आप कहानियां लिखी जाती हैं, जिन्हें रोक पाना उनके बस की बात नहीं है।''

प्रायः किसी लेखक से प्रश्न किया जाता है 'आपने कब लिखना शुरू किया?'' यह एक ऐसा ख़ास सवाल है, जो अमूमन किसी भी लेखक से किया जाता है।

सवाल सिर्फ़ क़लम उठाकर लिखने तक ही महदूद हो या सिर्फ़ छपने की बात करनी हो, तो मुद्दा मुश्किल नहीं। थोड़ा याद करते हुए या फिर अपने कुछ क़ागज़-पन्नों को पलटते हुए सन्, संवत्, तिथियों की गिनती गिनवाई जा सकती है। लेकिन यह सही उत्तर नहीं होगा। दरअसल सृजनात्मक साहित्य लेखन की पृष्ठभूमि में जाने का प्रयास करें तो पाएंगे कि यह कोई एक सूत्रीय अवधारणा नहीं, बल्कि जटिल पहलू है।

इन दो बातों- लिखने और छपने- को अपनी रचनाशीलता के साथ अभिव्यक्ति देना, कुछ-कुछ वैसी ही स्थितियों-जैसा उबाऊ होता है, जैसे अपने खोए हुए सायों का पीछा करना या जैसे स्वयं अपनी आंख की पुतली को देखने का प्रयास। कुछ बातें तो ऐसी हैं, जिन्हें बताते हुए संकोच-सा होता है। बहुत ही छोटी उम्र की अपनी सनकों पर नज़र जाती है। पेड़ों की जड़ों, दीवारों को घूरना, यह आदमी कैसे बैठा है, कैसे मुंह बना रहा है, क्यों अचानक छलांगें लगाता हुआ भाग खड़ा हुआ। दिल क्यों धड़क रहा है। अपनी पीड़ा के सदृश्य दूसरों की पीड़ा से आहत रहना। आंधी, तूफ़ान, गर्मी, ठंड, बरसात से थोड़ी घबराहट के साथ मौसमों के बदलाव की प्रतीक्षा- उसी बहुत ही छोटी-सी आयु में, जब ठीक से दुनिया को पहचान नहीं पाया था किसी के यह पूछने पर कि बड़े होकर क्या बनोगे, क्यों मेरे मुंह से आपने आप 'लेखक' निकला था? घरेलू एलबम के पहले पृष्ठ पर रवीन्द्र नाथ टैगोर का फोटो क्यों चिपकाया?

ख़ैर ये सब अपनी जगह। फिर भी मेरे लिए लिखने व छपने से अधिक महत्वपूर्ण बात औरों की बनिस्वत ख़ुद के लिए यह जानना, समझना ज़रूरी है कि मैं क्यों, किसलिए, और किसके लिए लिखने लगा?

उन ब्यौरों में जाने के लिए मुझे पढ़ने और लिखने या फिर लिखने और पढ़ने के अंतः संबंधों का ध्यान आता है, जिनके तन्तु एक-दूसरे से संश्लिष्ट रूप से जुड़े हुए हैं।

लिखने से बहुत पूर्व सुना हुआ, लोक साहित्य और स्वतः पढ़ने की आंतरिक प्रेरणा, प्रभावशाली ढंग से हमारे मानस पर क्यों हावी हुई रहती है? भारी दबावों के बीच तो हम सिर्फ़ पढ़ाई करते हैं। कोर्स पूरा करते हैं। इम्तेहान पास करते हैं। डिग्रियां हासिल करते हैं। परन्तु कुछ 'ख़ास' सुना हुआ, पढ़ा हुआ, बिना ज़्यादा ज़ोर डाले हमारी चेतना का अंग बन जाता है। ये सब कुछ रह-रहकर हमें आन्दोलित करता है। उस 'जाने हुए' की हम जिस-तिस के सामने प्रशंसा करते हैं। शायद यह रचनाशीलता का सुख है। जिसे हम दूसरों के साथ बांटना (शेयर करना) चाहते हैं। फिर वैसे लेखन को हम और-और खोजते, पढ़ते रहते हैं। उसमें निरन्तर संवर्द्धन की कामना के साथ-साथ प्रयत्नशील हो उठते हैं। जिनके साथ ऐसा होता है, क्यों होता है? शायद यह एक मनोवैज्ञानिक विषय है।

मुझे अपनी तीन-चार साल की उम्र याद है। ज्यों-ज्यों बड़ा होता जा रहा हूं बचपन, शीशे की मानिंद अधिक स्पष्ट दिखने लगा है (उन स्थितियों पर कहानियां लिखी गई जैसे- 'मुक़ाबला', 'रूसदी', 'शरीक़े-जुर्म' आदि-आदि।)

पेशावर में जब अबोध अवस्था में था, तब एक अजीबो-गरीब ऊट-पटांग रंग-ढंग के पश्तो स्कूल में, अपने से बहुत बड़ी कद-काठी के लड़कों के बीच, छोड़ दिया गया। दो-तीन दिन

तक वहां जाता रहा। अकेला सहमा-सहमा। गुमसुम। कोनों में छिप-छिपकर समय काटता रहा कि सोचकर दहशत होती है, शायद इसीलिए उन बच्चों में, जो अपनी तकलीफ़ कह नहीं पाते, अपना ही प्रतिरूप देखता हूं। तभी उनके प्रति अधिक संवेदनशील हूं। बच्चों के लिए कहानियां लिखी हैं। बच्चों पर कहानियां, लेख लिखे हैं।

चेहरे की उड़ी-उड़ी रंगत मां-बाप से छिपी नहीं रही। उस स्कूल से निकाल लिया। फिर इंगलिश मिश्नरी स्कूल में दाख़िला हुआ। वहां का माहौल बहुत ही अनुकूल था। और तरह-तरह के अनुभव प्राप्त हुए।

क़िला शेखूपुरा (पंजाब) में सनातन धर्म स्कूल में पढ़ रहा था। जीजा जी फौज में थे। कोइरा बलूचिस्तान से जब-जब आते, हम बच्चों के लिए खाने-पीने, खेलने के कई तरह के सामान ज़रूर लाते। उनमें बाल साहित्य भी होता। मैं तो बाक़ी चीज़ों को दरकिनार कर, किताबों पर ही झपटता। लाहौर से निकलने वाले उर्दू इतवारी अख़बार 'फूल' का सालाना मेम्बर बन गया। (बच्चों के इस रिसाले को ज़िल्द आज भी मेरे पास महफ़ूज़ रखी हुई है।)

पाकिस्तान बनने के बाद दर-दर की ठोकरें खाते हुए, जब फिरोज़पुर पहुंचे तो बाक़ी बातों को भूलते हुए, बाज़ार से उर्दू की किताबें ख़रीद लाया। बरेली (उत्तर प्रदेश) में आकर इलाहाबाद से निकलने वाली बाल पत्रिका 'शिशु' का ग्राहक बना। उससे जो रस प्राप्त होता वह वर्णनातीत है। उसमें मेरी कविताएं छपीं। बरेली कॉलेज लाइब्रेरी से मैंने, अपने आप उन विदेशी लेखकों को ढूंढ निकाला जिनके बारे में कभी सुना तक न था। 'सेन्टेन्स टु डैथ' (विक्टर ह्यूगो) 'ए लैटर फ्रॉम एन अननॉन लेडी' (स्टीफ़न ज्विग) तथा अंग्रेज़ी कोर्स में पढ़ाने जाने वाली कहानियां तथा लेखों ने मेरे जीवन पर अमिट प्रभाव छोड़ा। एक अख़बार में एन्टन चेखव की 'जाल' कहानी क्या पढ़ी, कई दिनों तक दीवानगी की हद तक नशे में डूबा रहा। नई सड़क दिल्ली जाकर 'चेखव' की खोज ख़बर ली। 'वार्ड नम्बर सिक्स' मिली, जो मेरा हर साल का 'पाठ' बनी। आज अलग रैक में चेखव साहित्य और मास्को से प्राप्त चेखव का चित्र भी सजा हुआ है। मैं अपने को चेखव का ऋणी मानता हूं। उन पर लेख लिखे। एक लेख का राजस्थानी में अनुवाद भी हुआ। मेरी कुछ रचनाएं मास्को पुस्तकालय में रखी हुई हैं।

जब नौजवानी की उम्र में (बेरोज़गारी के आलम में) था. ..ज़ेब में बहुत ही कम पैसे हैं। या तो किसी ढाबे से रोटी खाई जा सकती है या फिर किताब ख़रीदी जा सकती है। मैंने किताब ही ख़रीदी। रूसी, फ्रन्सीसी, जर्मन, चीनी आदि विदेशी लेखकों ने ही मुझे जैसे अपना बना लिया। पढ़ना, तरंगित होना, एप्रीशिएट करना ही लिखने की ओर शायद प्रवृत्त करता है। उत्कृष्ट रचनाएं मानस पर रिफ्लैक्ट होती रहती हैं।

समय-समय पर कुछ न कुछ ऐसे ही लिखता रहा, बिना यह सोचे कि कभी कुछ छपवाना भी है। प्रत्यक्ष रूप से कभी किसी का मार्गदर्शन प्राप्त नहीं हुआ। लेखक मेरे लिए आकाशीय देवदूत की तरह थे- बहुत ऊंचे चरित्र के धनी। न जाने क्यों आज दंभी, ग़ैर ज़िम्मेदाराना क्रिया-कलाप वालों को वास्तविक अर्थ में 'लेखक' मानने को मन नहीं करता, जो साहित्य लिखने के नाम पर सिर्फ़ अपने को चमका-दमका रहे होते हैं। कुछ तो अपनी और मंडली की निगाह में विशिष्ट लेखन कर रहे हैं, मगर शिष्ट नहीं हैं वे।

बड़ी यानी तीस पर्ष की उम्र में 1965 में बीकानेर आया। 1967 में बड़ों, बच्चों की कहानियां छपने के लिए भेजने लगा। जब छपीं, तब कहीं जाकर मुझे अपने आसपास कुछ लेखक नज़र आने लगे। यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र', प्रो. रामदेव आचार्य, प्रो. बिशन सिन्हा, अशोक आत्रेय, अजय... आज बहुत से नौजवान लेखकों से घिरा रहता हूं, पुलकित होता रहता हूं। भालचंद तिवाड़ी, नीरज, नवनीत, अरवि... ओझा, बुलाक़ी शर्मा, रतन श्रीवास्तव, अनिरूद्ध, प्रमोद, पूर्णिमा, सुशीला, ममता, वत्सला पांडेय आदि सभी मेरे लेखन में ताज़गी का संचार करते हैं। हालांकि अब कुछ दूसरे शहरों में जा बसे हैं।

अजीब सी बात है- जब बहुत छोटा था तब बड़ी उम्र के लोग मेरे दोस्त हुआ करते थे। वे मुझे सभा- सोसायटियों में बुलाकर मुझसे विचार-विमर्श किया करते थे। अब बड़ी आयु होने पर, अधिकतर युवा ही मेरे दोस्त साथी हैं। ठहाकों से बैठकें गूंजती हैं। क्रम चला तो कुछ संगोष्ठियों में भी शरीक हुआ। बाहर के भी कई लेखकों से जुड़ा। सर्वश्री से.रा. यात्री, महीप सिंह, राजेन्द्र यादव, विष्णु प्रभाकर, लवलीन, डॉ. नरेन्द्र मोहन, हरीश भादाणी, दुर्गा प्रसाद अग्रवाल आदि से भरपूर प्यार मिला है। मेरे परम पूज्य गुरु डॉ. रामेश्वर दयाल अग्रवाल और हमराज़ दोस्त सांवर दइया तो अब दिवंगत हो चुके हैं। जिन्होंने मुझे आत्मिक शक्ति प्रदान की।

कृति-विमर्श

'दो कदम चलूं कि मंज़िल आ जाए' मेरे ख़्याल से साहित्य की राह ऐसी हमवार नहीं हुआ करती। यह दीगर बात है कि हमारे कुछ साथी ऐसी ख़ुशफ़हमी पाले फिरते हैं। मगर मैं ऐसी राह का हक़दार क्योंकर होता? तलबगार भी नहीं बना। कुछ संकोच, कुछ उदासीनता, कुछ अर्थाभाव। 'नई कहानियां' के माध्यम से थोड़ा चर्चा में आया था। एडीटर प्रेमचन्द जी के बेटे अमृतराय जी तथा किन्हीं दूसरों के बार-बार बुलाने पर भी घर से नहीं निकला। अपना प्रवक्ता खुद नहीं बना। किसी मित्र मंडली, वाद या मंच का सहारा लेना, उछल-कूद मचाना, हेय कर्म-सा लगता रहा। हां, आत्म-विश्वास की कमी भी आड़े आती रही। बस एक ही काम। कहानियां लिखता रहा। कहानियां छपती रहीं। कहानियां लौटती रहीं, फिर दूसरी जगहों पर स्थान पाती रहीं। आज तीन-सौ कहानियों के अतिरिक्त कई लेख, संस्मरण, नाटक, लघु कथाएं, उपन्यास छप चुकने पर भी हर कहानी, बिलकुल नौसिखिये की तरह शुरू करता हूं। कुछ कहानियों को एक-दो बार में भेजने लायक पाता हूं। कइयों में ख़ूब-ख़ूब उलझता हूं। कुछ को तो बारह दफ़ा भी लिखा है। तथ्यों की पुष्टि हेतु डॉक्टरों, मिस्त्रियों, वकीलों वग़ैरह से मिल लेता हूं। मेरे हिसाब से दुनिया को अजूबा समझकर लिखने से ही कृति में ताज़गी आती है। दंभ, रचनाशीलता की हत्या करता है। इन सब बातों या सोच से कहानी उत्कृष्ट ही बनेगी, ऐसा मुग़ालता भी नहीं पालता। ऊंची हस्तियों की नज़र में चढ़ने के लिए नहीं लिखता। साधारण पाठकों के पत्रों या दूर-दराज के इलाक़ों या गांवों में पहुंचकर ज़रूर पता चलता रहता है कि पढ़ा जा रहा हूं, सराहा भी जाता हूं, बौद्धिकता के अतिरेक में उतरते चले जाना, डुबकियां लगाना, भाव शून्य लेखन का शऊर मुझे नहीं आता या जानबूझ कर पात्रों को पीड़ित कर पाठक के मन में दया उपजाने का फ़ैशन मुझ से नहीं होता। जीवन में मुझे अच्छे लोग मिले हैं। शायद आस्था जागृत करते हैं।

दूसरी ओर सब कुछ देखते-सुनते हुए भी एक बार विश्वास नहीं होता कि सत्ता तो सत्ता, साधारण स्वार्थों के लिए एक आदमी, दूसरे आदमी की, कैसे-कैसे हथकंडे अपनाकर हत्या तक करवा देता है। पूरे राष्ट्र का इतना पैसा अपने घर भर लेता है कि शायद मरने पर साथ ले जाएगा। ऐसे अनेकानेक दमन-चक्र मनुष्यता को रौंदने वाली लोमहर्षक घटनाएं कई-कई दिनों तक मन-मस्तिष्क में खलबली मचाए रहती हैं। फिर सोचता हूं यह भावुकता, आक्रोश, बैचेनी, व्याकुलता, शिक़ायतें न हों तो कोई क्या लिखेगा। किसी संवेदनशील व्यक्ति में, जो टूट-फूट निरन्तर मानसिक स्तरों पर समष्टिगत तथा व्यक्तिगत रूप से होती रहती है, उस टूट-फूट की क्षतिपूर्ति करने के प्रयास, रचना प्रक्रिया के अंग बनते हैं।

अपनी ओर देखता हूं तो पाता हूं कि मुझे शुरू से किसी बड़ी चीज़ की चाह नहीं रही। साधारण परिवार। साधारण ढंग से रहना। जो कुछ मुझे चाहिए, वह तो बिलकुल मुफ़्त में या बहुत थोड़ी क़ीमत चुकाकर मुझे प्राप्त होता रहता है। उगता डूबता, सूरज, चांद-सितारे, धरती-आकाश, बारिश, हवाएं। उसके साथ झूमती-नाचती पेड़ों की डालियां। चहकती, फुदकती गिलहरियां। तितलियां, चिड़ियां। पद्मनी, गोपी-किशन, वैजयन्ती माला, वहीदा रहमान के नृत्य। लता, नूरजहां, शमशाद बेगम, सुरैया, ख़ुर्शीद ताहिरा, सीमा सहगल, बेगम अख्तर, के.एल. सहगल, हेमन्त, मन्नाडे, रफ़ी बहुत से हैं, जिनका गायन मुझे आसमां तक की सैर करा आता है। मेरी ढेर-सारी किताबें, मेरे फूलों और परिवार की बगिया, सारे मुहल्ले के बच्चे, चााहने वाले दोस्तों की बड़ी जमात। यह सब जीवन के उज्ज्वल पक्ष मुझे नख-शिख तक तरंगित करते हैं। बचपन से, वर्तमान क्षण को भरपूर जीने का अभ्यस्त हूं। पीछे मुड़कर अतीत का रस लेने भी पहुंच जाता हूं। (पुरस्कृत कहानी- 'ऊंचाइयां') अपने बचपन पर लिखी अन्य कहानियों का ज़िक्र पहले कर चुका हूं।

मेरी टांगे मुझे सड़कों, पहाड़ियों, रेत पर उछल-उछल कर कूदने-दौड़ने को उकसाती हैं। सपनों में भी आकाश में तैरता फिरता हूं। मेरी अधिकतर कहानियां सपनों पर आधारित हैं। यही हर पल की मेरी कल्पना, कटु यथार्थ, आक्रोश, शिक़ायत, शिकस्त, प्यार, मेरे लेखन के अंग हैं। जब मैं टेबल पर बैठा नहीं लिख रहा होता तो भी शायद दिल-दिमाग़ में कहीं कुछ न कुछ लिख ही रहा होता हूं। यह सब मुझे बरबस हासिल है...

फिर मैं दुखी क्यों रहता हूं? दूसरों की ही तकलीफ़ में अपने को मुबतला पाता हूं। अनजाने लोगों की मृत्यु, यातनाओं पर आंसू बहाता हूं। डोली पर चढ़ती लड़की को देख, वहां से भाग खड़ा होता हूं। क्रांतिकारियों के जीवन-संघर्ष और उत्सर्ग पढ़कर, सुख-दुख के गीत सुनकर, नाटक देखकर अपनी आंखों को क्यों नहीं सँभाल पाता? मेरे जिस्म को काटो तो लहू से ज्यादा आंसू ही निकलेंगे। किसी ने आप बीती सुनाई और,

वह भूल गया। उस कचोट को मैं झेलता रहा। कालान्तर में 'पहले दर्जे का आदमी', 'चलती फिरती प्रतिमा', काले कदम', झंझावात', 'बर्तज़ ज़माना' जैसी कहानियां लिखी गईं।

हो सकता है, मेरे लिखते चले जाने के यह सब कारक हों। वरना कम से कम, मेरे जैसे व्यक्ति के लिए, विपरीत स्थितियों में लिखने का भला क्या कारण हो सकता है।

अंग्रेजी कोर्स तथा बहुत सारे विदेशी कहानीकारों की बहुत-सी कहानियां ज़बान पर हैं। शायद इन्होंने ही मुझे कुछ बेहतर लेखन की समझ बख़्शी।

अतीत बनाम वर्तमान। व्यक्तिवाद बनाम समष्टिवाद, नीतिशास्त्र, मनोविज्ञान, शिक्षा प्रणाली तथा विभाजन मेरे विषय हैं। बहुत-सारे लोग सरे-राह मार्के की बात कह जाते हैं। सपनों में तरह-तरह की दृश्यावलियां, झलकती हैं। वहां पर बहुत सारे पात्र आते हैं। अपना नाम तक बता जाते हैं। उनका क़र्ज़ उतारने के लिए भी लिखता हूं। फिर सोचता हूं, दूसरे लोग भी मेरे सुख-दुख, चिंताओं, समस्याओं के सहयात्री बनें; लिहाजा छपने के लिए भेज देता हूं। चाहता हूं कि इस समय के भी अच्छे लोगों से पाठक परिचित हों, जो नैतिक, शाश्वत मूल्यों के लिए संघर्षशील हैं। फिर लगता है; मैं लिखता हूं, एक सनक के तहत। हर रोज़, हर वर्ग द्वारा हो रही चालाकियां, बेईमानियां, मासूमियत- भरी नौटंकियां मुझे उकसाती हैं। मैं लिखने बैठ जाता हूं। अपनी मुक्ति हेतु।

प्रख्यात कलाविद् कवयित्री मालती शर्मा (पुणे) भी ख़ूब हैं। उन्होंने मेरे उपन्यास 'सफ़ेद पंखों की उड़ान' में पाकिस्तान से खदेड़े जाने का छोटा-सा प्रसंग पढ़कर लिखा, 'भाई बहुत मार्मिक, हृदयविदारक, कारूणिक कथ्य है।' मैं उत्तर देता हूं- यह तो कुछ भी नहीं। देश-विभाजन पर एक उपन्यास बहुत पहले से शुरू कर रखा है। मगर पूरा करने की हिम्मत नहीं होती। बहुत त्रासद, पीड़ा पैदा करने की स्थितियां हैं। अपना और पाठकों का मन दुखाने वाली। प्रत्युत्तर "कुछ भी हो यह बहुत ज़रूरी है। पूरा करो। लिखो। लिखो।" दे तकाज़े पर तकाज़ा, बताओ क्या प्रगति हुई। पत्रों की लम्बी क़तार।

वर्षों पहले लिखना शुरू किये गये उपन्यास का काम बार-बार रूकता रहा। मैं अपने आपको टटोलता रहा। अपनी नालायक़ीयत को कोसता रहा। एक ही चीज़ में इतना समय. ..और, और अध्ययन करता रहा। अतीत की ओर लौटता रहा। अपनी पुरानी छूटी हुई धरती पर दुबारा पैर रख पाने की यंत्रणा से छपपटाता रहा। जब-जब देखा उपन्यास में अपेक्षित गहराई नहीं आ पा रही, इसे स्थगित करता रहा। बीच में और कितना काम कर लिया तब कहीं जाकर वह उपन्यास 'टूटी हुई ज़मीन' उप शीर्षक 'बेदख़ल', 'बसेरा', 'ढलान' तैयार होकर 1996 के वर्ष के अन्तिम महीनों में प्रकाशित हो पाया। शायद मालती जी ने ही लिखवा लिया। इतना सब लिख लेने के बाद आख़िर में एक बार शुरूआती बात, कि ठीक अपने लेखन-कर्म के विषय में सिलसिलेवार ब्यौरे दे पाना बहुत उलझा हुआ मामला है। अपनी शक्ल को हम ख़ुद नहीं देख पाते, उसके लिए आईने की ज़रूरत होती है। पाठक ही मेरा आईना हो सकता है। अपने लेखन को लेकर कोई भ्रम नहीं पालता और न ही किसी क़िस्म का दावा ही कर सकता हूं। मेरी फ़ितरत में दंभ जैसी कोई चीज़ नहीं है। इसके बावजूद लम्बे अर्से से लिखता चला आ रहा हूं। छपता चला जा रहा हूं। दूर-दराज से पत्र प्राप्त होते रहते हैं, कहानियां मांगी जाती हैं तो इस तरह से मैं लेखक कहलाता हूं। परन्तु जब-जब जिस गहराई से, जिस अन्दाज़ से, जिस फुर्ती से लिखना चाहता हूं उसे पूरी शिद्दत के साथ नहीं लिख पाता- वैसा न लिख पाना ही, मुझे लेखक होने से वंचित करता है। इसलिए मेरा लेखन, मेरे लेखक होने का प्रयास-भर है। बस मैं अपने को लेखकों जैसी प्रवृति वाला मनुष्य पाता हूं। अपने को लेखक नहीं मानता हूं। जहां एन्टन चेखव हों, टालस्टॉय, तुर्गनेव, स्टीफन ज्विंग हों, मन्टो हों, वहां मेरी क्या औक़ात।

हाय! फिर भी एक तमन्ना! मेरी रचनाओं में संगीत का-सा असर हो। शब्द क़ाग़ज की धड़कन बन उठें। पाठक-मन स्पन्दित हो, वे उन रचनाओं में नयी सोच, अपने सुख-दुख, संघर्षों, आशाओं, उमंगों की तस्वीर देखें। फ़िलहाल इतना ही।

5-ई-9 संवाद, डुप्लैक्स कॉलोनी, बीकानेर-334003

डॉ. नरेन्द्र मोहन

इतिहास और स्मृति साथ-साथ

हरदर्शन सहगल एक लम्बे अरसे से उपन्यास, कहानियां और बालसाहित्य लिखते रहे हैं। 'टूटी हुई ज़मीन' उनका दूसरा उपन्यास है। अपने आसपास की ज़िन्दगी को कथा में ढालने की प्रवृत्ति उनमें शुरू से रही है। कथाविहीन कथानकों की जब हिन्दी कथा साहित्य में बाढ़ आ गई थी तब भी वे घटनाओं और प्रसंगों से भरपूर कथानकों को उठाते रहे थे। इस उपन्यास में भी वे घटनाओं और प्रसंगों के बल पर कथा- स्थितियों और चरित्र के बीच अच्छा तालमेल बैठा सके हैं।

'टूटी हुई ज़मीन' विभाजन की थीम पर लिखा हुआ उपन्यास है। यह थीम हिन्दी के लिए और भारतीय कथा-साहित्य के लिए नई नहीं है। हिन्दी में यशपाल का उपन्यास 'झूठा-सच' और भीष्म साहनी का उपन्यास 'तमस' ख़ासे चर्चित रहे हैं। उर्दू में इन्तज़ार हुसैन का उपन्यास 'बस्ती' और कुदरतुल्ला शहाब का उपन्यास 'उदास नस्लें' विभाजन के इतिहास के सांस्कृतिक और साहित्यिक आलेख हैं। हिन्दी, उर्दू, पंजाबी, सिन्धी, मराठी, बंगला, गुजराती, असमिया और डोगरी आदि भाषाओं में इस थीम पर उच्चकोटि की कहानियां लिखी गई हैं। इनसे भारतीय कहानी में प्रस्थान बिन्दु उपस्थित हुए हैं और स्वातन्त्र्योत्तर कहानियों का मिजाज़ और मुहावरा भी बदला है। मण्टो की तो बात ही अलग है। 'टोबा टेकसिंह', 'खोल दो', 'ठंडा गोश्त', 'नंगी आवाज़ें' आदि कहानियों में वे विभाजन की घटना का महज़ बयान नहीं करते, उससे दिल-दिमाग़ में और जिस्म में जो कमी आ गई, उसका एहसास कराते हैं। विभाजन उनकी रूह में कील-सा ठुका हुआ है। प्रस्तुत उपन्यास को विभाजन-सम्बन्धी इस साहित्य से विछिन्न करके नहीं समझा जा सकता।

प्रश्न हो सकता है कि विभाजन सम्बन्धी उपन्यासों और कहानियों के होते हुए भी हरदर्शन सहगल ने इस विषय पर उपन्यास क्यों लिखा? हमें लगता है कि लेखक इतिहास में गुंथी विभाजन की त्रासद स्थितियों से घिरा रहा है और इस घिराव से मुक्त होने के लिए उसने औपन्यासिक फ़लक को ग्रहण किया है। कुन्दी (कुन्दन) के चरित्र को उसने पूरे पारिवारिक परिवेश के साथ गढ़ा है। कुन्दी की मानसिकता में विभाजन कुंडली मारे बैठा हुआ है, जिससे वह निज़ात पाने का प्रयास करता है पर विफल रहता है। लगता है कुन्दी में लेखकीय मानसिकता का एक बड़ा हिस्सा प्रतिबिम्बित हुआ है।

इस उपन्यास में विभाजन को कुन्दी की बाल मानसिकता के रूप में देखा गया है। यह एक नया परिप्रेक्ष्य है जो इस उपन्यास को विभाजन पर अभी तक लिखे गए साहित्य से, आंशिक तौर पर ही सही, अलगाता है। बाल-मन पर पड़े हुए दबावों और तनावों का निरूपण विभाजन-जैसी बड़ी घटना पर कैसे एक टिप्पणी का रूप ले सकता है और घटना के ज़रिये बाल मन पर कैसे-कैसे अक्स बनते मिटते हैं, यह एक अलग बिन्दु है, जिस पर इस उपन्यास के बहाने एक विमर्श उभर सकता है।

उपन्यास में बाल-मन की प्रवृत्ति का निरूपण किसी अलग, अनोखे और निराले रूप में नहीं हुआ है बल्कि एक मध्यवर्गीय परिवार की इच्छाओं, आकांक्षाओं और मनोविकारों की अभिव्यक्ति के साथ हुआ है। घटना, बाल-मन और परिवार यहां अलग-अलग नहीं, साथ-साथ हैं। कुन्दी के चरित्र के आधार पर इसका ग्राफ बनाया जा सकता है। सरहद के इस पार आने पर रिफ्यूज़ी कैम्प में जब वह क़िला शेखूपुरा का नाम सुनता है तो उसे महसूस होता है जैसे इस एक शब्द ने 'उसे सिर से पांव तक हिलाकर रख दिया, स्टेशन उसके अन्दर एक छोटी-सी गेंद की तरह समा गया'। ध्यान देने की बात है कि विभाजन के दौर के दंगे उसकी मानसिकता में दुबके हुए हैं। रात के अंधेरे में ज़रा-सा शोर सुनते ही उसे लगता है जैसे कहीं दंगा हो गया हो। वह चारपाई से कूद पड़ता है, अनाप-शनाप तरीक़े से कुर्सियों और पलंगों के पीछे छिपने लगता है और दहशतज़दा-सा, बेदी साहब को जकड़ लेता है। दंगों से पैदा हुई आतंकप्रद मनःस्थिति में वह ऊंटपटांग, दहशतनाक़, सपनों में घिर जाता है।

यह सही है कि विभाजन-पूर्व परिस्थितियों में कुन्दी के बड़े भाई मनोज और मां की सक्रिय भूमिकाएं हैं, पर यहां भी कुन्दी अपनी सोच, व्यवहार और हरक़तों की वजह से

ध्यान खींचता है। हज़ारो, लाखों लोगों के नरसंहार, आगजनी और बलात्कार की अनगिनत घटनाओं के साथ दोनों तरफ़ के लोगों के अनिश्चित भविष्य के लिए सरहदों के आर-पार चले जाने (इस अहसास के साथ कि 'नरक में डाल दिया दो गवर्नमेण्टों ने मिलकर') तथा विस्थापन के अन्य जलते-सुलगते सन्दर्भों को इस भाग में बड़ी बेबाक़ी से चित्रित किया गया है। इस चित्रण के साथ कुन्दी और उसके परिवारजनों की उधेड़बुनें उनकी आशंकाएं, उनके संशय और सन्देह यानी सम्बन्धों का एक अज़ीबोग़रीब ताना-बाना उभरने लगता है। बेघर और बेदख़ल होने का एहसास उन्हें कचोटने लगता है। बच्चों के रास्ता भूल जाने के प्रसंग को लेखक ने उपन्यास के भीतरी कथा-मन्तव्य से सम्बद्ध कर दिया है- 'मगर घर पहुंचे कैसे? घर ग़ायब हो गया था। जिस दिशा में आगे बढ़ते, जिस बाज़ार को जल्दी से लांघते, जिस गली में जाते वहां घर ही घर थे, लेकिन अपना घर कहां था। अपना घर खो गया था।' एक अन्य स्थल पर भी बेघर हो जाने की तल्ख़ हक़ीक़त की व्यंजना इस प्रकार की गई है : 'घर का न होना कितना यातनापूर्ण और आदमी को तोड़कर रख देने वाला होता है।'

इस उपन्यास का कथा-विन्यास बड़ी सादगी से बुना गया है- मुख्य घटनाओं के अनुक्रम का ध्यान रखते हुए। इस अनुक्रम में जहां कहीं थोड़ा-बहुत उलट-फेर हुआ है, वहां लेखक की कथा-कौशल क्षमता उभरी है। जमना का अपने परिवार के साथ इधर आ जाना लेकिन उसके पति और बेटी अलका के पति का कोई अता-पता न चलना, लुधियाना में कुन्दी का अकस्मात् लक्ष्मन हलवाई से मिलना और उपन्यास के अन्तिम अंश में कुन्दी का लक्ष्मन हलवाई से नई परिस्थितियों में दोबारा भेंट होना, लाला काशीनाथ और उनकी लड़की तथा केदारनाथ और उसकी लड़की सत्या के प्रसंग, कुन्दी को अपनी बड़ी बहन अलका की सहेली बिमला की याद आना और उसका आकाशी में बिमला के प्रतिबिम्ब को ढूंढ़ना आदि घटनाएं और प्रसंग, लेखक के कथा-कौशल को दर्शाते हैं।

किसी भी उपन्यास में यह महत्वपूर्ण होता है कि कथा-स्थिति, सामाजिक स्थिति और चरित्रों के बीच क्या रिश्ता बना है? उपन्यास में ऐसे कई प्रसंग हैं जहां इन तीनों का रिश्ता गहरा और सघन है जैसे, 'पाकिस्तानी' कहे जाने पर कुन्दी का कचोट महसूस करना और स्कूल का टुच्चा माहौल एक-दूसरे में बिंधे हुए हैं। इस दृष्टि से उपन्यास का तीसरा और अन्तिम भाग 'ढलान' भी देखा जा सकता है जो कुन्दी की स्मृतियों से जुड़ा हुआ है। उसकी आकांक्षा है कि वह अपने बच्चों को वे सभी शहर दिखाए जहां उसका बचपन बीता। छिपा भाव यह है कि उसके बच्चे यानी अगली पीढ़ी के सदस्य उस त्रासदी से परिचित हों जिसके साथ लाखों-करोड़ों लोगों की ज़िन्दगी जुड़ी रही और जो आज भी किसी-न-किसी रूप में हमारी जातीय और राष्ट्रीय ज़िन्दगी में दबोचे हुए है। कुन्दी अपने परिवार के साथ हवाई जहाज़ में जब लाहौर के करीब पहुंचता है तो एक ज़बर्दस्त विस्फोट होता है। एक बार तो लगता है कि इस विस्फोट से सभी मर गए पर दूसरे ही पल लगता है कि विस्फोट से बस ज़मीन ही टूटी है और एक बड़ी खाई बन गई है। इस अन्त के ज़रिये लेखक ने स्वप्न और दुःस्वप्न में जकड़ी कुन्दी की विरोधी मनःस्थिति का ही नहीं, हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के सम्बन्धों में व्याप्त खाई का और वास्तविक राजनीतिक स्थिति का बोध कराया है- स्मृतियों से बनी भावनात्मक, धुंधली और विमूढ़ स्थिति को सीधी-सी दो टूक राजनीतिक स्थिति के बरक्स खड़ा कर दिया है।

'टूटी हुई ज़मीन' में लेखक ने विभाजन की त्रासदी के परिणामों को झेलती हुई पीढ़ी का चित्रण करते हुए उस पीढ़ी को धुरी बनाया है जिसकी मानसिकता में उस त्रासदी की याद एक तीर-सी चुभी रही, जिसके मनोविज्ञान में यह बात बराबर रही कि उसका वजूद उन जगहों से उन जड़ों से जुड़ा हुआ है जहां वह जा नहीं सकता। इस पीढ़ी का संवेदनात्मक सच जब राजनीतिक यथार्थ के सामने आ खड़ा होता है तो अस्तित्व और पहचान के प्रश्न उसे नये सिरे से परेशान करने लगते हैं। नई पीढ़ी के लिए इतिहास और स्मृति का यह खेल जिसकी जड़ें विभाजन में हैं, साधारण नहीं है, नई चुनौतियों से भरा है।

डी-239, एम.आई.जी. फ्लैट्स,
राजौरी गार्डन, नई दिल्ली-27

डॉ. गुरचरण सिंह

ज़मीन टूटी है और दिलों में खाई बनी है

विभाजन के समय हरदर्शन सहगल बारह वर्ष के थे। विभाजन की त्रासदी, पीड़ा, नरसंहार, लूट-खसोट का उनके बाल-मन पर गहरा प्रभाव पड़ा। विभाजन के बाद की तीसरी पीढ़ी को इस त्रासदी का अनुमान नहीं है तथा न ही उससे कोई सरोकार। पर इस तरह की त्रासदियां यह सोचने-विचारने पर अवश्य विवश करती हैं कि उन्हें घटित होने से कैसे रोका जाए। विभाजन के बाद भी स्वतंत्र भारत में साम्प्रदायिक दंगे समय-समय पर होते रहे हैं और वे विभाजन की विभीषिका की याद दिलाते रहे हैं।

हरदर्शन सहगल के बाल-मन पर इस विभीषिका का जो प्रभाव पड़ा है वह सहज, निश्छल, बेबाक तथा निष्पक्ष है, क्योंकि बाल-मन राजनीति से प्रेरित नहीं होता और न ही उसमें स्वार्थ-भाव या धर्मांधता होती है। इस उपन्यास की रचना लेखक ने अपने जीवन के छठे दशक के अन्तिम वर्षों में की है। इसलिए यह कहना भी उचित नहीं है कि लेखक ने उपन्यास में सिर्फ़ उसी का चित्रण किया है जो उसके बालमन में अंकित था। लेखक के अनुभवों, ज्ञान, विचार, सोच आदि में व्यापकता आई है। इस रचना से पूर्व वह बहुत कुछ लिख चुका है तथा राजनीति, व्यवस्था, सत्ता, सामाजिकता आदि से प्रभावित भी रहा है।

यह भी ऐतिहासिक सत्य है कि पाकिस्तान से उजड़-उखड़, अपना सब कुछ खोकर जो लोग भारत आए थे उन्होंने अत्यधिक श्रम, लगन तथा जीवनेच्छा के बल पर जल्दी ही खुद को पैरों पर खड़ा कर लिया। अपनी ज़मीन से कटने की पीड़ा बहुत गहरी होती है। शरणार्थी उस पीड़ा को सुख-समृद्धि प्राप्त कर लेने के बाद भी भूल नहीं पाए। लेखक ने विषाद-पूर्ण विपदाओं तथा दारुण स्थितियों का यथार्थ चित्रण किया है। इन्हीं स्थितियों के बीच से गुज़रता हुआ मनुष्य खुद को सँभालने तथा उठने का प्रयास करता है। जीवन के सत्य को स्वीकार करते हुए वह अपनी भावी पीढ़ी को सभी सुख-सुविधाएं देना चाहता है और उसके लिए भरसक प्रयास भी करता है। व्यक्ति की इन्हीं स्थितियों को केंद्र में रखकर लेखक ने 'टूटी हुई ज़मीन' उपन्यास के ताने-बाने को बुना है।

उपन्यास का प्रारम्भ सितम्बर 1947 के आख़िरी दिनों से होता है जब परिवार का एक हिस्सा अपने सगे-संबंधियों से बिछुड़कर पंजाब (भारत) की भूमि पर पहुंचता है। उनके समक्ष अनिश्चित भविष्य है, पर इस बात की तसल्ली है कि वे जीवित भारत पहुंच गए हैं। मनोज अपने पिता, बहन जीजा तथा अन्य सगे-सम्बन्धियों से बिछुड़ गया है। यह भी अनिश्चित है कि उनसे कभी भेंट हो पाएगी या नहीं।

लेखक कुंदन के माध्यम से उपन्यास की कथा को कहना चाहता है, पर इसका निर्वाह वह पूरी तरह से नहीं कर पाया है। कुंदन उसी आयु का है जो विभाजन के समय लेखक की थी। इसलिए कुंदन में लेखक की छवि को भी देखा जा सकता है। कुंदन छठी कक्षा में आ गया है और वह हर साल की तरह गांव जाना चाहता है। पर वह अगस्त 1947 से कई माह पूर्व ही असहज हो रहे वातावरण को महसूस करने लगा है। उसकी मां उसे मुस्लिम परिवारों के साथ घुलने-मिलने से मना करने लगी है। पर वह अपने मित्र मंज़ूर के बिना नहीं रह सकता। इतने सालों तक वह उसी के साथ खेलता तथा लिखता-पढ़ता रहा है। फिर फ़साद की ख़बरें रेडियो तथा समाचार पत्रों में आने लगी थीं। इससे भय तथा दहशत का भाव लोगों के मन में घर करने लगा था। कुंदन को विश्वास था कि देश-विभाजन नहीं होगा और यह धरती सलामत की सलामत रहेगी।

कुंदन पढ़ाई में अच्छा है। स्थितियों को गहराई से समझने की जिज्ञासा तथा ललक उसमें नज़र आती है। परिवेश तथा संबंधों में आ रहे बदलाव का वह तार्किक कारण जानना चाहता है। मैत्री भाव से रह रहे हिंदुओं तथा मुसलमानों में कैसे वैमनस्य का भाव पैदा हो सकता है यह उसकी बाल बुद्धि से परे है। उसके बाल-मन में कई तरह के सवाल उठ रहे हैं- 'पाकिस्तान मांगते हैं तो एक अलग बात हुई। मगर ये हिंदुओं को मारेंगे क्यों? वे हिंदुओं को मारेंगे तो हिंदू भी मुसलमानों पर हाथ उठाएंगे। यह तो कोई बात न हुई। वह तो किसी मुसलमान को नहीं मार सकता। कितने अच्छे-अच्छे दोस्तहैं, उसके-शक़ील, मजीद, शौक़त, मंज़ूर। वे सब मुसलमान ही तो हैं।'

कुंदन देखता है कि भगवा तथा हरे कपड़े पहनकर लोग गलियों में घूमने लगे हैं। वे सभी बड़े जोश में हैं। मुहम्मद अली जिन्ना जिंदाबाद के नारे लगने लगे हैं। कुंदन दोनों

सम्प्रदायों के बीच सद्भाव चाहता है।

चौदह या पन्द्रह अगस्त का दिन था जब रेडियों पर नेहरू की तक़रीर आ रही थी। उनका भाषण समाप्त होते ही खुसर-पुसर, शोर और फिर बहस-मुबाहसा प्रारंभ हो गया था। नेहरू ने अपील की थी कि लोग आपस में झगड़े नहीं, शांति बनाए रखें। पर हिंदू समझ गए थे कि अब यहां रहना सम्भव नहीं रहा है।

मनोज के पड़ोस में रहने वाला किशोर चाहता था कि मनोज आ जाए और वे जल्दी से यहां से निकल चलें। कुंदन के पिता का तबादला हो चुका था। उनसे सम्पर्क नहीं हो पा रहा था। मनोज ने आते ही पूरे परिवार को अपना घर-बार छोड़ने का आदेश दे दिया। वे कुछ दिन अपने मुस्लिम मित्रों के साथ रेलवे क्वार्टरों में रहे। आसपास हो रहे दंगों तथा मारकाट की खबरें उन्हें मिल रही थीं 'रात की ख़ामोशी को चीरती गोलियों की आवाज़/ दूर-दूर तक दिखलाई देनेवाली आग की लपटें। उनके मन में दहशत पैदा कर रही थीं। वे उस गाड़ी की प्रतीक्षा में थे जो उन्हें सुरक्षित भारत पहुंचा दे। वे जब गाड़ी में सवार हुए थे तो ईश्वर से उनकी यही प्रार्थना थी 'कि रात-रात में यह गाड़ी सीमा पार करा दे।' इन स्थितियों में लोगों के स्वभाव में आ रहे अंतर को कुंदन समझ नहीं पा रहा था- 'अपनी चीज़ अगर परायी हो जाए तो क्या उस चीज़ को गाली देना वाज़िब है।' जान हथेली पर लिए उन्होंने भारत में प्रवेश किया। जमना, अलका, कुंदन, हरमिलाप को सुरक्षित भारत लाने में मनोज सफल रहा। पर उसे अलका के पति तथा अपने पिता की चिंता थी। वे कहां और कैसे हैं इसकी उसे ख़बर नहीं थी। पिता की अनुपस्थिति में मनोज अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह करता है। वह अपने परिवार को सकुशल भारत लाने में सफल रहता है तथा पिता की खोज में इधर-उधर भटकता है। वह आशावादी है। उसे विश्वास है कि स्थितियां फिर पहले जैसी या उससे बेहतर हो जाएंगी।

उपन्यास के प्रारंभ में कुंदन के चरित्र को लेखक जिस रूप में पाठकों के सामने रखता है उसका निर्वाह वह अधिक समय तक नहीं कर पाता। उपन्यास के प्रारंभिक पृष्ठों में वह ज्ञान-पिपासु दिखाया गया है। परिवेश में आ रहे बदलाव पर वह चिंतन करता है। पर भारत की भूमि पर पहुंचते ही वह अपने भाई हरमिलाप के साथ खेलना तथा मौज़-मस्ती करना चाहता है और नासमझी दिखाते हुए स्टेशन के बाहर चला जाता है। पूरे परिवार को गाड़ी छोड़नी पड़ती है। अनजान जगह तथा संकट की घड़ी में कुंदन को उसके परिवार ने गाड़ी से नीचे क्यों उतरने दिया, यह भी समझ में नहीं आता। बेदी परिवार के साथ रहते हुए भी कुंदन दूर घूमने चला जाता है और रास्ता भूल जाता है। बेदी जी का कोई परिचित उसे घर छोड़कर जाता है। इसी तरह शिविर में रात के समय कुंदन को मोमबत्ती लेने के लिए अकेले भेज दिया जाता है। यह परिवार के उत्तरदायित्वहीनता को ही दर्शाता है। इस तरह की ग़लती जमना तथा मनोज करेंगे, स्वाभाविक नहीं लगता।

फिरोज़पुर में कुंदन को मानसिक रूप से अस्वस्थ चित्रित किया गया है। उसे डरावने सपने आते हैं। वह सपनों में दंगों तथा आगजनी को देखता है। बुरे सपनों के बाद उसे बुख़ार आ जाता है। परिवार के अन्य सदस्य उसकी इस हालत से परेशान हैं। कुंदन संवेदनशील है। दंगों तथा मारपीट की बात रोज़ बच्चों के सामने ही होती है। कुंदन को लगता है, जैसे ये घटनाएं उसकी आंखों के सामने ही घटित हो रही हैं। पर अंबाला के शरणार्थी-परिवार-शिविर में आते ही लेखक कुंदन की इस मानसिक स्थिति को भूल जाता है। कुंदन की मनःस्थिति का चित्रण करने के लिए लेखक ने फेंटेसी का सहारा लिया है। फेंटेसी का प्रयोग उपन्यास में केवल एक स्थान पर ही हुआ है। यहां भाषा का काव्यात्मक रूप कुंदन की मनःस्थिति को उभारने में सहायक हुआ है। लेखक कुंदन के चरित्र का समुचित विकास नहीं कर पाया है। शेख़ूपुरा में उसके स्वभाव की जिन विशेषताओं को लेखक ने गिनाया था, उनका क्रमिक विकास होना चाहिए था। यदि लेखक ऐसा करता तो कुंदन एक सशक्त जीवंत कालजयी चरित्र के रूप में उभर सकता था। उसे कभी स्थितियों के प्रति गंभीर तो कभी पूरी तरह से कैज़ुअल चित्रित किया गया है।

निराशा, हाताशा तथा अनिश्चित भविष्य मनुष्य की सोच तथा मनःस्थिति को कितना गहरा प्रभावित करता है तथा व्यक्ति के स्वभाव, व्यवहार को किस तरह से बदल देता है इसका मनोवैज्ञानिक चित्रण इस उपन्यास में नहीं हो पाया है। ऐसी विकट स्थितियों में व्यक्ति में कितनी कुंठाएं, हीन भावनाएं पैदा होती हैं तथा जीने के लिए व्यक्ति किस तरह से संघर्ष करता है, विपरीत परिस्थितियों से जूझता है, इसका जितना हृदय-विदारक, मार्मिक तथा

मनोवैज्ञानिक चित्रण हो सकता था, वह नहीं हो पाया है। लेखक ने इन प्रसंगों को सिर्फ़ स्पर्श किया है- उनमें गहराई से उतरा नहीं है।

पाकिस्तान से आ रहे, हिंदुओं की, भारत में रह रहे हिंदू हर सम्भव सहायता करते हैं। अपनों के साथ-साथ परायों की भी उन्हें चिंता है। दुख की घड़ी में लोगों का यह व्यवहार मानवीय भाव को लिये हुए है। जगह-जगह शरणार्थियों के लिए कैंप लगाए गए हैं। इन कैंपों में लोग अपने सगे-संबंधियों को खोज रहे हैं। जब भी कोई नया शरणार्थी आता है तो लोग अपनों की सुध-बुध लेने के लिए उसके पीछे पड़ जाते हैं। यहीं मालूम चलता है कि विष्णु और रामचन्दर को मुसलमानों ने मार दिया है। उनकी पत्नियों तथा बच्चों को एक मुसलमान ने कुछ दिन अपने घर में छुपाकर रखा और फिर अवसर मिलते ही उन्हें भारत भेज दिया। यहां लेखक यह दिखलाना चाहता है कि सभी मुसलमान एक जैसे नहीं हैं। बेदी तथा मनोज के परिवार की भी, मुसलमानों ने ही सहायता की थी।

बेदी साहब भी मनोज के परिवार का स्वागत करते हैं और उनके सुख-सुविधा की व्यवस्था करते हैं। बेदी उदार हृदय का संवेदनशील व्यक्ति है। उपन्यास में उसका चित्रण कम ही हुआ है, पर वह अपने व्यक्तित्व की छाप पाठकों के हृदय पर छोड़ जाता है। बाढ़ के समय वह अपने भाई तथा उसके परिवार को सिर्फ़ आश्रय ही नहीं देता बल्कि उनकी आर्थिक सहायता भी करता है।

हरदर्शन सहगल धीरे-धीरे मनोज के परिवार के सदस्यों तथा उसके मित्रों से हमारा परिचय करवाते हैं। इससे विभाजन के समय घटित त्रासदी के विभिन्न रूप हमारे सामने उभरते हैं। जयदयाल का पुराना साथी द्वारकानाथ जब मिलता है तो उससे मालूम चलता है कि उनकी बेटी सुमित्राको उसने ग्वालियर में देखा था। वह अपने पूरे परिवार के साथ सकुशल है। मनोज के पिता जयदयाल को मुरादाबाद डिवीज़न में नौकरी मिल जाती है। उनके मित्र केदारनाथ तथा हरिचन्द्र की भी वहीं नियुक्ति हो जाती है। तीनों परिवारों को पुनः एक साथ रहने का अवसर मिल जाता है। शीघ्र ही मनोज को भी नौकरी मिल जाती है और उनके जीवन की गाड़ी सुचारू रूप से चलने लगती है।

लेखक ने उपन्यास को तीन खंड़ों में बांटा है- बेदख़ल, बसेरा, तथा ढलान। जयदयाल, मनोज आदि को नौकरी मिल जाने तक की कथा बेदख़ल खंड के अन्तर्गत है। नौकरी मिल जाने के बाद की कहानी बसेरा खंड में है। इसी खंड में मनोज के विवाह की बात भी उठती है। जयदयाल ने मनोज की, बचपन में ही सगाई कर दी थी जिसे मनोज नहीं मानता। इससे घर में तनाव की स्थिति पैदा हो जाती है। सामाजिक प्रतिष्ठा तथा दूसरे के समक्ष अपमानित होने की बात बार-बार उठती है- 'हम कैसे मुंह दिखाएंगे, पूरी बिरादरी को।' पर फिर साहस करके मनोज की इच्छा की बात रखनी पड़ती है। जयदयाल तथा जमना जिस तरह से काशीनाथ का सामना करते हैं उसका सुन्दर तथा मार्मिक चित्रण लेखक ने किया है। यहां पुराने रीति-रिवाजों पर भी चोट की गई है। वे मनोज की सोच से काशीनाथ को अवगत कराते हैं। काशीनाथ लड़की वाला है, उसकी चिंताएं जयदयाल से भिन्न हैं। पर उसकी अनुनय-विनय का जयदयाल के पास कोई समाधान नहीं है। वे काशीनाथ से ही कहते हैं कि यदि वे मनोज को मना लें तो उन्हें खुशी होगी। जयदयाल ने जिस दुखी मन तथा आत्मग्लानि को सहते हुए काशीनाथ का सामना किया है, उसका सुंदर चित्रण हुआ है।

बसेरा खंड में मोहभंग की स्थितियां भी उभरती हैं। आज़ादी के बाद लूट-खसोट तथा भ्रष्ट होते वातावरण की कामेश्वर बाबू को चिंता है। उन्हें यह आशंका है कि यदि इस पर अंकुश नहीं लगाया गया तो भ्रष्टाचार बढ़ेगा। वह देखता है कि अंग्रेजों के जाने के बाद देश की स्थिति सुध ारने के बजाय बिगड़ने लगी है। स्कूलों में पढ़ने वाले बच्चे भी इसे अनुभव करने लगे हैं- आठ आने में जहां एक पाव दूध और चार पूरियां तथा सब्ज़ी मिलती थी, अब दो रुपये में भीगे हुए चने मिलते हैं। सहगल ने लिखा है- 'आपाध ापी, रिश्वतख़ोरी जैसी स्थितियां बढ़ने लगीं हैं। बेरोज़गारी की समस्या भी पैर पसार रही है।' वह राजनीति में पनप रहे अपराधीकरण को भी देखता है- 'जिन लीडरों ने अपना सब कुछ त्यागकर आज़ादी की लड़ाई लड़ी थी, उन्हीं में से कई लीडर सत्ता में आते ही अपना पूरा रंग बदलने लगे हैं।'... 'भाई भतीजावाद का बोलबाला था, रिश्वतख़ोरी, नेताओं द्वारा डाकुओं-गुंडों को संरक्षण देना आम चीज़ हो गई थी।'

स्त्री के अधिकारों तथा उसकी सामाजिक-आर्थिक स्वतंत्रता की बात भी कुंदन के माध्यम से लेखक ने उठाई है। कुंदन

विधवा आकाशी से विवाह करना चाहता है, पर परिवार इसका विरोध करता है। शिक्षित तथा आधुनिक विचारों की बुआ केतकी, कुंदन के साथ खड़ी होती है और परिवार को इस विवाह के लिए राज़ी कर लेती है। इसके साथ ही दहेज़ की समस्या को भी लेखक ने उठाया है। आकाशी अपने पति द्वारा दहेज़ के लिए बार-बार प्रताड़ित की जाती है। आकाशी से विवाह करने के उपरान्त जब कुंदन आकाशी के चेहरे पर उदासी देखता है तो उसे चिंता होती है कि कहीं उसका निर्णय ग़लत तो नहीं। वह स्त्री को दुखी नहीं देख सकता। बुआ केतकी उसे समझाती है कि आकाशी को सम्भलने में कुछ समय लगेगा तथा उसे सलाह देती है कि वह आकाशी को कहीं घुमाने ले जाए। वह उसे शेख़ूपुरा ले जाता है।

विभाजन विषय पर 'झूठा-सच', 'तमस' तथा 'पिंजर' जैसे उपन्यासों की रचना हो चुकी है। इसके साथ ही मंटो की कहानियों में भी भयावह, वीभत्स, रोंगटे खड़े कर देने वाले यथार्थ दृश्यों, घटनाओं का चित्रण हुआ है। 'टूटी हुई ज़मीन' का अध्ययन करते हुए इन उपन्यासों के साथ इसकी तुलना स्वाभाविक है। ये उपन्यास जिस तरह से हमारे मानस तथा संवेदना का झिंझोड़ते हैं, 'टूटी हुई ज़मीन' की कथा वैसा प्रभाव नहीं डाल पाती।

विभाजन की पीड़ा तथा अत्याचारों को सबसे अधिक स्त्रियों को झेलना पड़ा था। उनकी इज़्ज़त, उनके अस्तित्व पर सीधा हमला हुआ था। अपनी इज़्ज़त बचाने के लिए हज़ारों स्त्रियों ने अपने प्राण दिये थे। इस दर्दनाक कांड का चित्रण 'टूटी हुई ज़मीन' में कहीं नहीं हुआ है। सहगल की दृष्टि से विभाजन का यह दुखद, पीड़ादायक पहलू कैसे छूट गया, समझ से बाहर है।

शरणार्थी शिविरों की दयनीय, अमानवीय तथा भ्रष्ट स्थितियों को भी लेखक नहीं उभार पाया है। जयदयाल के प्रतिरोध द्वारा इस समस्या की ओर ध्यान दिलाने की चेष्टा एक-दो स्थलों पर लेखक ने अवश्य की है। पर इन अमानवीय स्थितियों में लोग कैसे रह रहे हैं या रहने को विवश हैं, इसका प्रभावी चित्रण नहीं हो पाया है।

विष्णु और रामचन्दर को छोड़कर जयदयाल के परिवार के लगभग सभी लोग तथा उनके मित्र, संगी-साथी सभी सकुशल भारत पहुंच जाते हैं और सभी का मिलन भी हो जाता है। जबकि विभाजन की त्रासदी इसके बिल्कुल विपरीत थी। विभाजन ने लाखों लोगों की जान ली थी। लाखों लोग विस्थापित हुए थे। इन लोगों को अपने पैरों पर खड़ा होने के लिए विकट, विषम परिस्थितियों का सामना करना पड़ा था। शरणार्थियों के इस संघर्ष का भी उपन्यास में चित्रण नहीं है। उपन्यास के पात्रों को भारत में आने के कुछ दिनों बाद ही नौकरियां मिल जाती हैं और उनका जीवन सुचारू रूप से चलने लगता है। उपन्यास में ऐसे पात्रों का अभाव है जिन्होंने जी-तोड़ मेहनत की, मुसीबतों को सहा, भूखे-पेट रहे तथा लोगों की जली-कटी सुनी। अधिकांश शरणार्थियों ने ऐसा ही संघर्षपूर्ण जीवन जिया था। पर 'टूटी हुई ज़मीन' में सभी कुछ सहज ढंग से घटित होता है तथा सहज ढंग से ही सब कुछ ठीक हो जाता है।

बच्चों के स्वभाव, उनकी भाषा, व्यवहार, खेलने-कूदने के प्रति रुचि आदि के चित्रण में लेखक सफल रहा है। परिस्थितियों की विकटता तथा विकरालता को देखते हुए बड़ों का बच्चों के प्रति जो कर्तव्य तथा उत्तरदायित्व है उसका भी उपन्यास में अभाव है।

उपन्यास का प्रारंभ कुंदन से होता है तो अंत भी उसी से होता है। उपन्यास के अन्य हिस्सों में भी उसकी किसी-न-किसी रूप में उपस्थिति है। पर वह उपन्यास का न तो नायक बन पाया है और न ही केंद्रीय पात्र। वास्तव में इस उपन्यास में कोई केंद्रीय पात्र है ही नहीं। कथा के विकास के साथ पात्र आते हैं और विलीन हो जाते हैं। उपन्यास में कुछ ही पात्र ऐसे हैं जिन्हें समय-समय पर किन्हीं प्रसंगों, संदर्भों में कथाकार कुछ पलों के लिए याद करता है। उपन्यास में पात्रों की संख्या अधिक है, शायद इसी कारण कोई भी पात्र पूरी तरह उभर नहीं पाया है।

उपन्यास में कुछ प्रसंग ऐसे भी हैं जिन्हें उपन्यास से यदि हटा भी दिया जाए तो उसके विकास में कोई फ़र्क़ नहीं पड़ेगा, उदाहरणार्थ कुंदन का यूरोपीय इंस्टीट्यूट जाना, बरेली के मित्र जिनके साथ वह खेलता है। विमला का प्रसंग, बेदी साहब के भाई का प्रसंग, बच्चों का घर से भागकर बंबई जाना, गांधी की हत्या के बाद बच्चों का जेल जाना आदि ऐसे ही प्रसंग हैं।

उपन्यास का अंत प्रतीकात्मक है- ज़मीन टूटी है और दिलों में खाई बनी है। इस खाई को पाटने में कितना समय लगेगा यह कोई नहीं जानता।

6/15, अशोक नगर, नई दिल्ली110018

हेतु भारद्वाज

एक त्रासदी से गुज़रता बालमन

जब भी कोई रचनाकार अपने जीवन की वास्तविक घटनाओं से टकराने की रचनामत्क कोशिश करता है तो यह स्वाभाविक है कि वह अपने ट्रीटमेंट में भावुक हो जाता है। यह भावुकता कई बार रचना को कमज़ोर करती है और उसे सतही भी बना देती है। वरिष्ठ कथाकार हरदर्शन सहगल का नया उपन्यास 'टूटी हुई ज़मीन' भारत विभाजन की उस त्रासदी को रूपायित करता है जिसे लेखक ने स्वयं झेला है। पर मेरा यह मोह हो सकता है कि मुझे मंटो की 'टोबा टेकसिंह कहानी' इस त्रासदी को लेकर लिखी गई रचनाओं में सबसे अधिक प्रभावशाली लगती है क्योंकि इस कहानी में मंटो स्वयं कहीं नहीं है जबकि उसने भी इस त्रासदी को झेला था। मंटो, पागल के माध्यम से त्रासदी पर एक तीखी प्रतिक्रिया पाठकों के समक्ष रखते हैं जो पाठक को रुलाने के स्थान पर उद्वेलित करती और झकझोरती है। यह ज़मीन से टूटने वाले व्यक्ति की कथा है जो हिन्दुस्तान-पाकिस्तान के विभाजन के सच को स्वीकार ही नहीं कर पाता।

हरदर्शन सहगल ने भी विभाजन की पीड़ा को स्वयं भोगा है, उनके ज़ेहन में भी उस कालखंड की अनेक अमानवीय घटनाएं घूमती रही होंगी जिनसे वे इस उपन्यास में मुठभेड़ करने का प्रयास करते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि वे अपने ट्रीटमेंट में काफ़ी भावुकता उड़ेलते हैं और उन स्थितियों को चुनते हैं जो पाठक को विगलित कर सकती हैं। किन्तु हरदर्शन सहगल अपने इस उपन्यास को उन सतही स्थितियों से बचा ले जाते हैं जो भावुकता के अतिरेक के कारण अपने आप बन जाती हैं। इसका कारण यह है कि वे भारत विभाजन की त्रासदी को राजनीतिक घटाटोप के साथ प्रस्तुत नहीं करते बल्कि एक बालक के सहज और अबोध मन के चोटिल होते जाने के माध्यम से प्रस्तुत करते हैं। बालक कुंदी, जो शेखूपुरा की गलियों में अपने साथियों के साथ गोली-कंचे खेलता है तथा जिसे हिंदू और मुसलमान या कहिए भारत और पाकिस्तान का भेद नहीं मालूम, सहसा एक नई आग में झोंक दिया जाता है। हिंदू-मुसलमान तथा भारत पाककिस्तन की अवधारणा उसके बाल-मन को गहरा आघात देती है तथा उसका मन इस भेद को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हो पाता। कुंदी अपने दोस्त मंजूर को संघ में ले जाता है। कुंदी को कहा जाता है कि मंजूर मुसलमान है इसलिए उसे वह वहां न लाया करे। पर कुंदी का बाल मन सोचता है- "यह तो कोई वजह न हुई कुंदी ने सोचा। दूसरे रोज़ से उसने ही संघ में जाना छोड़ दिया था। इतने प्यारे दोस्त को क्या वह मार सकता है? क्या वह उसे मार सकते हैं? कुछ समझ नहीं आता था कुंदी के।" देश के बंटवारे से उसे सबसे बड़ी हानि इस रूप में हुई कि भारत सुरक्षित पहुंचने पर उसे 'मंज़ूर, मजीद और शक़ील कैसे मिलेंगे।" यह हादसा बालक कुंदी के मन को बड़ी जल्दी समझदार बना देता है और जब वह एक अस्पताल में दंगे में मारे गए शवों और घायलों को देखने जाता है और उसे अपने घर का कोई नहीं मिलता तब भी उसके मुंह से अनायास निकल पड़ता है, "हमारे घर के न सही किसी के घरवाले तो थे ही।"

ऐसा नहीं कि हरदर्शन सहगल भारत विभाजन के राजनीतिक परिदृश्य को न देखते हों। वे सारी राजनीतिक उठापटक से गुज़रते हैं तथा उस तरह के चित्र भी प्रस्तुत करते हैं किंतु उनकी चिंता के केंद्र में कुंदी का अबोध बालमन या कहिए केवल आदमी का हृदय है जो ऐसी घटनाओं से बार-बार टूटता है। "ज़िला मुलतान के किसी गांव में तूफ़ान साहब मशहूर शायर थे। ...अक्सर बहुत जज़्बाती हो उठते और कहते- "दिल करता है जाकर जिन्ना के पांव पकड़ लूं। कहूं क्यों भाइयों को जुदा करने के लिए आम मुस्लिमों को बरग़ला रहे हो। छोड़ दो यह पाकिस्तान की मांग। इससे किसी का भला नहीं होने वाला।" सरदार प्यारा सिंह कहता, "आप बहुत माने हुए शायर हो, पर गांधी से बड़े नहीं। जिसने गांधी जी की अपील को ठुकरा दिया वह किसकी मानने वाला है। वह तो एक बात कहते हैं, उसे नेहरू पर, कांग्रेस पर एतबार नहीं। कांग्रेस हिंदूपरस्त जमात है। हां, सुभाष को ले आओ तो वह पाकिस्तान की मांग को छोड़ सकता है।" या कि नफ़ीस का यह कहना कि "इस तरह जज़्बाती बनने से फायदा? फ़ैसला हमारे तुम्हारे हाथ में नहीं है। जिनके हाथ में है, खुदा उन्हें नेक अक़्ल दे।"

औपचारिक रूप से उपन्यास को तीन खंड़ों में विभाजित किया गया है- बेदख़ल, बसेरा और ढलान। बेदख़ल में कुंदी के परिवार का पाकिस्तान से उजड़ने की मार्मिक कहानी है तो बसेरा में उस परिवार के बरेली में स्थापित हो जाने की यात्रा है। दोनों ही खंडों में, केंद्र में कुंदी का बालमन है तथा उस पर गहरा अक्स डालती घटनाएं हैं। किंतु पता नहीं

लेखक ने ढलान नामक खंड की संयोजना क्यों की है? उपन्यास तो बसेरा के साथ ही समाप्त हो जाता है। शायद लेखक के मन में यह मोह रहा कि कुंदी अर्थात् कुंदन कृष्ण का पाकिस्तान से रिश्ता तोड़ना नहीं है। कुंदन आकाशी से विवाह कर लेता है पर उसके मन की भटकन शांत नहीं हो पाती। वह आकाशी के साथ भारत-भ्रमण कर आता है पर उसे बराबर अधूरेपन का अहसास होता है और अंततः वह आकाशी के साथ पाकिस्तान घूमने का निर्णय लेता है। वह हवाई जहाज़ से लाहौर जाता है तो हवाई जहाज़ में ही, "यह कितने रोमांच के पल थे। ओह लाहौर! मेरा देश! मेरा असली वतन, मेरे अपने शहर, उन्हीं शहरों की गलियों में फिर से घूम-फिरकर उन्हें पहचानूंगा। उन गलियों-मुहल्लों को अपनी पहचान दूंगा। कहूंगा- देख लो, कुंदन कृष्ण नहीं कुंदी, फिर से आ गया। तुम्हारे पास। तुम्हारा मेहमान बनकर।" लेखक ने इस दृश्य का संयोजन कुंदी के सपने को पूरा करने के लिए किया है। पर इससे क्या उपन्यास बहुत निष्कर्षवादी नहीं हो गया है? इससे भी आगे एक ज़बरदस्त विस्फोट का होना और धमाके के साथ विमान का पृथ्वी से जा टकराना। ज़मीन का टूटना और बड़ी खाई का बनना। यह खाई तो पहले ही बन चुकी थी। ज़मीन तो पहले ही टूट चुकी थी। पर लेखक, पाठक के लिए कुछ भी नहीं छोड़ना चाहता। यों भी यह अंत बहुत नाटकीय और फ़िल्मी लगता है।

उपन्यास का फ़लक राजनीतिक दृष्टि से 'झूठा-सच' या 'तमस' जितना बड़ा नहीं है तथा इसमें राजनीतिक घटनाओं के संदर्भ कुंदी के परिवार से जोड़कर ही अधिक रखे गए हैं। दरअसल 'टूटी हुई ज़मीन' भारत विभाजन की हलचल के बीच एक उजड़कर बसते परिवार की कहानी है जिसके केंद्र में कुंदी नामक बालक के मानस पर छाप छोड़ रही घटनाओं के अक्स हैं। जैसे मंटो एक पागल चरित्र के द्वारा भारत विभाजन को पागलों का अमानवीय कर्म प्रमाणित करने की कोशिश करते हैं अपनी कहानी 'टोबा टेकसिंह' में, उसी प्रकार हरदर्शन सहगल अपने इस उपन्यास में कुंदी की अबोधता के बहाने उस निरीह जनता की मार्मिक कथा कहते हैं। यहां लेखक पंजाबी जन-जीवन को भी साकार करते चलता है जिसके लिए उसने उपन्यास की भाषा को पंजाबीपन से रंगने का पूरा प्रयास किया है। यह कृति हरदर्शन सहगल के प्रौढ़ लेखन को प्रमाणित करती है।

नीम का थाना, राजस्थान

डॉ. उमाकांत गुप्त

टूटी हुई ज़मीन

'टूटी हुई ज़मीन' (उपन्यास) विभाजन की उस त्रासदी को स्थापित करता है जिसका दर्द लेखक ने स्वयं झेला है। संपूर्ण राजनैतिक परिदृश्य के बावजूद उपन्यास की राजनीतिक घटाटोप के पास प्रस्तुति नहीं है। (यह उपन्यास की बहुत बड़ी सफलता एवं विशेषता है) बल्कि एक बालक के सहज और अबोध मन के चोटिल होते जाने के माध्यम से समूचे घटनाक्रम को प्रस्तुत किया गया है। उपन्यास के एक-एक शब्द से विभाजन की टीस, टूटन की ध्वनि सुनाई देती है। हरदर्शन सहगल 'टूटी हुई ज़मीन' में कुंदी की अबोधता के बहाने उस निरीह बालक की मार्मिक कथा कहते हैं जिसे राजनीति की धधकती आग में झोंक दिया गया।

औपचारिक रूप से उपन्यास तीन खण्डों में विभाजित है- 'बेदख़ल', 'बसेरा' और 'ढलान'।

प्रथम खंड 'बेदख़ल' में कुंदी के परिवार का पाकिस्तान से उजड़ने की मार्मिक कहानी है। बालक कुंदी क़िला शेखूपुरा की गलियों में अपने दोस्तों के साथ कंचे खेलता है, जिसे हिन्दू और मुसलमान या कहिए भारत और पाकिस्तान का भेद नहीं मालूम, सहसा एक आग में धकेल दिया गया है। विभाजन की अवधारणा उसके बालमन पर सहसा आघात पहुंचाती है और उसका मन इस भेद को स्वीकार नहीं कर पाता।

'बसेरा' में परिवार के बरेली में स्थापित हो जाने की कथा है। तमाम रिश्तेदारों के बिछड़ने-मिलने की यात्रा में कितना कुछ वास्तविक रूप से छूट गया या छोड़ना पड़ा, जीवन में घटने वाली यह सभी घटनाएं कुंदी के बालमन पर गहरा अक्स छोड़ती हैं। अनगिनत मोड़ों के बावजूद सभी लोग पुराने दिन नहीं भुला पाते हैं। पुरानी यादों के साये से पीछा छुड़ाकर 'बसेरा' होता है मगर 'बेदख़ल' होने का दुःख कुंदी के हृदय में हर पल मौजूद रहता है।

'ढलान' तक आते-आते कुंदी, कुंदन कृष्ण आकाशी (विधवा) से विवाह कर लेता है, किन्तु उसके मन की भटकन शांत नहीं हो पाती। वह आकांक्षी के साथ भारत-भ्रमण कर आता है मगर उसे निरन्तर अधूरेपन का अहसास होता है और अंततः वत आकांक्षी और बच्चों के साथ पाकिस्तान की ज़मीन पर पहुंचता है। लाहौर हवाई अड्डे पर ज़बरदस्त

विस्फोट और धमाके के साथ पृथ्वी के टकराने पर एक खाई बन जाती है।

'टूटी हुई ज़मीन' उपन्यास विभाजन की पृष्ठभूमि पर रची अन्य रचनाओं से हटकर और बचाकर अपने लिए अनछुए कोने ढूंढ लेता है। इस उपन्यास का मूलाधार या मूलस्वर सांप्रदायिक घृणा की आग में जलती मानवता के प्रति करुणा का है जो रक्तपात के बीच मानवीय मूल्यों को निरर्थक नहीं होने देती है। ट्रीटमेंट और अनुभूति के स्तर पर अपने से पूर्व कृतियों से भिन्न होना इस उपन्यास की विशेषता है।

'टूटी हुई ज़मीन' में संपूर्ण बालमनोविज्ञान सहजता के साथ प्रकट होता है। उपन्यास की बुनावट को फ्रॉयड एवं एडलर के मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों की कसौटी पर कसा जा सकता है। इसमें शैशवावस्था, कैशोर्यावस्था और युवावस्था के उतार-चढ़ाव नापे जा सकते हैं। उपन्यासकार बच्चों के साथ-साथ बड़ों से किए गए खिलवाड़ को रेखांकित करता है। घटना ऐतिहासिक होते हुए भी लेखक ने पात्रों को इतिहास और काल की पकड़ से बाहर निकाल खड़ा किया है। यही पात्र हमारे अंतस में ज़िरह करते हैं, हमें झकझोरते हैं। यह सब महत्वपूर्ण भाव है, ताव नहीं। उपन्यास लेखक की सफलता का कारण घटनाक्रम का संयोजक न होकर मानवीय जीवन और अनुभवों के आयामित संधान है।

'झूठा-सच' में जिस कमी का अनुभव किया गया था (कि उसमें हिन्दु-मुस्लिम समाज के सांस्कृतिक अंतर्विरोध, जिनके बीच साम्राज्यवाद अपने हित साधता रहा था, का चित्र नदारद है), उसे 'टूटी हुई ज़मीन' बालमन के माध्यम से संस्पर्शित करती है और साथ ही लेखक तत्कालीन राजनीति और उसके सूत्रधार नेतृत्व के सोच और सोच में स्वार्थ की ओर भी संकेत करता है।

अनुभूति की अभिव्यक्ति भी बहते शीतल जल की भांति तृप्ति देने वाली है। शैल्पिक दृष्टि से यह औपन्यासिक कृति सफल है। भाषा में दुरुहता कहीं भी नहीं है। इसमें तत्कालीन परिवेश को सजीव कर देने की ताक़त है तो माटी की सोंधी गंध भी है। पंजाब प्रदेश के मुहावरों पर पकड़, उर्दू शब्दों का प्रयोग, लेखन की प्रौढ़ता को इंगित करते हैं, अस्वाभाविक कुछ नहीं। कृति आद्यंत रोचक और पठनीय है।

विभागाध्यक्ष, श्री डूंगर महाविद्यालय
बीकानेर, राजस्थान

काकडे गोरख प्रभाकर

आभरान : भारतीय समाज व्यवस्था का राजवस्त्र

भारतीय संस्कृति एवं समाज संरचना को 'आभरान' के माध्यम से 'आभरान' पहनकर दी हुई यह आवाज़ है, जो भारतीय संस्कृति में पोतराज के गुलामगीरी को स्पष्ट करती है। 'आभरान' मराठी दलित लेखक पार्थ पोळके की आत्मकथा है जो सन् 1984 में ग्रंथाली प्रकाशन, मुंबई से प्रकाशित है।

यह आत्मकथा भारतीय संस्कृति के चिथड़ों को सर एवं कमर पर बांधकर भीख मांगनेवाले पोतराज के मर्मांतक जीवन की व्यथा-कथा है। साथ ही पोतराज के वंश में जन्में ऐसे एक संघर्षशील 'पार्थ' की भी कथा है जो भारतीय जाति व्यवस्था के कुरुक्षेत्र में योद्धा के साथ सारथी भी है।

लेखक ने महार समाज में व्याप्त अंधश्रद्धा के शिकार बने पिता मरिबा पोतराज को प्रतिनिधिक स्वरूप सामने रखकर समग्र महार, मांगों के रूढ़ि, परंपराओं को एक प्रेषक के रूप में पाठकों के सामने प्रेषित किया है।

महार समाज की धारणा है कि जब इन पर मरिमाता का प्रकोप होता है तो घर-परिवार में दारिद्रय, दुःख, बीमारी आदि अनिष्टों की छाया रहती है। उसे दूर करने और देवी मरिमाता को खुश करने के लिए सबसे बड़े बेटे को पोतराज बनाकर देवी मरिमाता की सेवा करने के लिए छोड़ देना पड़ता है और फिर उसके बड़े बेटे को परंपरागत इस प्रथा का पालन करना पड़ता है और यह श्रृंखला अनवरत चलती रहती है। जिसे आत्मकथाकार ने आत्मकथा एवं सामाजिक कार्य से खंडित करने का प्रयास किया है। इस परंपरा के विरोध में भले ही आत्मकथा में आवाज़ उठाई गई हो, आक्रोश व्यक्त किया गया हो पर इस व्यवस्था से पिता को मुक्त करने में लेखक असफल दिखाई देता है।

पोतराज जो रंग-बिरंगे टुकड़ों को अपने कमर पर चहुं ओर से लटकाता है उसे 'आभरान' (आभूषन) कहा जाता है, जिसे पहन वह माथे पर बड़ा तिलक, पैरों में घुंघरू बांधकर घर-घर जाकर भीख मांगता है, मुंह से "आई मरीमाता एक के इक्कीस, पांच के पचास बेल मंडप तक जाने दे छाज-अमृत से डेर घूमने दे। माथे का कुमकुम, हात का चुड़ा पैरों के बिचूवे की रक्षा करो माँ लकसीमी।" की दुआ देता है। इस व्यवस्था एवं सामाजिक मानसिकता पर रोष व्यक्त करते हुए आत्मकथा में लेखक लिखते हैं, "आभरान यानी यहां की समाज व्यवस्था द्वारा पोतराज को दिये गए राजवस्त्र, [illegible] आयुष्य के टुकड़े-टुकड़े करने वाले।"

आत्मकथा में एक ओर रोष एवं खीन्नता भरे उद्गार हैं, तो दूस[illegible] ओर इस व्यवस्था के मायाजाल से बचाने वाले शिक्षा, संगठन [illegible] संघर्ष का महायंत्र देने वाले बोधिसत्व महामानव डॉ. बाबासा[illegible] आम्बेडकर एवं उनके विचारों से प्रेरित होकर अपने बेटे पार्थ [illegible] शिक्षा देने वाले पिता मरिबा एवं मेहनत करने वाली माता के [illegible] कृतज्ञता व्यक्त हुई है। लेखक कहते हैं, "अगर आबा ने उस सम[illegible] मुझे स्कूल में नहीं डाला होता और बाई ने दोनों भाइयों के लिए [illegible] फटने तक कष्ट नहीं लिये होते तो आज आबा के आभरान के टु[illegible] पूरे शरीर में लपेटकर कोड़े के फटके लगाता। मैं भी दरवाज़े-दरवा[illegible] भीख मांगता। दूसरों के बासी टुकड़ों पर जीता और अपने बच्चों [illegible] लिए पीछे आभरान के टुकड़े ओढ़ने के लिए रखकर मर जाता।"

इस सामाजिक रूढ़ि-परंपरा से पार्थ पोळके का चिर-परिचि[illegible] था। पिता के ही पोतराज होने के कारण उन्होंने यह जीवन स्व[illegible] भी जिया था। वे भी कमर पर आभरान लपेटकर पिता के साथ ग[illegible] में भीख मांगने गये थे। यही भीख मांगनेवाला आगे कोल्हा[illegible] विश्वविद्यालय से एम.ए. इतिहास एवं बी.एड. की उपाधि लेक[illegible] सामाजिक कार्यकर्ता के रूप में 'समाजवादी युवक संगठन' में का[illegible] करता है, मराठवाड़ा विश्वविद्यालय नामांतर आंदोलन के लांग मा[illegible] में 'समता ज्योत' लेकर निकलता है और अन्य सहयोगियों के सा[illegible] जेल जाता है। लेखक "अपने लगभग पैंतीस वर्ष के जीवन में शि[illegible] पूरी करते हुए आस-पास के जीवन को देखकर अपनी नौक[illegible] संभालते हुए समाज कार्य की ओर अग्रसर हुआ है।" एक ओ[illegible] यह आत्मकथा एक सामाजिक कार्यकर्ता की है तो दूसरी ओ[illegible] लेखक के परिवार एवं समाज की भी है। जो परंपरागत समा[illegible] व्यवस्था के शिकार बने हैं। इसी व्यवस्था को उखाड़ने के लि[illegible] लेखक ने अपने मनोगत में साहित्यिक लेखन के तूफ़ान की अपे[illegible] रखी है जो योग्य प्रतीत होती है। इसी का एक प्रयोग [illegible] 'आत्मकथा' मानें तो असंगत न होगा।

'आभरान' यह आत्मकथा लेखक के व्यक्तिगत जीवन के सा[illegible] सामाजिक जीवन की विसंगतियों, भूख, दारिद्रय, अंधश्रद्धा[illegible] रूढ़ि-परंपरा एवं ग्रामजीवन-ग्रामसंस्कृति को अभिव्यक्त करती है। आत्मकथा का आरंभ ही भूख की वेदना से होता है। धर्मभीरू मरि[illegible] आषाढ़-श्रावण में भीख मांगने नहीं जाता। परिणामस्वरूप परिवा[illegible] को भूख की वेदना को सहना पड़ता है इस भूख को मिटाने के लि[illegible] वह रोग से मरी मुर्गियों, जानवरों को भी खाने के लिए विवश हो[illegible] है। इस अघोरी स्थितियों से यह आत्मकथा सफ़ेदपोश वर्ग क[illegible]

परिचित कराती है। यह जीवन लगभग सभी अस्पृश्यों के हिस्से आया है जो विभिन्न अस्पृश्यों द्वारा लिखी आत्मकथाओं में दिखाई देता है, जो इनके जीवन का अभिन्न अंग था। 'आभरान' आत्मकथा दैववादी दलित समाज में व्याप्त अंधश्रद्धा एवं अज्ञान को भी उजागर करती है। घर में सांप निकलने की बात सुनकर मरिवा उसे मारने की बजाय देवमूर्तियों को धोकर पानी सारे घर में छिड़कता है और 'नातसायव का चांगभलं' का जयघोष करता है। उसकी यह धारणा है कि उससे कुछ ग़लती हो गई है, परिणामस्वरूप नातसायब ने उसे चमत्कार दिखाया है। यही भूमिका लेखक के माँ की भी है, वह कहती है, "नातबाबा का नाम लो, डर नहीं लगेगा। माँ काशीबाई पतिपरायन, नातसायव, कुकणी मरीमाता, चांगभलं-चांगभलं कहते हुए बाई मेरे पास लेटी। हड्डियों की दुर्गंध से जानवर रहता नहीं।"

आत्मकथा में शोषित, दलित, पीड़ित, प्रताड़ित जीवन के साथ ग्रामसंस्कृति में व्याप्त लोकविश्वास, लोकरूढ़ि एवं लोकसंस्कृति का चित्रण हुआ है। पोतराज गांव में भीख मांगते वक़्त भीख देने वाली स्त्रियों के सामने भंडारा (भभूत) रखता है, उसे लगाकार स्त्रियां पोतराज के पांव छूं लेती हैं। पोतराज उनके पीठ पर हाथ रखकर आशीर्वाद देता है। अपने पास का चाबुक उनके माथे से लगाता है। ऐसे ही पारधी समाज की यात्रा का वर्णन भी हमें ग्रामीण लोकसंस्कृति से परिचित कराता है। 'आभरान' में बलि प्रथा का जो चित्रण आया है वह एकदम वास्तवविक होने के कारण वीभत्स बना है। साथ ही 'आभरान' हमें ग्रामीण उत्सव, पर्व, त्योहार, अंत्यविधि आदि से भी परिचित कराती है।

आत्मकथा में चित्रित व्यक्तिरेखाएं पीड़ित, शोषित होने के साथ-साथ संघर्षशीलता एवं प्रगतिशीलता का भी परिचय देती हैं। लेखक के पिता दैववादी होने के साथ अपनी दयनीय स्थिति के कारणों से भी परिचित व्यक्ति हैं, वे डॉ. बाबा साहेब अम्बेडकर के विचारों से भी परिचित हैं। इसी कारण वे अपेक्षा रखते हैं कि जो जीवन उनके हिस्से आयां वह अपने बेटे के हिस्से न आए इसलिए वह अपने दोनों बेटों को स्कूल भेजते हैं। यहां डॉ. बाबा साहेब के विचारों एवं कार्यों का मरिबा पर पड़ा हुआ, प्रभाव स्पष्ट होता है। मरिबा की दृष्टि में बाबासाहेब का स्थान देवता के रूप में है। बाबा साहेब के निर्वाण की बात सुनते ही मरिबा शोकाकुल होते हुए, "बाबा गये पायित्रे अपना देव गया। अब कुछ भी नहीं बचा।" कहते हुए कृतज्ञता व्यक्त करते हैं। लेखक की मां पवित्रा की छवि भी एक श्रमशील, वात्सल्यमय, सहनशील नारी के रूप में है। जो अपने परिवेश के दलित स्त्रियों के प्रतिनिधित्व के रूप में हमारे सामने है। लेखक पार्थ का सुदृढ़, कुश्तियां करने वाला, सामाजिक अन्याय का विरोध करने वाला, मार्क्स, एंजल्स, रसेल, शाहू महाराज, डॉ. अम्बेडकर के विचारों से परिचित, संघर्षशील व्यक्तित्व पाठक के मन पर एक अलग छाप छोड़ देता है। साथ ही ब्राह्मण होकर अंतरजातीय प्रेम विवाह करने वाली लेखक की पत्नी जाह्नवी भी आत्मकथा में विशिष्ट छाप छोड़ती है। इन रेखाओं के अलावा लेखक का भाई नातबाबा एवं उसकी पत्नी और लेखक की अंतरंग मित्र कृपा भी पाठक के सामने अपने गुण विशेष के साथ प्रस्तुत होते हैं। "स्वयं को रेखांकित करते वक़्त लेखक ने अपने आस-पास के मां-बाप, भाई, भाभी-कृपा, पत्नी-जाह्नवी आदि चरित्रों का रेखांकन करके योग्य न्याय किया है।"[2] जिस कारण आत्मकथा में चेतना आयी है।

आत्मकथा में आत्मप्रशंसा एवं प्रसंगों की सजावट में अतिशयता दिखाई देती है। आत्मकथा की भाषा में सहजता, सरलता एवं पात्रानुकूलता दिखाई देती है। आरंभ में जो भाषा संदर्भों के लिए अपनाई गयी है वह आत्मकथा के उत्तरार्द्ध में अपना रूप बदलती हुई दिखाई देती है। वाक्य छोटे-छोटे एवं प्रभावपूर्ण हैं। साथ ही लोकजीवन में व्याप्त लोकोक्तियों एवं मुहावरों के साथ आम बोलचाल में आने वाले अन्य भाषा के शब्दों का भी प्रयोग हुआ है।

आत्मकथा की भाषा कहीं-कहीं विद्रोह एवं टीकात्मक रूप अपनाती है, और यह होना भी लाज़मी है। क्योंकि यह आत्मकथा एक शोषित समाज का दृश्य पाठकों के सामने प्रस्तुत करने के उद्देश्य से लिखी गई है, जो स्वानुभूति की अभिव्यक्ति है, "आभरान के टुकड़ों के समान यह समाज आंखें खुली रखकर देखता रहा, हर एक टुकड़ा ज्वलनशील, पर मन जलता नहीं था, तो उलटे इस व्यवस्था के विरोध में लड़ने के लिए ताक़त इकट्ठा करता था, मुझे लगता है यहीं पर मुझे मेरे जीने का अर्थ मिला।" तो अन्य जगह पार्थ पोळके लिखते हैं, "इस आभरान के टुकड़ों की उष्णता पाठकों तक पहुंची तो भी मेरा काम हुआ।" जो उद्देश्य आत्मकथाकार ने रखा है वह काफ़ी हद तक सफल हुआ दिखाई देता है, पर खेद की बात तो यह है कि जितने ज़ोर शोर से अन्य दलित आत्मकथा की समीक्षा एवं चर्चा हुई उतनी 'आभरान' की नहीं हुई जो कि आवश्यक थी।

संदर्भ :

1. डॉ. आरती कुसरे - दलित स्वकथने : साहित्य रूप, पृ. 84
2. डॉ. वासुदेव मुलाटे - दलित आत्मकथने : संकल्पना व स्वरूप, पृ. 182

हिन्दी विभाग, डॉ. बाबा साहेब आंबेडकर,
मराठवाड़ा विश्वविद्यालय, औरंगाबाद

मीरा सीकरी

अब के बरस 'हरतोला'

पुष्पा, जब से हरतोला से आई हूं,एक दिन भी ऐसा नहीं गुजरा जब तुझे याद न किया हो। वहां शीशे की खिड़कियों वाली तेरी बैठक में बैठे, प्रमोद जी के हाथ की गर्मागर्म ग्रीन चाय पीते हुए, बारिश का इन्तज़ार करते रहे कि बिना भीगे उसके सुख-रस में सराबोर हो लें, पर बारिश को नहीं आना था, नहीं आई।

यहां पिछले दो दिनों से बारिश हो रही है- चैन की सांस आई है 'आसाढ़स्य प्रथम दिवसे' में भीगती माल्लिका के सुख का स्मरण हो आया। तेरे साथ वाली लम्बी सैर पर जाना नहीं हो पा रहा। आज बारिश तो नहीं थी पर सैर पर जाने में आलस आ रहा था। किन्तु इस उम्र की मांग की हरियाली-सड़कें तो हैं नहीं। दिल्ली की रूखी-सूखी, शोर-खाई सड़कों से बचने के लिए एकमात्र-आश्रय कॉलोनी के बाग़ लेकिन वहां भी कोल्हू के बैल की तरह से गोल-गोल चक्कर लगाते रहो- घड़ी देखी पौने सात बजे थे- गर्मी में सुबह की सैर के लिए तो देर हो चुकी थी पर अभी तेज़ धूप नहीं निकली थी और थोड़ी-बहुत हवा भी चल रही थी- निकलना बुरा नहीं लगा- देखा 'रात की बारिश में नहाये धोये पत्ते चमक रहे हैं- बाग़ की बाड़ों से चांदनी के फूल गिर गये पर नये खिले फूल सिर उठाये अपनी ताज़ा सफ़ेद पोशाको में हंसी ठट्ठा कर रहे हैं- बारिश ने सबको राहत दी है। बाग़ के दूसरे कोने में पहुंची तो देखा छोटे कंचो के बराबर जामुन गिरे पड़े हैं- हाथ में उठाकर देखा, जामुन ही हैं- आगे पग पथ पर नज़र गई, आलता-सी बनी लकीर पांवों के नीचे जामुनों के कुचलने से ऐसा हुआ? सोचते ही आगे बढ़ जाती पर क्यारियों की गीली मिट्टी से अपनी काली-नीली आंखों से झांकते जामुनों ने रोक लिया- आंखों में 'हरतोला' उतर आया और कानों में प्रोफ़ेसर प्रमोद गुप्ता की आवाज़ गूंजने लगी-

'इन मिट्टी में पड़े प्लम्ज़ को क्यों उठा रही हैं पेड़ों से तोड़िये।'

- इतने मोटे-मोटे आलू-बुखारों को मिट्टी में रूलते देखने का मन नहीं होता।'

कहने पर प्रमोद जी व्यंग कस रहे थे,

''यह ख़ूब समझदारी है आप की, ताज़े फेंको कूड़े में, मिट्टी में लिपटे हुए को खाओ।'' आलू बुख़ारे ही नहीं आड़ुओं का भी यही हाल; लाल-पीले गालों वाले मोटे-ताज़े अपने ही वजन से घायल, गिरने से थोड़ा डरे घबराये जहां-तहां पुकार रहे इन आड़ुओं को भी उठा लेने का मन होता- पर प्रमोद जी की व्यंग्य करती आवाज़ हाथों को रोक लेती। वर्ना वो कहते- 'जाइये अपने हाथों से इन्हें कूड़े में फेंककर आइये।''

हाय रे मेरा दिल्ली का मन- इन शोख़ फलों की इतनी बेकद्री।

यही हाल खुबनियों का- उनका मौसम बीत चुका है पर अभी भी सड़क किनारे के पेड़ों से नीचे पत्तों पर गिरीं हमें अपने पास बुलाने लगती हैं। उन्हें देख आंखों में आये लोभ को भांप पुष्पा ने ड्रावर जगदीश के घर के बाहर उन्हें बुलाकर कहा- ''इनके लिए थोड़ी खुबानी निकाल देना- लौटते हुए ले लेंगे।''

पुष्पा तुम ही तो बता रही थी- यहां तो हर मौसम का अपना रंग है- खुबानी ख़त्म हुई तो आड़ुओं और आलूबुखारों से पेड़ लद गये- ये ख़त्म होंगे तो सेबों और दाड़िमों से भर जायेंगे। फलों से पहले फूलों से लदे पेड़ों को देखो तो वहां से हिलने का मन न हो। यहां तो हर मौसम अपना नया श्रृंगार करके आता है। सर्दी में बर्फ से ढकी टहनियां, क्यारियां-बता नहीं सकती क्या नज़ारा होता है'- पिछली शाम वीडियो पर तुम्हें जो दिखाया था- वह तो तस्वीर थी, असलियत में उन्हें महसूस करना बिल्कुल अलग।''

अपने को रोक नहीं सकी थी और पुष्पा से कहा था- तेरे ब्यौरों से तो मेरे मन में यहां के लिए लोभ बढ़ता जा रहा है।''

'तो फिर आ जाना'

मन गद्गद हो रहा था। कितने उल्लास से वह हमें खिला पिला- दिखा रही थी। हरतोला का नाम पहले-पहल पुष्पा के मुंह से ही सुना था। रामगढ़ आना हुआ था- चार पांच साल पहले- तभी मधु ने बताया था कि पुष्पा का घर बन रहा है- हर-तोला में। पुष्पा उस समय हरतोला में नहीं थी पर पिकनिक मनाने के लिए हम वहां पहुंचे थे- नवम्बर के महीने में इतनी ढंड थी कि पूछो नहीं पर प्रो. गुप्ता अपनी मोच खाई टांग के बावजूद पूरे जोश में अपने बनते हुए घर की खूबियों को दिखाते-बताते ख़ूब प्रसन्न थे। उन्होंने ही हमें एकदम साफ़ दिखती, बर्फ़ ढकी पहाड़ की

श्रृखलाओं को दिखाते हुए, दूर होते हुए भी एकदम पास लगती उन चोटियों के नाम से परिचित करवाया था शायद नीलकंठ और त्रिशूल।

तभी अरबी क़िस्से कहानियों के नायक की तरह से मन बोला था-

'एक बार देखा हैं एक बार और देखने की चाह है'

यही वजह रही होगी कि मई में जब मधु ने पुष्पा के घर जाने का प्रस्ताव रखा तो मुंह से एकदम हां ही निकली।

भीमताल और विशेषकर नैनीताल की आधुनिक ताम-झाम और शोर से मुक्त है हरतोला...। यहां न रेस्तारां, न क्लब न बनाये हुए पार्क, शुद्ध पहाड़ शहरी छायाओं से अछूता। ऐसी जगह की ख़ूबसूरती होती है- रात में तारों भरा आसमान सुबह-सुबह की ठंडी हवाओं को गुनगुनी-सी ऊष्मा देती सूरज की किरणें पहाड़ों घुमावोदार सड़कों पर लम्बी सैरें, सांस के साथ भीतर जाती शुद्ध हवायें, घर में बैठे हुए भी लगे कि पहाड़ की गोद में बैठे हैं। ऐसे में जगजीत सिंह, भीमसेन जोशी या किसी भी अपने प्रिय गायक की, कमरे से आती आवाज़ को सुनते हुए देर तक बालकनी में बैठकर चाय पीना, कच्ची धूप में बैठ अलसाना, या मन हो तो बिना पढ़े जो भी याद आ जाये आपस में बांटना।

जहां नैनीताल जैसे स्थल गर्मियों में अब गर्म रहने लगे हैं वहां हरतोला में पूरी बांहों के कपड़ों के साथ हल्की-फुल्की जैकेट या खादी या टसर का शॉल लिया हुआ, सुख देता है। हर दिन तो नहीं पर किसी-किसी दिन तो पांव में बिना जुराबे पहने ठंड लगने लगती है।

कुछ भी करने का मन न हो तो कहीं भी पेड़ के नीचे बालकनी में या घर के किसी भी कोने में आंखें बन्द कर यहां की मीठी शान्ति को भरा जा सकता हैं, सूंघा जा सकता है वनस्पति की गंध को, और सुना जा सकता है चुप्पी की एक मीठी लय को। पेड़ों, फूलों-फलों के झुरमुटों की तस्वीरों को नहीं, यथार्थ में पकड़ा जा सकता है। हमारे लिए खुबानी तोड़ने के लिए यहां रहने वाली साठ-पैंसठ वर्ष की पंडिताईन जी जिस फुर्ती से पेड़ पर चढ़ गईं, उसको देख ताज़्जुब नहीं हुआ- लगा हम ही पेड़ पर चढ़ गये हों।

भीमताल, भवाली से होते हुए उगते सूरज के साथ जागती हुई घाटी के कभी गहरे, कभी हल्के हरे रंग को नारंगी और सफ़ेद रंग से खेलते हुए देखते-देखते कब हरतोला पहुंच गये पता ही नहीं चला। रामगढ़ आया होगा पर दिखा ही नहीं। हरतोला का बोर्ड जरूर दिखा पर न यहां कोई जीव न जन्तु। घर के भीतर पहुंचते ही दृश्य बदल गया, घर के साथ सटा हुआ बच्चों का स्कूल है, बालकनी से सबसे पहले ध्यान बंटा स्कूल के आंगन के मुर्गा बने बच्चों को सज़ा भुगतने हुए देखकर, पुराने वक़्त के स्कूल आंखों में आ गये।

हरतोला से परिचित होने के लिए सड़क पर निकले तो घाटी में लाल टीन, सफ़ेद टीन और हरी टीन की छतें मुंह उठाये जैसे कह रही थी, 'बसावट ढूंढ रहे थे? हम यहां हैं।' पर मन में सवाल उठ रहा था- वहां तक पहुंचने का रास्ता तो कोई दिख नहीं रहा- कैसे पहुंचते होंगे यहां के रहवासी''

इसका भी जवाब मिल गया जब दिल्ली लौटने से एकाध दिन पहले पुष्पा ने कहा कि आज नीचे वाली सड़क पर बन रहे विशाल भवन को देखने चलेंगे। जो लिम्का पीने लगे थे, उसके साथ एक डिसपोज़ेबल ग्लास लिया और उसी समय चल पड़े। सड़क का कुछ हिस्सा कच्चा था इसलिए पहली बार हरतोला में मैंने मिट्टी के गुबार को देखा, वैसे भी बनते हुए भवन की वजह से सामान ले जाने वाले ट्रक इसी रास्ते से जाते दिखे, जो भवन बिल्कुल यहीं तो है, जैसा दिखा रहा था उसकी दूरी हर मोड़ पर उतनी की उतनी ही नज़र आ रही थी।

भवन पर पहुंच मैंने पुष्पा से पूछा क्या वापीस इसी सड़क से जाना पड़ेगा? पुष्पा ने मेरा सवाल सुना नहीं था क्योंकि वह बाउन्ड्री वॉल की दूसरी तरफ़ मुझे कुछ दिखाना चाह रही थी, ''आ देख यह भावना का घर, वही जो पानी के नल पर मिली थी - हमारे घर कुछ समय काम भी करती रही है।''

पेड़ों के झुरमुटों के बीच में बने घर की छोटी-सी खिड़की में उकडू-सा बैठा एक वृद्ध दिखाई दिया। जहां दीवार छोटी-सी थी वहां से मैं कूदकर दूसरी तरफ पहुंच गई थी- साथ ही पुष्पा भी आ गई थी - अब हम सड़क वाली दुनिया में नहीं थे - हम पहाड़ी खेतों में थे।''

जंगल- जैसे दिखते प्रदेश में एक भोला किसान अपना काम कर रहा था। अगर हमें लौटने की जल्दी न होती या मन से ज़्यादा निडर होते तो उस पर्ण-निकेतन में कुछ

समय बैठकर पूर्ण संगीत सुनते। चलते-चलते ही भावना ने किसी पेड़ से 'ग्रीन एपल' तोड़े और हमारे हाथों में रख दिये - बिना किसी योजना के ही हम नेचर वॉक के वास्तविक सुख को पा रहे थे। जगदीश ड्राइवर के घर के पास पहुंचकर भावना ने पुष्पा से कहा था, "यहां से तो आप को रास्ता मालूम है न? स्कूल की, और आप वाली बाउन्ड्री वॉल वाला?"

हम कच्ची सड़क से गये थे और पुष्पा के ड्राइवर के घर पहुंच गये - कैसे? नहीं मालूम - एक अद्‌भुत नितान्त नया अनुभव - बहुत सुखद बहुत विशिष्ट। जगदीश की मां हमें प्यार से बैठाती हैं, हाँफते हुए हम अब निश्चिंत थे - हमारे सामने फिर कचिया सेब परोसे गये, प्यार के उन कच्चे सेबों का स्वाद अविस्मरणीय है। मेरे पास मोबाइल फ़ोन के केस में कुछ इलायचियां पड़ी थीं, उन्हें निकालकर मां को देती हूं 'इन्हें चाय में डाल लीजियेगा।' जंगल की सैर से लौटे तो एक अव्यक्त मानवीय गंध से आवेष्टित तो थे ही साथ ही पूर्ण रूपेण परितुष्ट।

गुप्त दम्पती हमें घुमाने के लिए मुक्तेश्वर और अल्मोड़ा भी लेकर गये। कुछ दिनों के शान्त आवास के बाद मुक्तेश्वर की साफ सुथरी चहल-पहल भी लुभावनी लगी। फॉरेस्ट क्षेत्र में कुछ ख़ास कोणों से पर्वतीय घाटी को निहारना भीतर-बाहर को शान्त करने वाला।

अल्मोड़ा का आकर्षक है चीड़ के पेड़ों की फैली शृंखला- जिनके बीच में बैठा भी जा सकता है- डोला भी जा सकता है। इस सुन्दर पृष्ठभूमि में भीड़ से भरे हुए 'गोलू देवता' के मन्दिर को नज़रअंदाज़ नहीं किया जा सकता। गर्मी के बावजूद भीड़ और शोर से भरे इस मन्दिर का नाटकीय आमन्त्रण आपको अपने पास खींच लेता है। बड़े-छोटे घंटों की कतारों से अलंकृत वीथी में बच्चों से लेकर बूढ़ों का उचक-उचक कर उनको बजाना उल्लसित किये बिना नहीं रहता। वीथी को पार करते ही गर्भगृह के प्रवेश स्थल पर छत और दीवारों पर लटकी असंख्य अर्ज़ियों के पुलिन्दे के पुलिन्दे टंके हुए, आश्चर्यन्वित कर देते हैं। अचम्भे में खुले मुंह और चमकती आंखों से इन खुले पत्रों की इबारत पर ध्यान जाये बिना नहीं रहता - जीवन जितने ही विविध जटिल विषयों और समस्याओं में फंसे मनुष्य की प्रार्थनाएँ एवं न्याय की मांग, क्योंकि गोलू देवता न्याय के देवता हैं। निजी प्रेम सम्बंध से लेकर पारिवारिक सुख-समृद्धि, परीक्षा में सफलता व्यवसाय में बरकत - दूर गये बच्चों की कुशलता - आपसी झगड़ों में न्याय की मांग करते ये पत्र जिनमें से कुछ तो बाक़ायदा स्टैम्प पेपर पर लिखित हैं, अद्‌भुत मंच विधान और नाटकीय प्रभाव की सृष्टि करते आपको भी दर्शक और भोक्ता की मुद्रा में ला खड़ा करते हैं। मंदिर के अगले हिस्से और पिछले हिस्से के प्रांगण और उससे सटे हुए कक्ष में मंगल कार्य को सम्पन्न करवाने के लिए आये हुए परिवारों की भीड़ या कहिये रौनक़ है। वहीं चवन्नी और अठन्नी जितनी गोल टिकुलियों और चमकदार किनारी वाली ओढ़नियों और दुपट्टों को ओढ़े, बड़ी-बड़ी नथें पहनी, सजी-संवरी वधुएं पूरे परिवेश में रंग भर रही हैं। याद हो आई नौटियाल जी की कहानी शायद 'नथ' जिसका मर्म है- छोटी नथें या बड़ी नथें ख़ानदान के छोटे या बड़े होने का प्रतिमान है। सुन्दर लगने के बावजूद नथ पहनी महिलायें मुझे नथे हुए जानवर का स्मरण दिलाती हैं। पल भर के लिए नथयुक्त इन वधुओं का सौन्दर्य भलेही आंखों को चौंधिया दे पर इनका यह नथा हुआ रूप मुझे व्यथित ही करता है। कहानी की नायिका की त्रासदी जिसे करवट लेकर सोना भी नसीब नहीं होता, मुझे उदास कर देती है- समझाती हूं अपने आप को आज मई 2010 में ऐसी मजबूर ये महिलायें नहीं होंगी और मन को उठाने के लिए और इन वधुओं की विशिष्टता से समेटने के लिए प्रो. गुप्ता से कहती हूं- 'इन महिलाओं के साथ हमारी एक फोटो लीजिये न!

बस्ती से थोड़ा बाहर आकर गोलू देवता का ही एक और मन्दिर है। उसके पिछवाड़े मुक्त प्राकृतिक परिसर है नीचे दिखाई देती पहाड़ी सड़क - छितरे हुए लम्बे ऊंचे चीड़ के पेड़- इनकी धूप-छांही छाया में ऊंची-नीची पहाड़ी धरती की गदबदी गोद - साथ लाई चटाइयां यहां बिछा ली जाती है- पुष्पा के हाथ की बनाई बड़ियां, सीताफल, आलू की भाजी और आम के अचार के साथ चटखारे लेते हुए स्वाद से खाई जाती है। खाने का समापन प्रो. गुप्ता द्वारा लाई लखनऊ की मलाई की गिलौरी-जैसी मिठाई से किया जाता है।

यहां के पेड़ों को भी मस्त करती पहाड़ी ठंडी हवा के झोंको में शीतल होते हुए हम जिस दुनिया में थे, उसकी कामना कौन नहीं करेगा?

ई-230, अमर कॉलोनी, लाजपत नगर-4, नई दिल्ली-24

सैली बलजीत

भय

वे इससे पहले कभी उदास नहीं दिखे हैं। उन्हें सदैव मुस्कान लिए हुए ही देखा है। वे इस उदासी का कारण ढलती हुई उम्र को मानते हैं। उन्हें रौबदार नौकरी से सेवामुक्त हुए दस साल हो गए हैं। घर में पुत्रों-बहुओं और पौत्र-पौत्रियों का सपनीला संसार है। उनकी उदासी का प्रमुख कारण, उनकी संगिनी का परलोक सिधार जाना भी है। बेटों की अपनी-अपनी गृहस्थी है। वे सभी अलग-अलग स्थानों पर सरकारी नौकरी में चल रहे हैं। आसपास के शहरों में वे दिन-भर दफ़्तर की कुर्सियों पर चिपके हुए, शाम को अपने घरौंदों में आ जाते हैं। शाम होते ही, दिन भर वीरान-सा दिखने वाला घर उत्सव-स्थली हो जाता है। पौत्र-पौत्रियां अपने स्कूल बैग कन्धों पर उठाए जब घर की दहलीज़ फलांगते हैं तो लगता है, घर में रौनक़ लौट आई है। दिन भर बहुएं रसोई से निपटने के बाद, छत पर पसरी हुई गुनगुनी धूप में सुस्ताने लगती हैं। उनका ऐसे दिन-भर छत पर पसरे हुए, उर्दू अख़बार को मोटे कांच के शीशों वाले चश्मे से बांचना स्वयं को अखरता है...ऐसे में वे कहां जाएं...यही प्रश्न उन्हें भीतर तक तोड़ जाता है।

वे पिछले दिनों में बुख़ार में रहे हैं। लगता है काया और ढीली तथा सुस्त हो गई है। डॉक्टरों की परचियां वे कमीज़ की ज़ेब में भरे रहते हैं। दिन-भर कांच के थर्मामीटर को मुंह में लगाए रहना भी अब उनकी दिनचर्या में सम्मिलित हो गया है।

कल मंझले बेटे ने उन्हें टोक दिया था, 'आपको वहम हो गया है बाऊजी...अच्छे-भले तो हैं...'

'अच्छा भला होता तो यों बिस्तर पर ना पड़ा होता...' वे सफ़ाई देते हुए बोले थे।

'मैं तो कहता हूं...आप उठके कहीं बाहर निकला करें... मन बहल जाता है। ऐसे घर में बैठे-बैठे तो अच्छा-भला आदमी बीमार पड़ जाए...'

'बातें करना आसान है पुत्तर...मुझे शौक़ थोड़े है, बिस्तर पर चिपकने का...?'

'बोलो है टैंपरेचर?? एकदम नार्मल तो हैं आप...?', बेटे ने उनके माथे को छूकर कहा था।

'नहीं पुत्तर...बुख़ार ना हो तो मुझे क्या पड़ी है, ऐसे पड़े रहने की??

'कल तो आप थर्मामीटर नहीं लगाएंगे...लाओ दो मुझे. ..। ऐसे ही बीमार रहने का शौक़ चरमरा रहा है...लाओ निकालें...', बेटे ने उनकी ज़ेब से थर्मामीटर निकालते हुए कहा था।

वे कुछ नहीं बोले थे। बस छत की तरफ़ टकटकी बांधे हुए देखने लगे थे। एकाएक जाने ढेर-से आंसू उनकी आंखों के कोरों से ढुलक आए थे।

उन्हें ऐसे लगा था कि वे किसी मेले में गुम हो गए अबोध से बच्चे हो गए हैं... जिनकी पुकार सुनने वाला कोई नहीं है। बस रोते हुए मेले की रंगीनियों को अनमने से देखते हुए, अपनों की तलाश में आगे बढ़ना है उन्हें।

उन्हें तमाम अपने लोग छूट गए प्रतीत हुए थे।

उन्हें स्मरण हो आया था, तंदरुस्ती में वे लम्बी सैर को निकल जाया करते थे। दिनभर बैंक और बाज़ार के दूसरे कामों के लिए वे अपनी पुराने मॉडल वाली मोपेड पर निकल जाया करते थे। तब उम्र भी ठीक थी और संगिनी भी जीवित थी। उन्हें एकाएक कान्ता की याद आ गई थी। उन्हें कान्ता की डेथ पर ऐसे प्रतीत हुआ था कि ढलती उम्र में एकमात्र साथी पीछे छूट गया है। उसी दिन से वे गुमसुम हो गए थे। श्मशान घाट से वापसी पर वे इतने अशक्त हो गए थे कि उन्हें आती बार पड़ोसी की कार में बैठाकर लाना पड़ा था.. .उस दिन वज्रपात हुआ था उनकी बेजान होती देह पर-

सवेरे ही घर में लहलहाती रौनक़ को जैसे किसी ने डँस लिया था।

'आप अब भी मोपेड पर जाते हैं? बैंक के काम के लिए किसी से कह दिया करो...', सबसे छोटे बेटे ने उन्हें टोकते हुए कहा था।

'चला जाता हूं...धीरे-धीरे...तुम क्यों चिंता करते हो...?', वे मिमिआए थे।

'चिंता क्यों ना करें? कहीं गिर-गिरा गए तो बोलिए कौन उठाएगा?

'ऐसा कुछ नहीं होगा...मैं बच्चा थोड़े हूं...?'

'आप बात क्यों नहीं समझते...शहर में कितनी ट्रैफिक हो गई है...हमें डर लगता है...कल से आपका मोपेड पर आना-जाना बंद...' बेटे ने अपना निर्णय उन पर थोप दिया था।

'तो बोल कैसे जाऊं मैं?? बैंक में तो जाना ही होता है. ..महीने में एकाध बार...?'

'शहर में कितने रिक्शा हैं...फिर क्यों जोख़िम में डालते हो...पता है इस उम्र में कहीं गिरकर चोट आ गई तो...दिनों पर पड़ जाएंगे...बात समझने की कोशिश करो बाऊजी...'

'तुमझे ईलाज के लिए नहीं कहूंगा...पुत्तर...'

'बाऊजी...समझने की कोशिश करें...इसमें आपकी भलाई ही है।'

'मैं अपनी भलाई-बुराई समझता हूं...तुम्हें भी पंख लग गए हैं...'

'आप बात को बेवजह खींच रहे हैं...बस कल से मोपेड बंद।'

वे इससे आगे कुछ नहीं बोले थे। लगा था, अब उन्हें हर बात की सहमति लेनी पड़ेगी, औलाद से। अभी कल ही की तो बात है, उनकी उंगली पकड़े हुए चलता रहा है वह। दशहरे और दिवाली वाले दिनों में तो वह उनकी उंगली पकड़े रहता था...अब पंख उग आए हैं उसके...आसमान में फुर्र से उड़ना सीख गया है। उससे मुंह लगना उन्हें अखरा था। वे अपना अक्कड़ स्वभाव छोड़ दें, ऐसा सभी ने उनसे कितनी बार कहा है। लेकिन...एकाएक वे वक़्त से समझौता कैसे कर लें। अभी दम है उनमें। वे चाहते हैं...उन्हें इस तरह प्रताड़ित करने का अधिकार सभी कैसे थाम बैठे हैं। बहुएं भी बीच में दख़ल देने लगी थीं। सभी ने एकमुश्त अपना ठोस फ़ैसला उन पर थोंप दिया था।

वे एकाएक मासूम बच्चे की भांति आग बबूला हो उठे थे।

घर में इस बात को लेकर फ़िज़ूल में हंगामा खड़ा हो गया था। वे गुस्से में लाल-पीले हुए छत पर आ गए थे।

उस रात उन्होंने खाना भी नहीं खाया था। उन्हें मनाते हुए, सभी हार गए थे...लेकिन...सभी चुपा गए थे। घर में कोहराम मचाना कोई भी नहीं चाहता था।

उन्हें स्मरण हो आया था कि वे किस तरह इस घर के लिए मशीन बने रहे हैं उम्र भर, उसकी औलाद को क्या पता यह आलीशान तिमंज़िला मकान एकाएक नहीं उसर गया? इसे उसारने में उनकी उम्र का एक महत्वपूर्ण अंश समय की कंदरा में कहीं दरक गया है। तब सभी स्कूल जाते बच्चे थे। रजनी की शादी पर भव्य आयोजन एकाएक तो नहीं हो गया था। शहर के आलीशान मकानों में उनके घर की गिनती आज भी होती है। मकान बनाना कोई अहसान की बात नहीं। हर शख़्स अपना और अपने परिवार का सिर ढांपने के लिए ईंट-सीमेंट से एक घरौंदा बनाता है, उस घरौंदे को जी-जान से संभालता है और एक दिन वक़्त आता है कि वह बना-बनाया घरौंदा भी छूट जाता है...आदमी की इच्छाएं तो मौत के बाद ही ख़त्म होती हैं। आज उन्हें यह घरौंदा टूटने की कगार पर खड़ा हुआ प्रतीत होता है। लेकिन...वे इसे टूटने नहीं देंगे...

अब उन्हें बेटों की आज्ञा का पालन करना होगा?? वे सिहर उठते हैं। उनके दिमाग़ की नसें फटने लगती हैं, ऐसे में। उन पर कई निषेधाज्ञाएं थोप दी गई हैं... उनके पुत्रों की उम्र बढ़ने के साथ...उन्हें लगने लगा है कि वे छोटे होते जा रहे हैं...बौने होते जा रहे हैं। वे तो इस घर की रीढ़ थे। फिर एकाएक वे नेपथ्य में क्यों धकेल दिए जा रहे हैं? हाशिए पर फेंक दिए गए हैं वे। जीवन चक्र के व्यूह में पड़े वे अदने-से तो नहीं हुए थे, इससे पहले कभी...

आज पूरा एक सप्ताह हो गया है, उन्हें मोपेड को छुए हुए। वे छत से नीचे आंगन में लावारिस-सी पड़ी अपनी मोपेड को फटी आंखों से निहारते हैं और तरल हो जाते हैं। लेकिन, वे जाने कैसे अपने को संयमित कर लेते हैं। आंसुओं की धारा को सलीके से छुपाने का प्रयत्न करते हैं। आज रविवार है। छत पर धूप टुकड़ों में बिछी हुई है। आसमान में रंग-बिरंगी पतंगों की बेतरतीब उड़ान जारी है। तनु और शिवम् ऊपरी मंज़िल की छत पर चढ़े हुए, पतंगों की दुनिया में खोए हुए हैं।

एकाएक सुरेखा उनके पास आ गई थी, 'दादू जी क्या बात हुई? आप रो रहे थे ना?... आपको किसी ने कुछ कहा तो नहीं...?'

'नहीं पुत्तर, ऐसी बात नहीं...' वे खिसियाए थे।

'तो कुछ तो बात होगी दादू जी...'

'जाओ पुत्तर खेलो जाकर...मैं ठीक हूं...'

'तो नीचे क्या देख रहे थे? .... आप बात भी नहीं करते कुछ...?'

'मोपेड को देख रहा था पुत्तर...जो कबाड़ में तबदील हो रही है...तनु को बोलना... इसे कपड़े से साफ़ कर दिया करे...''

'कह दूंगी...दादूजी आप ही कह दें ना?...

'नहीं पुत्तर, ज़िद्दी है वह, कहीं बाप की तरह वो भी ना बिगड़ जाए...'

'सुनो दादू जी...आप पहले आंखें साफ़ करिए...इतने बड़े

होकर रो रहे हैं...रोते तो बच्चे हैं...'

'पुत्तर मैं भी तो अब बच्चा ही हूं...देखा नहीं सभी मुझे रोकते-टोकते हैं...बर्फ़ वाला पानी ना पीऊं...मोपेड पर ना बैठूं...ओवरकोट डाले रखूं, हर वक़्त थर्मामीटर मुंह में ना लगाऊं...चाय ज़्यादा ना पीऊं...', वे फिर बिफ़र पड़े थे। अबोध बच्चे की तरह सुरेखा के गले लग गए थे।

'आप चलाते क्यों नहीं अपनी मोपेड?' सुरेखा फिर बोली थी।

'तेरे पापा कहते हैं कि मैं गिर जाऊंगा...चोट लग जाएगी...बोल पुत्तर मैं कोई बच्चा हूं...? वे कुछ-कुछ संयमित हुए थे।

'नहीं दादू जी...आप तो हमारे दादू हैं...आप कैसे गिर सकते हैं...'

'तुम चलाना सीख लो ना...मैं तेरे पीछे बैठ जाया करूंगा'

'आप सिखा देना?'

'नहीं पुत्तर...मैं गिर जाऊंगा...तुम भी गिर जाओगी... चोटें लग गईं तो तेरे पापा हम दोनों को नहीं छोड़ेंगे...'

'नहीं गिरेंगे...आप तो गिर ही नहीं सकते...'

'झूठ कह रही हो पुत्तर...मुझे तो अब क़दम-क़दम पर गिरना है... बच्चा हो गया हूं नां?'

'दादूजी...आप बूढ़े हुए हैं, बच्चे नहीं...झूठ कहते हैं आप...'

'वही तो कह रहा हूं पुत्तर...समझ गई ना? तुमें क्या समझाऊं?'

तभी छत पर एक ख़ूबसूरत, रंगीन पतंग आकर गिरी थी, जिसे तनु ने लपककर पकड़ लिया था। उन्हें लगा था, उनकी जिंदगी भी तो अब पतंग की तरह ही है। जाने कब आसमान की ऊंचाइयों को छूती गई...कटकर औंधे मुंह किसी छत पर गिर जाए...और उसकी डोर किसी दूसरे की डोर से बँध जाए... वे आसमान को ताकने लगे थे।

शाम ढलते ही वे बिस्तर में आकर दुबक जाते हैं। खांसते हुए पूरी रात अभिशप्त हुए करवटें लेना अब आदत-सी हो गई है। अब तो नींद भी रात को ऐसे उचटती है, फिर रात भर डरावने ख़याल आना अब नियमित हो गया है।

वे सुबह उठते ही सबसे पहले भगवान का स्मरण करते हैं।

दीवार पर लगी कान्ता की तस्वीर को निहारते हुए मन ही मन उदास हो जाते हैं। इस उम्र में बीवी ही होती तो एकान्तवास की त्रासदी से तो बच जाते।

पिछले दिनों से उन्हें लगने लगा है कि वे उदास होते जा रहे हैं, वे हर साल एक साल छोटे होते जा रहे हैं। उन्हें उम्र का गणित अब समझ में आने लगा है। उम्र के समीकरण हल करते-करते आदमी हर-क्षण, क्षीण हो रहा है, उन्हें आज आभास हुआ है।

'रात भर क्या-क्या बूढ़ों की तरह खांसते रहते हो...दवाई क्यों नहीं लेते?' मंझले बेटे ने उठते ही कहा था, रोबीले स्वर में।'

'खांसता हूं तो पुत्तर क्या हुआ...बूढ़ा हो गया हूं ना?' वे बोले थे।

'वही तो मैं कह रहा हूं...दवाई लेने की भी फ़ुर्सत नहीं... दिन भर क्या करते रहते हैं?'

'कुछ भी तो नहीं पुत्तर...?

'अपनी सेहत का ध्यान तो रखा करो...आपको किसने

कहा था इतनी सर्दी में आईसक्रीम खाने को?...'

'किसने कह दिया...?'

'परसों गली वाले ब्याह में गए थे तो खाना-पीना तो परहेज़ से खाते...इस जाड़े में 'आईसक्रीम' की क्या पड़ी थी? अब आप जवान नहीं, जो ये चीज़ें पचा सकें...'

ऐसे ही दिल कर आया था पुत्तर...'

'दिल में जो आए, करो...फिर हमें ना कहना...बोलिए मुसीबत तो हम लोगों के लिए है ना?....अब शाम को दवाई अवश्य ले लेना...जोशी डॉक्टर से...'

'तुम आते वक़्त लेते आना...'

मैं रात को देर से लौटा तो...रह गई या बीच में...आप इसे सीरियसली क्यों नहीं लेते?'

'तू क्यों चिंता करता है...मैं ले आऊंगा...तनु को साथ लेकर...

'पता है, खांसी बिगड़ जाए तो...आपको क्या...रात-बिरात मुसीबत तो हमें ही झेलनी पड़ती है।'

'मुझे कुछ नहीं होगा...' वे अंतिम बात करते हुए, लेट गए थे।

वे सोचने लगे थे। जाने किस बात से तिरस्कृत होना पड़ा है, आज वे भीतर तक जड़ हो गए थे। क्या वे अब सदा ही बेटे-बहुओं की गुलामी झेलते हुए, उदासी के पहाड़ तले पिसते रहेंगे। उनके भौंडे आदेशों को वहन करते हुए, आत्मघाती समझौते की बैसाखियां थामे हुए, अंधे सफ़र में रेंगते रहेंगे।

अभी तो वे बैंक की बहियों में उनके ग्राहक हैं। बैंक खाते में उनके नाम अभी लाखों रुपए जमा हैं। नौकरी से जो मिला था, सभी बैंक में तो जमा है...पेंशन ले आने को भी अब मन नहीं करता। लगता है, वे पहले से और अशक्त हो गए हैं।

पिछले कुछ दिनों से उनके मन में डरावने से ख़याल आ रहे हैं...उम्र का क्या.. जाने कब ख़त्म हो जाए। ज़िन्दगी कब एकाएक चलते-घूमते लट्टू की तरह ठहर जाए...वे भीतर तक कांप गए थे। कान्ता का साथ छूटे हुए, पांच साल हो गए हैं...उन्हें बीवी की याद भीतर तक कचोटने लगी थी। अच्छा हुआ बेचारी छूट गई वरना आज उसे भी तिरस्कृत होना पड़ता। लेकिन एक कमी तो सदैव रहेगी ही उसकी, वे सोचते हैं।

उनके नाजुक दिल पर उस दिन एक बार फिर वज्रपात हुआ था जब उन्हें अपने करीबी दोस्त की डेथ की ख़बर मिली थी। वे दहल गए थे। दफ़्तर में कितने साल वे दोनों इक्कठे ही रहे थे। उसके बाद यदा-कदा मिलने आ जाया करते थे। उन्हें लगा था कि अब उनकी पारी भी ख़त्म होने वाली है, अब बहुत देर तक क्रीज़ पर टिक नहीं पाएंगे वे। इससे पहले पिछले साल ही उसकी उम्र के दो-तीन जने अपनी पारी ख़त्म कर गए थे। फिर उनकी क्या बिसात- फिर ज़िंदगी तो कभी-भी धोखा दे सकती है। तब उनके भीतरी मन पर ज़िंदगी की रंगीनियां उसर आई थीं। वे जीने के प्रति और गहरे से लालायित हो उठे थे। ज़िंदगी कितनी रंगीन है। अभी उन्हें तनु की शादी देखनी है। सुरेखा को इस घर से विदा होते हुए देखना है...कितने सपने तो हैं, जिन्हें एकसाथ उन्होंने दिल के धरातल पर उगा लिया था। लेकिन...सपने तो ढेर-सारे हैं और ज़िंदगी तो अंतिम पड़ाव पर चल रही है। जाने कब रूक जाए जिंदगी की गाड़ी...जाने कब एकाएक सब अंधेरों में डूब जाए। जाने कब...वे सहम गए थे, ऐसे में वे ऊंचे स्वर में 'हरि ओम...मेहर रखना मेरे भगवान' अलापने लगते हैं। तब वे देवी-देवताओं की कांच जड़ी तस्वीरों को नमन करने लगते हैं।

उस दिन, किसी रिश्तेदार से वे एकाएक शिक़ायतनुमा अंदाज़ में अपने ऊपर लगे प्रतिबन्धों का बख़ान करने लगे थे। प्रतिबन्धों की एक लम्बी दीवार अपने चारों ओर उसर आई प्रतीत हुई थी उन्हें।

'भाई साब आपने देख लिया ना, इस घर में मेरी क्या गति हो रही है...हर वक़्त मुझे टोकते रहते हैं, मेरे बरखुरदार, पुत्तर.. क्या इसीलिए इन्हें पाल-पोसकर बड़ा किया था कि एक दिन...मुझ पर आंखें तेररें...' उन्होंने गांव से आए किसी रिश्तेदार से गिला करते हुए कहा था।

'फिर भी..आप सहते जाएं...चुपचाप समय निकालें... मुझे देखो...मैंने भी सब झेला है...अब तो आंखें मूंदे हुए सब देखना-सहना है...? वह रिश्तेदार बोला था।

'फिर भी कोई हद होती है...हर वक़्त की टोका-टोकी.. .अच्छी है क्या?'

'इस उम्र में यही तो मिलना होता है औलाद से...समझते क्यों नहीं'

'मैं क्या कहता हूं इन्हें...दो जून रोटी ही खिलाते हैं ना मुझे...वो भी मेरी पेन्शन से...अपनी खा रहा हूं...'

'वो बात नहीं भाई साब...ज़माने की नब्ज़ समझिए...'

'कब से समझ रहा हूं...बच्चा तो हूं नहीं मैं...'

'आपके भले के लिए ही कहते हैं वे लोग...अब आप अपना ध्यान भक्ति में लगाएं...यह मन की भटकन, सब ठीक हो जाएगी...' इतना आदेश देते हुए, वह गांव वाले रिश्तेदार वापस चले गए थे।

वे उन्हें छोड़ने नीचे आंगन तक आए थे, धीरे-धीरे सीढ़ियां उतरते हुए, नीचे आते-आते वे हांफ गए थे। सच ही उन्हें अब छड़ी का इस्तेमाल करना चाहिए... फिर कितनी बार घर के दूसरे लोग भी तो इसके लिए इसरार कर चुके हैं। उन्हें लगा था, अब सच ही जिन्दगी के इस पड़ाव पर चलते वक़्त छड़ी की ज़रूरत है... फिर लोग तो शौक़ से छड़ी लिए सैर को जाते हुए निकलते हैं...उन्हें तो ज़रूरत है इसकी-

उन्हें स्मरण हो आया था कि आज से तीस साल पूर्व जब आशीष कॉलेज के टूर पर गया था तो वापसी पर बम्बई से वह उनके लिए बहुत ख़ूबसूरत नक्काशी वाली लकड़ी की छड़ी लेकर आया था। वे तो जलभुन गए थे। उन्होंने आशीष को डपट दिया था, 'मेरे लिए यही गिफ़्ट मिला तुमें?? शर्म नहीं आती, बाप को ऐसा गिफ़्ट देते हुए?'

'बाऊजी, इसमें बुरी बात कौन-सी है...मुझे अच्छी लगी,बस ले आया।

'कमबख़्त इसे लेकर मैं क्या करूंगा?'

'रख लीजिए बस...' उसने इसरार किया था।

'अभी से बूढ़ा समझ लिया मुझे?' वे आग बबूला हो गए थे।

'ऐसी बात नहीं, आप तो ऐसे ही बात को खींच रहे हैं. ..'

'ले जा इसे...' उन्होंने छड़ी को दूर पटकते हुए कहा था।

और आज उसी छड़ी से वे इधर-उधर घूमते हैं तो लगता है उस दिन आशीष को डपटना नहीं चाहिए था। चीज़ें कभी तो काम आ जाती हैं। चीज़ों का निर्धारित संमय, काल होता है बल्कि आदमी की ज़िंदगी का समय निर्धारित नहीं है।

वे अपनी मोपेड को एकाएक फटी आंखों से जब कभी निहारते हैं तो भीतर तक जड़ हो जाते हैं, अब इसका प्रयोग शायद ही कर पाएं कभी वे, कितनी गर्द चढ़ आई है उस पर, किसे सुध है कि इसकी सफ़ाई करे। उन्हें याद है, हर बार घर से निकलते वक़्त इसकी सफ़ाई का क्रम नियमित हुआ करता था। अब भी इसके कलपुर्जे ज्यों के त्यों अच्छी हालत में हैं, इसका बख़ान वे फ़ख्र से करने से अब भी नहीं चूकते। अब मोपेड लावारिस-सी पड़ी रहती है सारा दिन। पक्षियों की बीटों से और भी गंदला गई है। वे देख दहल जाते हैं। किसे कहें अपने मन की व्यथा...किसी के पास समय ही कहां है। बेटों-पौत्रों को तो अपनी मोटर साइकिलों से ही फुर्सत नहीं. ..सारा दिन खटर-पटर में निकाल देते हैं- कभी इधर-कभी उधर, मोटर साइकिलों का धड़ाधड़ सड़कों पर भागना निरन्तर जारी है...उनका,

पूरा दिन छत पर फैली गुनगुनी धूप में बैठकर निकाल देते हैं।

वे इत्मीनान की सांस लेते हैं कि एक दिन ठीक से निकल गया। लेकिन रात ढलते ही वे डर जाते हैं...डरावने सपनों से...अजीब से बेसिर-पैर ख़यालों से...सबसे बढ़कर डंसनेवाले एकान्तवास से...सच ही अकेलापन रात उतरते ही उनके वजूद को मटियामेल करने को उतारू हो जाता है। दिन भर घर की चहल-पहल में निकल जाता है। कभी-कभी तो वे पूरे दिन एक बात किसी से करने को भी तरस जाते हैं. ..सभी तो अपने-अपने कामों में व्यस्त रहते हैं। कभी कभार टेलीविज़न से न्यूज़ चैनल पर ख़बरें सुन लेते हैं या कभी छुट-पुट सीरियल...लेकिन सीरियलों में वे स्वयं को रमा नहीं पाते... एकाएक परलोक सिधारी बीवी का स्मरण हो आता है।

रात को सोते वक़्त तो वे और भी अकेले हो जाते हैं। सभी तो अपने-अपने बेडरूमों में जा घुसते हैं। रात को कई बार उन्हें जब कभी ज़रूरत होती है तो वे किसी को नींद से उठाने के बजाय स्वयं यंत्रणा झेल लेते हैं। खांसते हुए बस कराहते रहते हैं।

सुबह उठते ही बहू ने कहा था, 'रात भर खांसते रहते हैं आप...किसी को उठा क्यों नहीं लेते...दवाई खा रहे हैं ना?'

'दवाई ख़त्म हो गई है बहू..ले आऊंगा...' वह निरीह हो उठते हैं।

'रात-भर सो नहीं पाए...सभी...आप दवाई खाइएगा...'

'अब थोड़ा चैन मिला है...रात को बहुत तकलीफ़ रही. .. चाय बना दो एक कप...आशीष उठ गया क्या?...कुछ दिनों से दिखा नहीं...?

'वे यहां नहीं हैं...टूर पर गए हैं...दफ़्तरी काम से... यहां होते तो आपसे ना मिलते...फ़ोन आया था...आपकी ख़ैरियत पूछ रहे थे...'

'सच कह रही हो बहू...?', उन्होंने भयभीत हुए से पूछा था। बहू साड़ी का पल्लू पटकते हुए रसोई में चली गई थी।

उन्हें लगा था, दवाइयों की तो मात्र बैसाखियां हैं। इनके सहारे कब तक चल पाएंगे वे? आख़िर खिलौने की चाबी तो ख़त्म होनी ही है ना एक दिन...उन्हें अब मन को पक्का करना है...सबसे बढ़कर ख़त्म होती पारी का भय मन से हटाना है...और एक अहम फ़ैसला उन्होंने किया था कि आज से रिश्तों की संवेदनशीलता की डोर को सदैव के लिए तोड़ देना है....अभी तो उन्हें जीना है...मरने के भय से वे एकबार फिर कांप गए थे...बस अनमने से छत की ओर निहारने लगे थे...।

1288, लेन-4, श्रीरामशरणम् कॉलोनी, डलहौज़ी रोड, पठानकोट (पंजाब) 145001

जसवन्त सिंह विरदी

अग्नि परीक्षा

कुलीन वर्ग के लोगों ने महान लेखक का माटी का बुत बनवाया और प्रसन्न हो गए-

'ठीक है, वैसा ही है, बिल्कुल।'

'आप जानते हैं?' आवाज़ें उभरीं

'नहीं!' और आवाज़ें

'फिर?'

'तस्वीर में देखा है!'

'हां, तस्वीर में ही...!'

'काश हम उस समय होते!'

'अड़सठ वर्ष पूर्व?

'हां...

'होते'

'मगर नहीं थे,'

'क्यों?'

फिर आवाज़ें उभरीं- 'अबकी बात करें'

'बिलकुल ठीक है...'

कुछ और लोग कह रहे थे-

'फिर भी देखो, वैसा ही चेहरा!'

'और मूंछेर भी।'

'आंखों में ज्योति भी?

किसी और ने पूछा- 'बुत किस ने बनाया है?'

'मिल गए थे कुछ लोग।'

'उस वक़्त के?'

'हां, 1936 के...'

'तभी इतना असली...?

'आप देख लीजिए?

'क्या?'

'जान/प्राण ही डालने शेष हैं!'

कुछ और बुद्धिजीवियों ने कहा 'शर्म आनी चाहिए!'

पूछा गया 'क्यों?'

'हम तो उसे जलाने जा रहे हैं!'

'मगर मुकदमा?'

'उसका कुछ भी फ़ैसला हो...'

'मगर?'

'अब निर्णय ले चुके हैं...'

आवाज़ें आने लगीं- 'तो उठाइये इसे!'

'क्यों?'

'श्मशान जाने को!'

'हम उठाएं?'

'और कौन?'

'अचरज...'

'वे कहते हैं'

'क्या कहते हैं?'

'हम एक बार, जला चुके...'

'कब?

'1936 में!'

'सच कहते हैं!'

फिर आवाज़ें आने लगीं- 'मगर उनका ही काम है...'

'हां, शव को जलाना'

'मगर?'

'क्या?'

'यह माटी का बुत?'

'हां, हमारे लिए शव ही है...'

'मगर?'

फिर सलाह-मशवरा होने लगा,

'होरी को बुलाओ!'

'क्यों?'

'वही उठाए इसे!'

'वह तो वैतरणी पार कर गया था...'

'कैसे?

'इसी के कारण!'

'नहीं हो सकता।'

'आप को पता नहीं उसकी बीवी धनिया ने सूतली कातकर जो चौबीस आने कमाये थे, गोदान में दे दिये थे...दातादीन पंडित को बुलाकर...

'हां, सच है।' किसी ओर ने कहा- 'मुझे स्मरण है- धनिया ने कहा था-

'पण्डित जी, न घर में गाय है, न बछिया...यही चौबीस आने पैसे हैं, इन्हें ही इनका गोदान समझ लीजिए...'

'और वह पछाड़ खाकर गिर गई थी...'

'लेखक खुद को आम आदमी का मसीहा समझ रहा था...'

- किसी और ने आपत्ति की, "मगर मैं पूछता हूं कि दातादीन ने चौबीस आने पैसे क्यों लिये?"

'बिल्कुल ठीक है'

'क्या ठीक है?'

'नहीं लेने चाहिये थे'

किसी और कहा- 'नहीं लेने चाहिये थे, क्योंकि लेखक तो गोदान की परम्परा का मज़ाक़ उड़ा रहा था...

'शायद उसके मन में था कि कुलीन वर्ग के लोग गोदान करके बैकुंठ में जा सकते, हैं तो दलित होरी क्यों नहीं जा सकता? भीड़ में शोर होने लगा- 'क्या यह बात थी लेखक के मन में?

'अवश्य होगी'

'कैसे पता चले?'

'गोदान पढ़िये- '

'नहीं पढ़ते...'

'हां, हम उसे शव समझते हैं...'

'फिर उठाओ शव को!'

'क्या?' 'हांऽऽ...'

फिर कुलीन वर्ग के कुछ छोकरों ने कहा-

'हम उठाते हैं!'

'आदमक़द है!'

'तब भी उठाएंगे!'

'माटी का है!'

'तब भी!'

'टूट न जाए!'

'टूट जाए!'

'नहीं, हम इसे जलाना चाहते हैं!'

'और जो 1936 में?'

'लगता है, जला नहीं था!'

'अब कैसे पता चले?'

'हमारे पूर्वज बता सकते थे!'

'वे अब नहीं हैं!'

'और यह कुलीन वर्ग के विरूद्ध लिखने वाला बचा रहा...क्यों? शोर उभरा- 'अब नहीं बच पाएगा...हम ने कोर्ट में भी इसके विरूद्ध मुकदमा किया है...'

'अब नहीं बचने देंगे!'

'फिर उठाओ!'

बुत भारी था, माटी का था मगर ठोस था। इस बात पर सहमतिन हो पाई थी कि संगमरमर का बनवा लिया जाए कि नहीं?

'आख़िर क्यों?'

'फिर भी पापुलर है।'

'हम उसे देवालय में स्थापित करें?'

'नहीं,' बिलकुल नहीं...'

'फिर काठ का बनवा लेते।' कुछ छोकरों ने कहा तो उन्हें फिटकार मिली- 'क्या उठाना नहीं चाहते?'

'यह बात नहीं।'

'फिर उठाओ!'

'अच्छा, उठाते हैं...'

पीछे से कुछ लोगों ने कहा- 'देखिये, मर चुके लेखक की माटी भी भारी है...'

आगे से आवाज़ उभरी- 'है नहीं, केवल भारी लगती ही है...'

'फिर भी उठाइये!'

महान लेखक के बुत को उठाकर श्मशान में ले जाया गया और जल्दी से उसे अग्नि दिखा दी गई...मंत्र नहीं पढ़े गए...

'अब नहीं बचने का!' आवाज़ें उभरने लगीं-

'कैसे बचेगा?'

'हम नहीं बचने देंगे।'

'क्योंकि हम उसे नहीं मानते...'

अग्नि जलती रही मगर कुलीन वर्ग के उन लोगों ने देखा कि महान लेखक को जला डालने का जो पवित्र कार्य उन्होंने अपने हाथ में लिया था, उसमें वे लोग सफल नहीं हो पाये थे।

'और ईंधन...'

'और ईंधन...'

'क्यों?'

'जला कर रहेंगे...'

'बिलकुल जलाकर उसकी कीर्ति को...'

'क्या कीर्ति?'

'हां, कीर्ति...मगर?'

एक और शोर उभरा;

'हैं...यह क्या हुआ?'

'क्या हुआ?'

'अग्नि ने माटी को ठोस बना दिया है!'

'क्या कहते हैं?'

'देखिये, माटी जलकर ठोस रूप में...'

'बुत का क़द भी बढ़ गया लगता है।'

'नहीं....'

'आप देखिये!'

'हां, लगता है!'

'फिर?'

'हम...?'

'इसे यहीं छोड़ दो...'

'क्यों?'

'हमने जला दिया है'

भीड़ बिलबिलाने लगी- 'क्या इतना ही काफ़ी है...?'

'और क्या करें?'

'लेखक की कीर्ति...?'

'जल जाएगी...खुद-ब-खुद...'

कुलीन वर्ग के वे लोग महान लेखक को फिर से जलाकर घरों को जा रहे और सोच रहे थे- ' अब कबीर की बारी है।'

'फिर नानक की...'

'मगर...?

उसी समय उन्होंने देखा कि उनके मार्ग में अग्नि देव जी खड़े थे, विराट रूप में।

सबने नमस्कार किया!

फिर कहा- ऋग्वेद में सबसे पहले हमने आपकी ही प्रशंसा की है।'

अग्नि देव ने पूछा- 'तुम कौन हो?'

सबने विनम्र भाव से कहा- 'हम देश का कुलीन-वर्ग हैं।'

अग्नि देव ने फिर पूछा- 'कहां से आये हैं?'

कुलीन वर्ग के लोगों ने कहा- 'एक लेखक जीवन भर हमारे विरूद्ध लिखता रहा...'

'फिर?' अग्नि देव ने पूछा- फिर?

'उसने अपराध किया...'

'तब?'

'हमारे मन में रोष था!'

'अच्छा!'

'उसकी कब्र होती तो कंकाल निकालकर जलाते...'

'अब?'

'उसका माटी का बुत जलाया है!'

अग्निदेव ने पूछा- ' फिर वह जल गया?' लोग एक-दूसरे की तरफ़ देखने लगे। फिर एक छोकरे ने कहा- 'वह नहीं जला। अग्नि देव ने पूछा- 'तुम्हें पता है, वह लेखक कौन है?'

कुलीन लोगों ने कहा- 'पता है, वह प्रेमचंद था...'

अग्नि देव ख़ामोश रहे तो लोगों ने गुहार लगाई- 'हम प्रति दिवस आप का यशगान करते हैं।'

'फिर?' अग्नि देव ने कहा- 'फिर क्या चाहते हैं?'

भीड़ में खुसर-फुसर शुरू हो गई... लोगों ने कहा- 'आपने भी हमारी सहायता नहीं की!'

'मैं क्या करता?' अग्नि देव ने पूछा।

'आप उसे जला सकते थे।' लोगों ने कहा।

सुनकर अग्नि देव ने कहा- 'नहीं...'

'कयों?'

'वह आम आदमी का लेखक था!'

'फिर क्या था!'

अग्नि देव ने दृढ़ भाव से कहा- 'नहीं, प्रेमचंद को मैं अग्नि देव भी नहीं जला सकता...।'

96-गोल्डन एवेन्यू-1, जालन्धर-144022

रेखा व्यास

फत्ती

अम्बामाता वाले घर में आये तो यहां किसी का भी आना अच्छा लगता था। एकदम सुनसान था। पहले यहां श्मशान था। कई बार दूर-दराज मुर्दे देखे जा सकते थे।

इस घर में अक्सर एक मंगती आया करती थी। थी तो काफ़ी बूढ़ी पर उसकी चाल अच्छे-अच्छे जवानों को भी मात देती थी। बड़ी बहिन कहती थीं कि ये डाकणें (डायनें) होती हैं। क़भी तुम्हें लग भी सकती हैं। खा भी सकती हैं। मैं डर गयी। टीचर का नाम लेकर ये साफ़ बता दिया कि भीख मांगना अपराध है। पाप भी है। अब जीजी उसका पक्ष लेते हुए बोलीं कि ये भी इतना चलती है। दुआ देती है। मुझे उनकी ये बात ख़ूब अच्छी लगी।

मां कहती है ये पीहर की मंगती है। मेरी मां ने इसे भेजा होगा। वह तुम्हारे बाप द्वारा इस जंगल में घर बनाने से दुखी है। चिन्ता करती है। किसी ने उन्हें बता दिया है कि कभी-कभी सज्जनगढ़ के जंगल से शेर भी उतरकर आ जाता है। इस मंगती को भेजकर जैसे वह ही हमारा हाल पूछ जाती है। औसान (सावधानी) भी रख जाती है।

इमारा घर बीच में बना हुआ था। वहीं पहले आकर हल्ला करती थी। 'ए धरम करो, ए धरम।'

देने वाले दाता राम

लेने वाले सही भगवान...

उसकी आवाज़ सुनकर जब हम बाहर आ जाते तो उसकी अशीषें शुरू हो जातीं। जंगल में मंगल हो...ठंडा बासी देओ रे... मुझे देखते ही कहती थी कि ए सोला भतीजां री भुआ वीजो री... भाई कहता तू और मंगतों की तरह इसे छोटी-सी मुट्ठी भरकर आटा मत दिया कर। इसे धबाधब नारियल की कोटर भरकर आटा दिया कर। आशीर्वाद मुझे दे रही है...? मेरे ही लिए तो दे रही है। जीजी भी कहने लगीं कि मर्द कितना ही छोटा क्यों न हो, उसे ख़ानदान चलाने का हौंस भगवान शुरू से ही दे देता है।

एक बार सबके मज़ाक़ करने पर भाई ने मंगती से कहा, 'सोलह भतीजे तो तुम्हारी भुआ के हो जाएंगे पर मुझे तो कटोरा लेकर तुम्हारे साथ चलना पड़ेगा...' चमकीली आंखों वाली फत्ती हंसी- 'ए लाला, असो मती बोल। हमारे तो एक भी भतीजा नहीं है और हम कटोरा लेकर घूम रहे हैं। आज एक-दो ही होते तो ये दिन तो न देखना पड़ता। तेरे नसीब खुलें, बरकत हो...भगवान जगाये भाग...।

एक बार ऐसे ही किसी अवसर पर फिर दोनों के बीच नोंकझोंक होने पर बहुत मज़ा आया। फत्तीबाई, तुम्हारी इस शैतान भुआ के तो

सोला-भतीजे हो जाएंगें पर मेरी औरत तो मर ही जाएगी और मैं... ।

नहीं बेटा, नहीं, औरत दुःख से मर जाती है पर बच्चे पैदा करने से नहीं । तुम्हारे घरों की औरतें तो 15-15 किलो का जापा खाती हैं । हमने तो सादी रोटी पर नौ जण लिये । ये तो हमारे फूटे करम जो एक भी जीता नहीं बचा । तभी तो इस बुढ़ापे में भी कमाकर खाना पड़ रहा है । मांगना भी कमाना है, यह मुझे उसी दिन पता चला ।

थोड़े दिन बाद वह बंदरिया रखने लगी । उसका आशीर्वाद बदस्तूर जारी रहा । मां भी खुश होती थी । मां धूप में बैठी होती तो वह बड़े हक् से बैठती । उस दिन तो कुछ गाती भी थी । बालो पांखो बार आयो...उसकी लय और धुन पकड़ना हमारे बस में न था । मोहल्ले के तमाम घरों की बातें उस दिन होतीं । मां को घर बैठे ही सारी सूचना मिल जाती । किसका जापा हुआ...कौन मरा, कौन जीया...कब किसके यहां शुभाशुभ काम हुआ । कब आगे होने वाला है । वह बातें करती-करती बंदरिया को लाड़-लड़ाती जाती थी । वह मेरी मां को उनके घर के नाम से बुलाती थी सम्पत । ये मेरी अदवार है । बूढ़े शरीर से कमाया नहीं जाता । यही मुझे कमाकर खिलाती है ।

हमें, उसका हमारी मां के साथ घंटों इस तरह गपियाना पसंद नहीं आता था । कुछ कहने पर मां डांटती हुई करती थीं, ये तब से हमारे घर में मांगने आती है जब मेरा तक इस दुनियां में अता-पता न था । यह भगली की पोती है । इसकी दादी हमारी दादी के समय से भीख मांगने आती थी । ये लोग हमसे बहुत बड़े होते हैं । खाने-पीने और अपनी ज़रूरत के अलावा किसी चीज़ में इनकी रूचि नहीं । ये हमारी तरह जोड़-जोड़ कर नहीं रखते । जवानी में ही बुढ़ापे की बात नहीं सोचते । कहते हैं नीचे धरती मां और ऊपर आकाशदेव हमारे हैं...चांद देव, सूरज देव हमारी निगरानी करते हैं ।

उसकी मां का नाम जत्ती था, उसे लोग जत्तूड़ी कहते थे । इसे फत्तूड़ी । जबसे हमारा छोटा भाई लच्छू मरा तब से जत्ती ने आना बंद कर दिया । कहती थी कि जिन टाबरों के हाथों से भीख ले-लेकर पेट पोसा अब उन्हें नहीं देखती हूं तो मेरी भूख भी मर जाती है । घंटों रोती थी वह उनके लिए । हमें उसे सबूरी देनी पड़ती थी ।

भाई की शादी के बाद फत्ती की दुआ के रंग लाने का इन्तज़ार कर रहे थे । एक दिन भाभी ने उससे कहा यहां तो एकाध में ही हालत पतली है और तू सोला की बात करती है । फत्ती को ये तू-तड़ाक अच्छी न लगी । उसने मां से बहू की शिक़ायत की । पुश्तों से इस घर में आ रही हूं । मेरे पूरबजों ने भी इस घर का खाया है । ये तो परायीजायी है । आज इस घर में आयी है । मैं तो इसकी सास से भी बड़ी हूं । मुझसे ऐसी उघाड़ी बातें करते शरम नहीं आती? इसे कह देना आज से ही मेरा घूंघट निकाले ।

मां ने तब बहू को समझाया-छोटे लोगों का स्वाभिमान । तब से भाभी लिहाज़ करने लगीं । यदि ये लोग ऐसे नहीं होते तो ये भी ख़ूब बड़े हो जाते । चाहे कैसा भी क्यों न हो, ये अपना ख़ानदानी काम नहीं छोड़ना चाहते । फिर ऐसे सबर और संतोष से क्या हम जी सकते हैं ।?

पिताजी ने अपने हिसाब से फत्ती को समझाया, भाभा, ये नये ज़माने की बहू है । कुछ दिनों बाद बाल कटाकर पैन्ट पहनकर हाथ में कुत्ता लेकर घूमेगी । फत्ती ने राम-राम कहकर कान पकड़े । भाई से बोली ए रे छोरे, तू इस छोरी को कायदे में रखना सीख वरना पानी सिर से उतर जाएगा । भाई ने डरकर पूछा अब सोला भतीजे होंगे कि नहीं?

वह बोली मैं ऐसी लालचण नहीं हूं। मैं तो इस लड़की को आशीर्वाद दे रही हूं । मुझे उससे क्या लेणा-देणा ।

कुछ ही दिन बाद हमारा चांद-सा भतीजा हुआ । हम गद्-गद् हो उठे । दिन-भर काम निबटाकर रात को हस्पताल में मिलने गयी । ज्यों ही गोद में लिया इतना ज़ोर-ज़ोर से रोने लगा कि सब लोग इकट्ठे हो गये । मैं अपराध-बोध से ग्रस्त हो गयी । तुतलाती बोली में जैसे उसके गर्भस्थ होने पर बातें करनी शुरू की तो हं...हं...करने लगा ।

हमें सबसे पहले फत्ती की याद आयी । भाभी जी ने भी मन से उसे याद किया । फत्ती न दिखी । लोगों से सुना कि कहती है, मूल से भी ब्याज प्यारा लगता है ।' मैंने उन्हें दुआ दे दी । वो फल गयी । अब उन्हें जो देना हो मेरे घर आकर देंगे । हम गये मुल्लातलाई । वह चकित रह गयी । गद्गद् हो उठी । मां ने बहू के प्रति उसकी नाराज़गी दूर करने के भाव से कहा बहू भी सवा महीने बाद आएगी । वह मां को डपटते हुए बोली । क्यों? भूत-प्रेतों के रास्ते पर नयी जचगी के बाद कैसे आ जाएगी मेरी बहू । तुम्हारा ख़ानदान चलाया है आगे । उसका एहसान मानना । छुट्टियां लेकर बहू की सेवा करना । जापे के पूरे परेज़ कराना । ख़ैर हमने उसे उसका नेग दिया । नये कपड़े देखकर मुंह बिचकाकर बोली हैं! कौन पहनेगा इन्हें, मुझे क्या नाते जाना है? पुराने ही ले आती, कम से कम उन्हें पहनती तो सही ।

एक छोटी-सी कुटिया में रहती थी फत्ती । दो चार जोड़े कपड़े, झोले । कुछ कपड़ों की बन्दनवारें । बर्तन और टूट-फूट की चीज़ें, यही था उसका वैभव । वह बच्चे के बारे में तमाम बातें पूछती रही ।

फत्ती हमें घर तक छोड़ने आयी । हम उसका टोला देख आये । मुझे फत्ती का आशीष, मेरे भतीजे का रूदन और भाई के शब्द, 'यार ये तो अकेला ही सोला के बराबर है', बार-बार याद आ रहे थे ।

797, मुख्य सड़क, तिमारपुर, दिल्ली

शुभदा पांडेय

बनकर देह-दर्शक

(नंदन जी की स्मृति में)

एक निश्चित उम्र के बाद
आदमी नहीं रह जाता देह
बन जाता है देह-दर्शक
क्योंकि स्वामीत्व, सुकांत
और सौष्ठव की मनुभूति से
बना रहता है देह-बोध
किन्तु जब ध्वस्त होने लगती हैं दीवारें
भुरभुरा कर गिरने लगता है- चूने का रंग
टपकने लगती है छत
खिड़कियों की सिटकिनी
हो जाती हैं ढीली
दरवाज़ों के कब्जे नहीं रहते बस में
कंगूरों की फसल
चर जाती है असमय नीलगाय
आंगन की बूंची अमराई में
नहीं कूकती कोयल
बरामदे की बैठक में
रोती है टूटी खाट
लालटेन, अन्तर्देशीय, टेकुरी
चकरी, ट्रान्जिस्टर, सिलपट्टा
बुरादे की अंगीठी
न जाने कितने शब्द
खोजते फिरते हैं अपनी खोल
जैसे अंतड़ियां पूछती हैं यकृत से
अपने संबंधों का नाम
बिन देखे ही हृदय की नसें
कराती हैं एहसास अपने पार हो जाने का
किडनी कहां है?
जानने लगता है शरीर
बंद करता है चीनी, नमक, मसाला, तेल
रीढ़ की हड्डी बन सकती है
नासूरियत पता नहीं
सिर जब करता है विद्रोह
झंझना जाता है शरीर
ये सब ख़ूब जानते हैं लोग
पर तुम जानते थे इससे परे हो जाना
हँसते-हँसते
इसीलिए वीरान महल की
खुशहाल मुस्कान बन
पार हो गए वो सारे संत्रास
बनकर देह-दर्शक

असम विश्वविद्यालय, शिलचर
(असम)

बसन्त कुमार परिहार

आदमी अभी ज़िन्दा है

शहर में
दंगों के बाद
सड़क के किनारे
लावारिस
कटा पड़ा मिला था मुझे

एक आदमी का सिर
जिसकी शिनाख़्त
लाख कोशिश करने पर भी
नहीं हो सकी थी -

उसे उठाकर
मैंने
उस मूर्ति पर रख दिया है
जिसे मैंने कुछ दिन पहले
बनाना शुरू किया था -

चेहरे को रंग दिया है
सड़कों पर छितरे ख़ून से
ताकि आगामी दंगों के बाद
इसे पहचानने की कोई कोशिश न करे।

मस्जिद की टूटी मीनारों को
औंधे मुंह खड़ा कर दिया है
टांगों की जगह...
और यह जो घंटा लटका हुआ है
मूर्ति के गले में

मुझे
एक ध्वस्त मंदिर की

देहरी पर मिला था!
क्रॉस पर टंगी ईसा की मूर्ति ने
जिस कांटों के ताज को
गली के नुक्कड़ में फेंक दिया था
उसे उठाकर
मैंने
अपनी मूर्ति के सिर पर
रख दिया है!
आंखों की जगह दो अंगारे
इस बात का सबूत हैं
कि नातवां ही सही
पर आदमी
अभी ज़िन्दा है
और वह कर सकता है
अभी-भी कोई करिश्मा!

गले में डालकर
एकता समता और सामंजस्य की डोरी
अपनी इस मूर्ति को
चौराहे पर लटका दिया है मैंने
और मुझे उम्मीद है
कि आप अवश्य पहचान लेंगे इसे।

कविता

कुछ कहता है दर्पण

मैं क्यों चाहता हूं
कि दुनिया उधर न चले
जिधर मैं नहीं चाहता...
उधर चले जिधर मैं चाहता हूं!
मैं क्यों चाहता हूं
कि मेरे परिजन
वह न सोचें जो वे सोचते हैं....
वह सोचें जो मैं सोचता हूं।
मैं क्यों सोचता हूं कि वृक्ष
वैसे न बढ़ें, फलें
जैसे वे बढ़, फल रहे हैं
वैसे विकसें
जैसे मैं उन्हें
अपनी टांगी से छांगता हूं, तराशता हूं...

बेतरतीब-सी क्यों उग आती है घास
फफूंद जमे मेरे चौबारों पर...
क्यों कुलबुलाते रहते हैं
हर्षोल्लास में गुबरैले
सड़े गोबर की घिनौनी वीथियों में -

गन्दी नाली में क्यों बसा-रचा रहता है
जन्तु -
धरती की परतों के अंधेरे में
क्यों घिसटता रहता है केंचुआ -
बार-बार कटने पर भी
क्यों पुंगरती है घास -
बांधने पर भी क्यों नहीं बंधता
सागरोन्मुख नदियों का जल?
क्यों हुआ जा रहा है
यह सब कुछ निरन्तर?

मेरा दर्पण
कहता है मुझसे
क्यों दिखना चाहते हो तुम वैसा
जैसा तुम दिखना चाहते हो...
वैसा क्यों नहीं
जैसा मैं दिखाना चाहता हूं
या
जैसा तुम्हें दिखना चाहिए!

गुमशुदा मेरे वजूद का अता-पता
जिसे मैं ढूंढ़ रहा हूं ताहाल
शायद यह दर्पण बता सकता है!

1/1, पत्रकार कॉलोनी, अहमदाबाद

ओमीश परुथी

हम जिधर लौट रहे हैं

हथियारों के जख़ीरों पर
होकर खड़े, साल-दर-साल
कबूतर उड़ाने वाले
मानव को बम में बदलने में माहिर
दिखाकर जन्नत के रंगीन उजाले
गंगा में जाकर धोते हाथ
बस्ती विधर्मी की कर आग के हवाले
कुदरत की कोख में ड्रिलिंग कर
विज्ञानवान खुश होने वाले
जिस ओर किए मुंह लौट रहे हैं
जी हां 'लौट' रहे हैं
उस ओर किसी दिन, किसी पल
सारा मंज़र जाए उजड़
जहां सारा चीथड़-चीथड़
धराशायी घरौंदे, स्कूल, अस्पताल
जले-सड़े घर, कुएं व ताल
बातूनी, बस्ताधारी बच्चे
हो जाएं जलती लपटों में 'फ्रीज'
फट जाएं नदियां सहस्रमुखी होकर
दरके सीने सड़कों के
उगलें धाराएं विकराल व काली
तो अचरज न होगा
आज के द्वेषाक्त आणविक परिवेश में
मकई की जगह मिसाइलें उगाने की रेस में
यह अघट तो नहीं
जितने विलम्ब से हो हैरानी होगी
धरा को कितनी ग्लानि अभी उठानी होगी
तब तक ख़ाक हो चुकी इस दुनिया में
बाज़ारों, बगीचों में खुदी कब्रगाहों में
मकानों में घुस आईं श्मशानों में
ढूंढ़ने पर भी नहीं मिलेंगे
जीवन, जन या सभ्यता के निशान
और ढूंढ़ेगा भी कौन?
अंधे, अपाहिज, गूंगे या मौन
शायद कोई कोख दिव्य
बचे सलामत।
यदि हो भी गया ऐसा चमत्कार
तो इस नवजात के पास
खाने को क्या होगा
सियाह, टूटे फ़र्श की दरार में
गली-सड़ी मिचमिचाती,
पन्नी लिपटी टाफी
पीने को विषैला धुंआ व अंधकार
खेलने को अधजले सेलफ़ोन का एक
टुकड़ा
और देखने को
मां का झुलसा भवोंविहीन मुखड़ा
तसल्ली होगी तो बस इस बात की
कि उसके समक्ष
न धर्म होगा, न मत, न सम्प्रदाय
न मंदिर, मस्जिद या गिरजाघर
और न ही पूजा का कोई अन्य उपाय
स्वस्तिक, कैन्डिल, अजान या गाय
वह नहीं जान पाएगा
कि प्रभु ईसा व अल्लाह भी कभी होता था
पुजारी, पादरी और मौलवी जिसे ढोता था
मानव को बना अमानव
खुद चैन से सोता था।

463, सेक्टर-14
सोनीपत, हरियाणा

शशि प्रभा

फैलता मीडिया का संसार

तीखी है धूप
नहीं चांद में सामर्थ्य
सोख ले
सूर्य का असहनीय तेज
भस्म होता बचपनपन
भटकता कैशोर्य
खटती जवानी
टीसता बुढ़ापा
रोज़-ब-रोज़
मीडिया के लिए
जुटाता समाचार
फैलता मीडिया का संसार
दुकानें सजी हैं
सब बिकता है
दुःख-दर्द भी
बनकर
चटपटा, मसालेदार

2532, सेक्टर-40-सी, चण्डीगढ़

देवेन्द्र कुमार मिश्रा

पेट के लिए

मैंने कहा
तुम्हारी भविष्यवाणी
तुम्हारे चमत्कार
तुम्हारा योग
तुम्हारे प्रवचन
तुम्हारी राम कथा
तुम्हारा भागवत सप्ताह
ये तो ठीक है
लेकिन पेट के लिए क्या
मैं भूखा हूं
वे बोले-मूरख ये सब
पेट के लिए ही तो है
चाहो तो तुम भी
बगल में दुकान लगा लो।

दुकानदारी

उसने कहा
हां मैं धर्म हूं
मैं निष्काम कर्म हूं
मैं संस्कार और शर्म हूं
मैं परम हूं, पावन हूं
मैं भक्त हूं
मैं ज्ञानी हूं
ध्यानी हूं
संत हूं, महन्त हूं
और चलने लगी
उसकी दुकानदारी
पूरे ज़ोर-शोर से।

पाटनी कॉलोनी, भरत नगर,
चन्दनगांव-छिन्दवाड़ा (म.प्र.)

सुदर्शन प्रियदर्शिनी

यौवन

यौवन की
खाट
पर तरसती
तमन्नायें
कहर ढाती हैं...।
जब कोई
मद-धूर्त
मन्दान्ध
हाथ - पांव
आरी - बनकर
छीलते हैं
कचनार की
डाल ...
तब कहीं
सो जाता है
साहिर
और वारिस शाह
और डूब जाती है
सोहनी
कच्चे घड़े के
साथ...।

Dr. Sudarshan Suneja
246 Stratford Dr.
Broadview Hts. OH-44147

पुष्पधर शर्मा

तलाश

देखो,
वह तुम्हें अब भी ढूंढ रहा है
गिरे हुए कल के सूखे पत्तों के बीच
बीती रातों में।
मैं सोचता हूं
जब वह तुम्हें ढूंढने निकले
तब उसे सँभालने
किसी दिशा से
काश, आ जाए एक तूफान!
अनायास, रास्ते तक निकले पाँव
किसी को ढूंढ रही आंखों से
इस व्यस्त आकाश अथवा
उघड़े व चिथड़े आदमियों के झुण्ड में
क्षण-भर के लिए ही सही
तुम कहीं दिख जाते!

'नेपाली से अनुवाद :
लक्ष्मण अधिकारी
लाचित रोड, उदालगुडी (असम)

प्रो. मृत्युंजय उपाध्याय

साहित्यिक संस्मरणों की प्रभावी कृति

साहित्य से जीवन का सीधा नाता है, इसीलिए जीवन ही साहित्य-सृजन का आधार बनता है। इसी क्रम में साहित्यकारों का जीवन किसी के लिए प्रेरक भी बन जाता है और वह उनसे प्रभावित होकर स्वयं भी बहुत-कुछ सीखता है। अतः जब कोई साहित्यकार किसी अन्य साहित्यकार के बारे में संस्मरण लिखता है, तो वह उन गुणों का उल्लेख अवश्य करता है, जिनसे वह प्रभावित हुआ। लेकिन कुछ साहित्यकार, प्रचार पाने या विवाद खड़ा करने के लिए, प्रायः अन्य साहित्यकारों की उन कमियों का उल्लेख करते रहते हैं, जिनके बारे में उनके पास कोई ठोस प्रमाण नहीं होता। इस बारे में डॉ. वीरेन्द्र सक्सेना का यह मत ध्यातव्य है- ''कुछ लेखक किसी अन्य लेखक (या प्रसिद्ध व्यक्ति) के बारे में संस्मरण लिखते समय उसकी कमियों पर ज़्यादा ध्यान देते हैं, ताकि संस्मरणों को विवादास्पद बनाया जा सके। विशेष रूप से, जब वे किसी दिवंगत व्यक्ति के बारे में लिखते हैं, तो ऐसे मुद्दे ज़रूर उठाते हैं, जो उसकी कमियों या चारित्रिक दुर्बलताओं को उजागर कर सकें। मैं यह नहीं कहता कि कमियां नहीं बताई जानी चाहिए, पर उन्हें बताते समय उनके तर्कसंगत प्रमाण भी दिए जाने चाहिए, क्योंकि दिवंगत व्यक्ति स्वयं तो अपने बचाव में अपना कोई पक्ष प्रस्तुत कर नहीं सकता।'' (प्राक्कथन)

अस्तु, डॉ. वीरेन्द्र सक्सेना की जो नई संस्मरणात्मक कृति 'अ से लेकर ह तक' सन् 2010 में प्रकाशित हुई है, उसके बारे में मैं स्वयं भी यह कहना चाहता हूं, वह एक पठनीय एवं प्रभावी कृति है, क्योंकि उसमें उन्होंने अज्ञेय से लेकर हृदयेश तक के जो संस्मारणात्मक लेख संकलित किए हैं वे संबंधित लेखकों-लेखिकाओं के बहुआयामी व्यक्तित्वों का उद्घाटन तो करते ही हैं, उनका तथ्यपरक विश्लेषण-विवेचन भी करते हैं। उदाहरणार्थ, अज्ञेय से संबंधित संस्मरणात्मक लेख में डॉ. सक्सेना ने स्पष्ट बताया है कि अज्ञेय वास्तव में उतने गुरु-गंभीर या रहस्यवादी नहीं थे, जितने वे लगते थे। वे अपने निकट के मित्रों के बीच हँसते-हँसाते भी थे और उनसे अनौपचारिक व्यवहार भी करते थे। अतः डॉ. राजकमल राय ने उनके बारे में जो 'जीवनी' (शिखर से सागर तक) लिखी है, वह एक तरह से उनको महिमामंडित करने का प्रयास है, जिसे किसी प्रकार से न्यायसंगत नहीं माना जा सकता। इसी तरह विष्णु प्रभाकर के बारे में डॉ. सक्सेना का यह मंतव्य भी द्रष्टव्य है- ''ऐसा नहीं है कि विष्णु जी में कमियां नहीं हैं या वह किसी समकालीन साहित्यकार की 'निंदा' में रस नहीं लेते। लेकिन उनकी निंदा-आलोचना में कलुष या ईर्ष्या नहीं होती। ... वह तो एक सीधे-सरल व्यक्ति हैं, कथनी और करनी में सामंजस्य वाले एक सच्चे गांधीवादी और सरल साहित्यकार।'' (पृ. 91)

'अ से लेकर ह तक' (पुस्तक) में अज्ञेय और विष्णु प्रभाकर के अलावा कमलेश्वर, कृष्णा अग्निहोत्री, मनोहर श्याम जोशी, भीष्म साहनी, द्रोणवीर कोहली, जगदीश चतुर्वेदी, देवेश ठाकुर तथा हृदयेश आदि अनेक प्रमुख साहित्यकारों के संस्मरणों को भी शामिल किया गया है। इन्हीं के बीच डॉ. नगेन्द्र, प्रो. कल्याणमल लोढ़ा तथा मृत्युंजय उपाध्याय जैसे समालोचकों के संस्मरणों को भी सम्मिलित किया गया है, क्योंकि ये समालोचक डॉ. सक्सेना के व्यक्तित्व एवं कृतित्व से किसी न किसी रूप में संबद्ध रहे हैं और उनके लेखन को भी प्रेरित करते रहे हैं।

डॉ. वीरेन्द्र सक्सेना, चूंकि केंद्रीय हिंदी निदेशालय, (भारत सरकार) में विभिन्न पदों पर लंबे समय तक कार्य करते रहे और वहीं से सेवानिवृत्त भी हुए, इसलिए समीक्ष्य पुस्तक में जगदीश चतुर्वेदी से संबंधित संस्मरण सर्वाधिक तथ्यात्मक एवं प्रभावी बन पड़ा है। इसका कारण यह है कि जगदीश चतुर्वेदी स्वयं भी केंद्रीय हिंदी निदेशालय में ही लगभग 30 वर्षों तक सेवारत रहे और वहीं से सन् 1991 में सेवानिवृत्त भी हुए। इस तरह एक ही कार्यालय में सेवारत रहकर और लगभग 5 वर्षों तक कार्यालय के एक ही कमरे में साथ-साथ बैठकर काम करते हुए डॉ. सक्सेना ने जगदीश चतुर्वेदी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व को काफ़ी निकट से जाना-परखा है और उसका पर्याप्त वस्तुपरक विश्लेषण भी किया है। उन्होंने लिखा है- ''जगदीश चतुर्वेदी का व्यक्तित्व एक अप्रतिम साहित्यिक व्यक्तित्व रहा है और इस अप्रतिम व्यक्तित्व के कारण ही वे कुछ कठिन भले हों, पर कुटिल बिलकुल नहीं हैं। अगर वे 'कुटिल' होते, तो वे अपने से वरिष्ठ साहित्यकारों के प्रति श्रद्धा-भाव और अपने से युवतर साहित्यकारों के प्रति वैसा स्नेह-भाव न रख पाते, जैसा कि उन्होंने हमेशा रखा। उदाहरणार्थ मैं बताना चाहूंगा कि उनके मन में जैनेन्द्र कुमार या अज्ञेय से लेकर मोहन राकेश, डॉ. धर्मवीर भारती या कमलेश्वर आदि के प्रति भी कभी ईर्ष्या या द्वेष की भावना उत्पन्न नहीं हुई, यद्यपि वे स्वयं उन सबसे अलग और भिन्न प्रकार का लेखन करते थे।'' (पृ. 41)

संस्मरणों की इस पुस्तक में एक संस्मरण 'वीरेन्द्र सक्सेना : स्वयं अपनी नज़रों में' शीर्षक का भी है, जिसे उनका

'आत्मकथात्मक संस्मरण' माना जा सकता है। इसी तरह एक अन्य संस्मरण 'मृत्युंजय उपाध्याय : मेरी कसौटी पर' भी है, जिसे पढ़कर मुझे और भी गहराई से महसूस हुआ है कि डॉ. वीरेन्द्र सक्सेना की वैज्ञानिक दृष्टि इतनी तीक्ष्ण है कि वह संस्मरण से संबंधित व्यक्ति का केवल ऊपरी चित्र हीं नहीं खींचती, बल्कि उसके भीतर की भावनाओं का एक्स-रे भी प्रस्तुत कर देती है। उदाहणार्थ उन्होंने मेरे बारे में लिखा है- "डॉ. उपाध्याय अपने आचार-विचार में सहज-सरल होते हुए भी पूर्णतः आधुनिक हैं। यही कारण है कि जब उनकी बड़ी बेटी मनीषा ने एक विदेशी से विवाह करना चाहा, तो उन्होंने उसे सहज भाव से अपनी स्वीकृति दे दी। ...उन्होंने कोई पुत्र न होने का रोना कभी नहीं रोया, बल्कि अपनी तीनों पुत्रियों को पुत्र की तरह ही उच्च शिक्षा तथा नौकरी आदि के लिए धनबाद से बाहर पढ़ाई करने और रहने की अनुमति प्रदान की और आवश्यक सुविधाएं भी जुटाई।" (पृ. 83-84)

पुस्तक के 'परिशिष्ट' के रूप में डॉ. सक्सेना ने एक संस्मरणात्मक लेख 'टी-हाउस/कॉफी-हाउस' के बारे में भी दिया है और उसके बहाने उन अनेक लेखक-लेखिकाओं को भी याद किया है, जिनके बारे में कोई अलग संस्मरण नहीं लिख पाए हैं। इस लेख की अंतिम पंक्तियां भी द्रष्टव्य हैं- "इधर कुछ वर्षों से दिल्ली काफ़ी फैल गई है और साहित्यकार-बंधु भी दिल्ली के अलग-अलग कोनों में जाकर बस गए हैं। ...इसलिए अब हर शनिवार या और किसी दिन साहित्यकारों की नियमित उपस्थिति 'चायघरों' में संभव नहीं हो पाती। अब वे ज़्यादातर किसी समारोह, गोष्ठी या सम्मेलन में ही औपचारिक रूप से मिल पाते हैं, जहां केवल औपचारिक बातचीत ही संभव होती है। इसलिए हो सकता है, भविष्य में 'चायघरों' में हुई लंबी बैठकों और चर्चा-परिचर्चा की केवल कुछ यादें ही शेष रह जाएं, क्योंकि मिलने-जुलने और व्यक्तिगत भेंटवार्ता की बजाय साहित्यकार भी तब ई-मेल या फ़ोन-वार्ता का सहारा लेने लगेंगे।" (पृ. 120)

अतः समग्रतः मैं पुनः दोहराना चाहूंगा कि 'अ से ह तक' (पुस्तक) सचमुच एक पठनीय एवं प्रभावी कृति है और इसकी समस्त विशेषताओं को इसे पूरा पढ़कर ही जाना-समझा जा सकता है।

अ से ह तक (संस्मरण), ले.- डॉ. वीरेन्द्र सक्सेना, प्र.-मित्तल एंड सन्स, भावना प्रकाशन, 80, विजय ब्लॉक, लक्ष्मीनगर, दिल्ली-110092, डिमाई पृ. सं.-120, मूल्य : 150 रुपये।

9/21, वृन्दावन, मनोरम नगर, एल.सी. रोड, धनबाद-826001, झारखंड

डॉ. वेदप्रकाश अमिताभ

समकालीन हिन्दी एकांकी का वस्तुनिष्ठ अनुशीलन

समकालीन साहित्यिक परिदृश्य में दृश्यकाव्य लगभग अदृश्य है। ऐसी स्थिति में हिन्दी नाट्यालोचन भी कुछ बेहतर स्थिति में नहीं है। प्रायः स्थापित नाटककारों के मूल्यांकन-पुनर्मूल्यांकन पर कुछ पुस्तकें यदा-कदा दिखायी दे जाती हैं। एकांकी नाटकों और एकांकीकारों की नियति और भी दयनीय है। ऐसे माहौल में डॉ. बनवीर प्रसाद शर्मा और डॉ. कृष्णकांत भारद्वाज की सम्मिलित कृति 'समकालीन एकांकी' की उपस्थिति राहत देने वाली है। इस कृति में 'समकालीन' पद से लगता है कि यह गत दो-तीन दशकों के एकांकी लेखन पर केन्द्रित होगी। वह इसमें 'समकालीन स्वतंत्रतापरवर्ती समग्र एकांकी साहित्य को समेटे हुए है, यही नहीं, इसमें हिन्दी एकांकी के प्रादुर्भाव से लेकर उसकी विकास यात्रा का भी संक्षिप्त अनुशीलन हुआ है। इस कृति का प्रस्थान-बिन्दु यह धारणा है कि भारतेन्दु को हिन्दी का प्रथम एकांकीकार नहीं माना जा सकता है। उनकी प्रथम एकांकी कही जाने वाली रचना 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' एकांकी न होकर 'प्रहसन' है। उनके युग में एकांकी विधा का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं था। समीक्षकद्वय के अनुसार सन 1938 में 'हंस' द्वारा प्रकाशित एकांकी विशेषांक से इस विधा को स्वतंत्र विधा के रूप में पहचान मिलती है। अतः वे कुछ पीछे से अर्थात् 1930 के आसपास हिन्दी एकांकी का उदय स्वीकार करते हैं। यह स्थापना प्रमाणपुष्ट और सन्तर्क है। लेकिन एक अंक के नाटक 'प्रहसन' को एकांकी विधा से बाहर मान लेने पर क्या अनेक महत्वपूर्ण रचनाएं उपेक्षित नहीं हो जाएंगी? स्वयं इन आलोचकों ने पांचवें अध्याय में शिल्प और रंग-संरचना के संदर्भ में प्रसहनों का विस्तृत उल्लेख किया है और इन्हें समकालीन एकांकी की प्रभावशाली शैली के रूप में मान्यता दी है। 'हिन्दी एकांकी' पाश्चात्य एकांकी के रूप में भले ही 1930 के आसपास अविर्भूत हुआ, भारतेन्दु, देवकीनंदन त्रिपाठी, बालकृष्ण भट्ट, प्रताप नारायण मिश्र, पांडेय बेचन शर्मा, 'उग्र' आदि की एक अंक की नाट्यरचनाओं को उसकी सबल पूर्वपीठिका और एकांकी के देशी स्वरूप की दृष्टि से विवेचित-व्याख्यायित करने में कित

प्रकार का अनौचित्य नहीं है। हिन्दी में अंग्रेजी ढंग का उपन्यास 'परीक्षागुरु' बाद में लिखा गया था, उससे पहले 'देवरानी जिठानी की कहानी' और 'भाग्यवती' सरीखी भारतीय मुहावरे की औपन्यासिक रचनाएं आ चुकी थीं।

इस कृति में एक अन्य विचारोत्तेजक स्थापना यह है कि आज 'एकांकी' संज्ञा बहुत प्रासंगिक नहीं रह गयी है। वर्तमान दौर में गठन, प्रकृति स्रोत आदि के आधार पर एकांकी का कायाकल्प-सा हो गया है और 'नुक्कड़ नाटक', 'बीज नाटक', 'पार्श्वनाटक', 'लघु नाटक','अनाटक', 'टैरेस थियेटर' आदि अनेक भेद सामने आए हैं। आलोचकद्वय 'एकांकी' के लिए 'मुक्त नाटक' का अभिधान प्रस्तावित करते हैं।

सम्पूर्ण कृति छह अध्यायों में सुनियोजित है। इनमें प्रथम तीन अध्याय सूचनाधर्मी और विवरण प्रधान हैं। शेष तीन अध्याय 'एकांकी नाटकों की संवेदना', 'एकांकी नाटकों' का शिल्प शैली और रंग-संरचना' तथा 'एकांकी नाटकों की भाषा' विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। इस कृति में गंभीर विवेचन के उपरान्त जो महत्वपूर्ण आपत्तियां हाथ लगती हैं, उनमें कुछ इस प्रकार हैं-

व्यक्तित्व के विघटन, व्यक्तित्व की अप्रतिष्ठा अथवा अस्तित्वहीनता, स्वच्छंद आचरण में दायित्व-वहन के बोझ का तीखा अहसास इन नाटकों में दिखायी देता है।

'इन एकांकियों में परम्परागत मान्यताएं एकाएक मूल्यहीन हो गयी हैं। इसलिए इन एकांकियों का मुख्य स्वर व्यवस्था के प्रति विद्रोह एवं व्यक्ति-स्वातंत्र्य है।'

'प्रायः हिन्दी में जो हास्य एकांकी मिलते हैं, उनमें हास्य या तो बड़ा स्थूल और भोंड़ा होता है या बनावटी या कथन मात्र में निहित।'

'भारतेन्दु से लेकर आज तक हिन्दी के प्रत्येक रचनाकार ने मंच पर शब्द और क्रिया के बीच संगति बिठाने का ही प्रयास किया है।'

'यह बहुत स्पष्ट हो जाता है कि केवल प्रकाश योजना, नेपथ्य प्रयोग या खिड़की दरवाज़े आदि से कोई रेडियो एकांकी, रंग एकांकी में नहीं बदल जाता।

कृति में जहां-तहां महत्वपूर्ण सूचनाएं हैं। जैसे चतुरसेन शास्त्री द्वारा लिखित 'राधाकृष्ण' प्रथम हिन्दी रेडियो नाटक है और हिन्दी में 'एब्सर्ड नाटक' के प्रथम नाटककार भुवनेश्वर हैं। इसी तरह एक स्थान पर सूचित किया गया है कि चंद्रशेखर ने रेडियो नाटक को ध्वनि नाटक न मानकर 'अनाटक' कहना चाहा है। विभिन्न एकांकीकारों पर जो टिप्पणियां की गयी हैं, वे तलस्पर्शी विवेचन का प्रमाण देती हैं। उदाहरण के लिए आलोचकद्वय का मानना है कि मोहन राकेश ने 'शायद', 'छतरियां' आदि में 'नये मुक्तशिल्प' का प्रयोग किया है और गिरीश बख्शी के एकांकी 'ध्वनिप्रभावों की दृष्टि से उत्कृष्ट हैं।'

भुवनेश्वर ने 'मध्यवर्गीय समाज के आंतरिक खोखलेपपन को उभारा है' और जगदीशचंद्र माथुर ने 'बेरहम और बदसूरत समाज की दर्दनाक दशा प्रस्तुत की है।' सुरेन्द्र वर्मा की नाट्य-भाषा के संबंध में कहा गया है, 'भाषा का प्रथम रूप जब नाट्यभाषा को शिथिल और ठंडा बनाता है तो वे दूसरे रूप की भाषा का पुट देकर भाषा में ऐसा तापक्रम देते हैं कि वह गरमा उठती है।' जहां आवश्यक हुआ है, वहां आलोचकों ने अन्य विद्वानों के अभिमतों से सहमति या असहमति जताई है। वे रामकुमार वर्मा के वैज्ञानिक एकांकियों के विषय में डॉ. गोपाल राय के मत को सटीक मानते हैं और समकालीन एकांकियों की भाषा 'हरकत की भाषा' के संदर्भ में विपिन कुमार अग्रवाल का अभिमत मान्य है। लेकिन कहीं-कहीं अन्य उद्धरणों में लेखकीय दृष्टि दब-सी गयी है। इस कृति की एक विशेषता यह है कि यह कुछ चुनी हुई रचनाओं पर केन्द्रित 'शॉर्टकट' न होकर समग्र एकांकी साहित्य का अध्ययन विवेचन है। यही कारण है कि इसमें जि.जे. हरिजीत, लखनलाल सिंह लखन, ब्रजवल्लभ मिश्र, चंद्रशेखर आदि अनेक अज्ञात और अल्पज्ञात रचनाकारों के एकांकी भी यथास्थान विवेचित हैं। 'रंग संरचना' संबंधी आकलन भी इस कृति को सामान्य आलोचनात्मक कृतियों से अलगाता है। 'विषय संवाद' शीर्षक भूमिका की निम्नलिखित प्रतिज्ञा को यह कृति बहुत कुछ पूर्ण करने का प्रमाण देती है- 'प्रस्तुत कृति एकांकी संबंधी अनेक मिथों को तोड़ती हुई उसकी सम्पूर्ण अपेक्षाओं को पूरा 'रिस्पांस' देने की कोशिश करती है।'

संदर्भ : समकालीन एकांकी, डॉ. बनवीर प्रसाद शर्मा, डॉ. कृष्ण कांत भारद्वाज, प्र.-अनंग प्रकाशन, बी-107/1, गली मंदिर वाली, उत्तरी घोण्डा, दिल्ली-110053, प्रथम सं. 2010, मूल्य - 350/- रुपये

डी-131, रमेश विहार
अलीगढ़-202001

डॉ. गुरचरण सिंह

साहित्यक गतिविधियों का केन्द्र-दिल्ली टी हाउस

'दिल्ली टी हाउस : अर्द्धशती की साहित्यिक हलचल' पुस्तक का संपादन डॉ. बलदेव वंशी ने किया है। इस पुस्तक के संपादन के लिए उन्हें कृष्ण दत्त पालीवाल ने प्रेरित किया। डॉ. महीप सिंह ने अपने आलेख में लिखा है कि 'लेखकों के बीच पेरिस के कॉफी हाउस की चर्चा होती रही है। कहा जाता है कि ज्यांपाल सात्र जैसे लेखक भी वहां शाम को नियमित रूप से आते थे।' लेखकों के बीच विवाद और संवाद होता था। इस पुस्तक में संकलित संस्मरण सातवें दशक की स्थितियों, घटनाओं, व्यवहारों, साहित्यिक हलचलों, आन्दोलनों का जायज़ा लेते हैं। यह समय वह था जब बनारस, इलाहाबाद, लखनऊ आदि नगरों से साहित्यकार दिल्ली आकर बस रहे थे और दिल्ली साहित्यकारों की राजधानी बनती जा रही थी। दिल्ली का टी हाउस किसी के लिए मस्ती भरा अड्डा था तो किसी के लिए साहित्यकारों की चौपाल। बलदेव वंशी ने लिखा है कि टी हाउस या कॉफी होम में चाय-कॉफी पी नहीं जाती बल्कि चुसकियां ली जाती हैं, क्योंकि समय की निश्चिंतता और बतियाने की चसक होती है। पर आज स्थितियां चुसकियों और चसक वाली नहीं रही हैं। जीवन में आपाधापी इतनी बढ़ गई है कि टी हाउस में जाने तथा बतियाने का किसी के पास समय ही नहीं रहा है। इस स्थिति को कविता की ये पंक्तियां स्पष्ट कर देती हैं- 'एक ही नगर में/ रहते हुए एक कवि को/ दूसरे की खबर नहीं है/ पहला कवि नहीं जानता/ दूसरे कवि ने बदल लिया है मकान/ दूसरा कवि नहीं जानता/ तीसरा कवि भर्ती है अस्पताल में/ चौथा कवि किसी अन्य को कवि नहीं मानता/ पांचवां कवि अब भी/ जाता है कभी-कभी कॉफी हाउस।' इस ओर अजित कुमार ने भी अपने संस्मरण में संकेत किया है- एक समय था जब तांगे पर सवार होकर कनॉट प्लेस के कॉफी हाउस जाया करते थे, पर अब उधर जाने के ख़्याल भर से बुख़ार चढ़ने लगता है।' उनके अनुसार दिल्ली में हिंदी साहित्यकारों के जमावड़े का प्रमुख कारण देश विभाजन, दिल्ली में प्रकाशन का केंद्रीकरण, रेडियों में प्रोडयूसर योजना, सरकारी कार्यालयों में हिंदी का प्रयोग तथा अनुवादकों की ज़रूरत था। वे उन दिनों की याद करते हैं जब वे अनुवादक के रूप में कार्य कर रहे थे और उनहें बच्चन के साथ रोज़ बैठने का अवसर मिलता था।

मोहन राकेश, कमलेश्वर तथा राजेन्द्र यादव नई कहानी से जुड़े हुए लेखक थे। कमलेश्वर के लिए टी-हाउस लेखकों का काबा था। दिल्ली से बाहर के लेखक अन्य लेखकों से मुलाक़ात करने के लिए सीधा टी हाउस आ जाते थे। गोष्ठियों के निमंत्रण पत्र, पत्रिकाओं के ताज़ा अंक यहीं साहित्यकारों में वितरित किये जाते थे। कमलेश्वर ने लिखा है कि यह वह दौर था जब नई कहानी आन्दोलन पर चौतरफ़ा आन्दोलन हो रहे थे। दूरदर्शन पर पत्रिका कार्यक्रम का प्रारंभ उन्होंने ही किया था। उनके अज्ञेय तथा जैनेंद्र से जुड़े अनुभव चौंकाते हैं।

अनीता ने संस्मरण बहुत आत्मीय ढंग से लिखा है। राकेश के व्यक्तित्व के कई पहलू इस आलेख में खुलते हैं। कन्हैया लाल नंदन के जीवन में दिल्ली का क्या योगदान रहा है इस पर उन्होंने प्रकाश डाला है। कमल कुमार के संस्मरण में मार्मिक तथा आत्मीय चित्रण हुआ है। वे दिल्ली के कई लेखकों के प्रभाव को स्वीकार करती हैं। कुसुम अंसल ने अन्य लेखकों से मिले स्नेह तथा प्रेरणा का चित्रण किया है। जिन साहित्यकारों, संपादकों से उपेक्षा मिली उसका भी वे चित्रण करती हैं। संवाद की गतिविधियों की विस्तृत चर्चा इस आलेख में हुई है। कृष्ण दत्त पालीवाल का संस्मरण उनकी संघर्ष गाथा को व्यकत करता है। कृष्णा सोबती ने शरणार्थियों की दयनीय दशा तथा उनके संघर्षपूर्ण जीवन का चित्रण करती हैं। टी हाउस वे कभी-कभी ही आती थीं। देवेंद्र इस्सर ने 'कल्चरल फ़ोरम' की स्थापना की थी। उनका अड्डा करोल बाग़ में था। फ़ोरम से जुड़े सदस्य देवेंद्र सत्यार्थी, भीष्म साहनी, गोपीचंद नारंग वहीं बैठते तथा साहित्यिक मसलों पर बातचीत करते थे। द्रोणवीर कोहली ने 'जनवादी लेखक संघ' तथा प्रगतिशील लेखक संघ की कथनी और करनी में अंतर को उजागर किया है। धर्मेंद्र गुप्त प्रायः टी हाउस आते थे। वे लिखते हैं कि बढ़ती मंहगाई को देख यह तय किया गया था कि सभी अपना-अपना बिल देंगे।

टी हाउस परम्परा के मुखिया थे विष्णु प्रभाकर। उन्होंने साहित्यकारों की कई पीढ़ियों को प्रभावित किया। आंधी हो या तूफ़ान वे नियमित रूप से टी हाउस आते थे और लगभग दो-तीन घंटे वहां बैठते थे। टी हाउस में विष्णु प्रभाकर की उपस्थित को सभी लेखकों ने स्वीकारा है। उनके साथ नई तथा

पुरानी पीढ़ीके साहित्यकार निस्संकोच बैठते थे और उनका आशीर्वाद प्राप्त करते थे। मोहन राकेश, देवराज दिवेश, रामकिशोर द्विवेदी, रवींद्रकालिया, श्याम मोहन श्रीवास्तव के ठहाकों से टी हाउस गूंज उठता था। विष्णु प्रभाकर सिर्फ़ मुस्कराते थे। प्रकाश मनु ने देवेंद्र सत्यार्थी तथा रामविलास शर्मा से हुई भेंट तथा उनके प्रभाव को स्वीकार किया है। प्रदीप पंत ने नई कहानी, अकहानी, सचेतन कहानी, समांतर कहानी की विस्तृत जानकारी अपने संस्मरण में दी है। वे लिखते हैं कि 'कुछ को लगता है कि टी हाउस में बहुत सी काम की बातें भी होती हैं और साहित्य के नये से नये आंदोलनों तथा आंदोलनकारियों से संपर्क बना रहता है। टी हाउस में अनेक लेखकों से मिलने के बाद वल्लभ डोभाल ने सीखा कि 'अच्छा लेखक वही है जो स्थितियों से कटकर नहीं बल्कि उनका समाधान करके अथवा उन्हें आत्मसात करते हुए अपने लेखन के लिए वातावरण तैयार कर लेता है।

भीष्म साहनी का संस्मरण भारत विभाजन की त्रासदी से प्रारंभ होता है। आज़ादी के संबंध में एक तांगे वाले का कथन है- 'सचमुच आज़ाद हुए हैं। घर-घाट से आज़ाद, नाते-रिश्तेदारों से आज़ाद, पैसे-लत्ते से आज़ाद' अब आज़ाद ही आजाद घूमते हैं।' वे लिखते हैं कि आज की दिल्ली में पहले वाली दिल्ली ढूंढे भी नहीं मिलती। मन्नू भंडारी के संस्मरण में एक विकसित होते लेखक का ग्राफ मिलता है, इसे वह तुक्का या नियति कहती हैं। पर लेखन में स्थान, रचना की गुणवत्ता ही बनाती है। कलकत्ता से प्रारम्भ होकर यह आलेख दिल्ली, मिरांडा हाउस, बंटी तथा महाभोज की दास्तान कहता है। महीप सिंह ने सचेतन कहानी आन्दोलन, भारतीय लेखक संगठन की योजना, मोहन राकेश की छवि, उनके रोमांस के क़िस्से आदि की बात की है। उन्हें टी हाउस तथा मोहन सिंह प्लेस की बहुत याद आती है। मृदुला गर्ग स्वीकार करती हैं कि बीते समय के संबंध में लिखते हुए सभी कुछ सच तथा सिलसिलेवार कहना संभव नहीं होता। उनका टी हाउस जाना कभी-कभी ही होता था। अब दिल्ली पहले जैसी नहीं रही। अब तो किसी साहित्यिक गोष्ठी में जाना भी जोखिम-भरा लगता है। सब लोग क्षुब्ध, गंभीर और फ़िक्रमंद नज़र आते हैं। वे लिखती हैं कि 'चितकोबरा ' पर प्रतिक्रियाओं ने उन्हें आहत किया था। रमेश उपाध्याय ने कई लेखकों के नाम गिनाये हैं जो प्रायः टी हाउस आते थे। एक-दूसरे की रचनाओं पर बातचीत होती थी और शालीन ढंग से प्रतिक्रिया दी जाती थी। रवींद्र कालिया ने अपने अनुभवों का चित्रण करते हुए लिखा है- 'टी हाउस की वजह से जितनी जागरूकता और चेतना है, वह शायद ही अन्यत्र मिले।... टी हाउस के बैरे तक साहित्य में रुचि लेने लगे थे। एक बैरा तो कविता भी करने लगा था। राजेंद्र यादव के आलेख में उनकी कुंठाएं तथा हीन ग्रंथियां खुलती हैं। आलेख में कहीं-कहीं आत्म मंथन है- ख़ुद को पहचानने की कोशिश, पर यादव का अहं तथा ज़िद यहां भी हावी है। रामदरश मिश्र ने मॉडल टाउन में रहने वाले साहित्यकार मित्रों का ज़िक्र किया है। वे लिखते हैं- देवीशंकर अवस्थी योजनाबद्ध तरीक़े से आलोचना कर रहे थे। आलोचना खेमों में बंटती जा रही थी। उन्होंने सर्वेश्वर के उग्र रूप को देखा है। शमशेर का व्यक्तित्व खुला और व्यापक था।

इस पुस्तक के लिए कुछ लेखकों से संपादक ने आलेख लिखवाए हैं तो कुछ पूर्व प्रकाशित आलेखों को भी संकलित किया गया है। नरेन्द्र मोहन के डायरी-अंश दिए गए हैं। इससे पुस्तक की उपयोगिता बढ़ी है। पुस्तक में पाठक पैंतालीस लेखकों के अनुभवों से रू-ब-रू होता है।

पुस्तक में ऐसे कई आलेख हैं जिनका टी हाउस की गतिविधियों से कोई संबंध नहीं हैं। ऐसे आलेखों में प्रमुख है- अनीता, राकेश, अज्ञेय, कन्हैया लाल नंदन, कमल कुमार, मृदुला गर्ग, रामदरश मिश्र, देवेंद्र इस्सर, रामविलास शर्मा, सुनीता जैन, हरीश नवल आदि के आलेख पर ये आलेख इस लिए महत्वपूर्ण हैं क्योंकि इनमें उस काल की साहित्यिक गतिविधियों का प्रामाणिक चित्रण हुआ है।

लेखकों के एक-दूसरे के संबंध में क्या विचार तथा धारणाएं थीं, उनका स्वभाव कैसा था आदि बातें इस पुस्तक के आलेखों में खुलती हैं। अन्य लेखकों के संबंध में बेबाक़ टिप्पणियां इस पुस्तक में हैं। ये टिप्पणियां प्रसिद्ध लेखको के व्यक्तित्वों के अनजाने पहलुओं को खोलती हैं और उनके प्रति हमारी धारणाओं को बदलती हैं। 'दिल्ली टी हाउस' पुस्तक में एक उपन्यास-सी रोचकता है। पठनीयता इसका गुण है। पुस्तक पाठक को बांधे रखती है। लगभग चालीस-पचास साल की साहित्यिक हलचल का प्रामाणिक ज्ञान यह पुस्तक हमें देती है। यही इस पुस्तक की उपलब्धि है।

दिल्ली टी हाउस : अर्द्धशती की साहित्यिक हलचल संपादक : बलदेव वंशी, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली-2 संस्करण : 2009, मूल्य : 700 रुपए

6/15, अशोक नगर, नई दिल्ली

डॉ. रजनी बाला

मंच अंधेरे में : नाट्यधर्मिता का अनूठा-विधान

नरेन्द्र मोहन के आठवें नाटक 'मंच अंधेरे में' का हाल ही में लोकार्पण हुआ। व्यवस्था और रंगमंच के विरोधी ध्रुवों पर गतिशील इस नाटक में एक तरफ़ सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनीतिक अवमूल्यों का बढ़ता वर्चस्व है, दूसरी ओर सकारात्मक परिवर्तन की चाह से उत्पन्न वैचारिक संकल्प विचार, अभिव्यक्ति और कर्म के धरातल पर रूपायित होना चाहता है। इन दोनों की परस्पर, टकराहट के कलेवर में यह नाटक बन गया है।

नाट्य-प्रेरणा की बात करें तो मोटे तौर पर इस नाटक को लिखने के पीछे नरेन्द्र मोहन के नाटक 'मि. जिन्ना' के प्रदर्शन पर लगी रोक से जन्मी लेखकीय मानसिकता है। 'मंच अंधेरे में' के पहले दृश्य में इस दर्द की पहचान की जा सकती है, 'बम चलते हैं, गोलियां चलती हैं, लाठियां चलती हैं- कोई नहीं रोकता, नाटक रोक दिया शोहदों ने।'

'मंच अंधेरे में' के केन्द्र में एक विचार है, एक उद्वेलन है, एक तरह की सर्जक प्रतिबद्धता है। पहले पाठ में सरसरी तौर पर देखें तो इस का एक सिरा आपातकाल और दूसरा रंगकर्मी परिवार की त्रासदी से जुड़ता है। आपातकाल के परिप्रेक्ष्य में देखें तो महारानी तत्कालीन प्रधानमंत्री इन्दिरा गांधी हैं। राजकुमार उनका बेटा संजय गांधी है। राजकुमारों के राजकुमार वे लोग हैं जिन्होंने अपनी महत्वाकांक्षाओं के लिए संजय को मोहरा बनाया। महारानी के चार वज़ीर विद्याचरण शुक्ल, संजय गांधी, बंसीलाल और देवकान्त बरुआ हैं। 'देश महारानी है, महारानी देश है' का नारा देने वाला वेताल ही बरुआ है। गुजरात-बिहार छात्र-आन्दोलन का नेतृत्व करने वाले और 'सम्पूर्ण क्रांति' का नारा देने वाले लोकनायक जयप्रकाश नारायण 'रंगनाथ' है। केन्द्रीय मंत्रिमण्डल में महत्वपूर्ण विभाग पर कार्यरत जॉर्ज फर्नांडीस के भाई लारेंस फर्नांडीस के रूप में 'जॉन' है। लारेंस फर्नांडीस की अभिनेत्री पत्नी स्नेहलता रेड्डी की तरह 'थर्ड डिग्री' झेलने वाली 'सुलेखा' है। मीसा और डी.आई.आर. के तहत प्रताड़ित होने वाला इन दोनों का बेटा कोणार्क नाटक का 'कुणाल' है। उस दौर में हंटर को अनुशासन, हथकड़ी को सहयोग, भय को एकता, ईमानदारी को गद्दारी और इन्दिरा को इंडिया समझा गया। इन्दिरा ने अपनी तानाशाही बनाए रखने के लिए अधिकारियों-नौकरशाहों को इतने ज़्यादा अधिकार दे दिए कि उनकी निरंकुशता के आगे नादिरशाही लांछित होने लगी। संविधान को निजी सम्पत्ति और क़ानून को पिछला अहाता मान लिया गया।

आपातकाल और इन्दिरा राज से जुड़े ये घटना-चक्र नाटक का सिरा मात्र हैं। इसके केन्द्र में रंगकर्मी परिवार की त्रासदी है। वैचारिक स्वतन्त्रता की बन्दिश से जन्मी मानसिकता और संघर्ष चेतना है। रंगकर्मी परिवार की यहां तीन पीढ़ियां हैं। एक नेहरू-गांधी युग के रंगनाथ की, दूसरी आपातकाल के भुक्तभोगी सुदर्शन-सुरेखा की और तीसरी कुणाल-नन्दिता के रूप में आज की। इन तीनों में सामान्य बात यह है कि नाटक और रंगमंच से जुड़े लोगों के लिए व्यवस्था की फूहड़ता रंगनाथ से नन्दिता तक, 'अंधेर नगरी' से 'मंच अंधेरे में' तक गुलाम भारत से लेकर आज़ाद हिन्दुस्तान तक किसी मायने में कम नहीं हुई है।

इस नाटक को महज़ दो बिन्दुओं में, तक सीमित करके देखा जाए तो न केवल इसके व्यापक सन्दर्भों, अर्थ की विभिन्न गूंजों-अनुगूंजों के सिरे छूटते जाएंगे बल्कि इसकी नाट्य-संवेदना और रंग-शिल्प के कई महत्वपूर्ण पहलू भी ओझल हो जाएंगे। दरअसल, अनेक अर्थ-चक्रों, ध्वनियों-अन्तर्ध्वनिमों में लिपटे इस नाटक के पूरे कलेवर-कथा, पात्र और नाट्य -व्यापार में एक मेटाफर है। आपातकाल और वैचारिक स्वतन्त्रता, व्यवस्था और आम आदमी, प्रतिबन्ध और विद्रोह के दो विरोधी ध्रुवों पर नाटक गतिशील है। नाटक और रंगमंच, बुद्धिजीवी और रंगकर्मी, कला और कलाकार में समानान्तर चलती कसमसाहट और संघर्षशीलता है। यह कसमसाहट हर उस व्यक्ति की है जो सच के साथ, सच के लिए जीना और सच का जज़्बा लोगों में भरना चाहता है। नाटक खोलने में आने वाली समस्याएं नाटक के लिए रंगमंच की तलाश से जुड़ी हैं और रंगमंच की तलाश अपने 'होने' की पहचान और सार्थकता से जुड़ी है। 'अंधेरे में दुबकी उदासी और उदासी की परत के नीचे पसरा अंधेरा' तथा 'रंगकर्मियों का इस अंधेरे में सपने लेते और उनकी ख़ातिर जान गंवाते' देखने का दर्द सिर्फ़ नाटक और रंगमंच से जुड़े लोगों का नहीं है बल्कि इसमें अपनी पहचान और अस्तित्व के संकट से जूझता वो हर आदमी है जिसके पास 'जूझ-मरने के सिवा अन्य कोई रास्ता नहीं बचा है।'

'मंच अंधेरे में' का मंच उस रंगकर्म, साहित्य, कला, सच,

दुनिया का है जिस पर बन्दूकें, भालों और लाठियों से लैस लोग क़ब्ज़ा कर रहे हैं। इसलिए यह नाटक किसी भी समय में प्रासंगिक है। इसे मात्र रंगकर्मियों की अभिव्यक्ति के संकट या आपातकाल तक कैसे सीमित किया जा सकता है? उपभोक्तावादी संस्कृति में बाज़ारवाद के बढ़ते प्रभाव और मीडिया ने सस्ते-फूहड़ मनोरंजन की आड़ में वैचारिक सरोकारों एवं संवेदनशील विषयों से जुड़े कला-माध्यमों को एक अर्थ में हाशिए पर ला दिया है, 'बाज़ार के दैत्य ने सभी रंग चूस लिए हैं।' आज के दौर पर टिप्पणी करता हुआ रंगनाथ कहता है, 'थोथा चना बड़ा घना बज रहा है। खोखले, गोल और चिकने शब्दों का राज है (रुआंसा होकर) जबकि मेरे पास हैं रंगमंच के शब्द-सीधे, दो टूक, हरक़तों-भरे मगर इन शब्दों को किसी ने ज़ुबान से नोंचकर सूखे कुँए में बन्द कर दिया है।' रंगमंच जो जनजागरण का निमित्त है, आम आदमी को उसके चारों ओर फैली विसंगतियों से रूबरू कराने का माध्यम है, 'उसे अपनी आंखों के सामने मरते देखना दुःखदायी है।' इसके लिए ज़रूरी है कि जागरण की अलख जगाने वाली मशाल को कोई न कोई थामे रहे। इसलिए रंगनाथ का छोड़ा काम नन्दिता ने ओढ़ लिया। वह गूंगे बना दिए गए लोगों को बोलना सिखा रही है।

नाटककार ने नाटकीय प्रतीकात्मक भाषा में नाटकीय सन्दर्भों को वर्तमान से जोड़ा है। दहशतज़दा चुप्पी और परिवेशगत सन्नाटे को हास्य-व्यंग्य से बेधा है। नाटक की वाचिक क्षमता विसंगत स्थितियों, फूहड़ पात्रों पर व्यंग्य करती है। बिल्ला की अनगढ़ शब्दावली 'सूतधार', 'डोराक्टर', 'पब्लिक मारलटी', 'सिस्टुम' से साफ़ है कि वह दूसरे रास्ते से इंस्पेक्टर बना है। अनपढ़ होने के साथ सिरफिरा, डरपोक, कायर,कामुक है। मुखौटे देखकर डर जाता है। रंग-संकेतों जैसे (नटी को ललचाई नज़रों से देखता हुआ), (खा जाने वाली निगाह से नटी को देखता हुआ), (जंगली बिल्ले की-सी हरक़तें करता हुआ) से उसके लिजलिजे व्यक्तित्व की व्याख्या हुई है। उसके ज़रिये पुलिस-प्रशासन की, ख़ासतौर पर स्त्री और रंगकर्मी के प्रति तानाशाही को रूपायित किया गया है। पुलिसवाले के साथ मंत्री हलाल और राजकुमार की लोलुपता को बिल्ला बताता है, 'मुझसे पंगा लिया, अन्दर कर दिया। तू नहीं जानती तू क्या चीज़ है- राजकुमार की नज़रें तेरे पर इनायत थीं, मान जाती तो राज करती-बेवकूफ़ औरत, तू वज़ीर बनती... 'और वह आई. जी. बनता। रंगनाथ का पता नहीं बताने पर हलाल कहता है, 'बता दे पता दे...यह तेरा हुस्न-रानी बनाकर रखूंगा'। राजकुमार का चरित्र कितना ढुलमुल है इसका संकेत बेताल अधूरे छोड़े वाक्य से करता है कि वह उसकी हर चाहत को चुटकी बजाते पूरा करने का माद्दा रखता है।

नाटककार ने एक बड़ी समस्या पर ध्यान दिलाया है कि रंगमंच अथवा किसी भी कला में जब क़ानून का हस्तक्षेप होता है तब लाठी-चार्ज की प्रक्रिया शुरू होती है। इस लाठी-चार्ज में सभी घायल होते हैं- व्यक्ति, उसका शरीर, उसका मन और उसकी आत्मा। यहां तक कि उसका हौसला भी। तब मंच ख़ाली होता है और संवेदनशील कलाकार को ख़ाली मंच अपनी मौत लगता है। तब आज़ाद होने का मतलब एक कभी न ख़त्म होने वाले मोहभंग से ज़्यादा समझ नहीं आता। आज़ादी का 'मतलब महारानी और राजकुमार तथा कठपुतलियां और बिल्ला और उनके रहमोकरम पर हम सब भेड़-बकरियां।' और सरकार का मतलब होता है लाठी, हंटर और बन्दूक। मानो स्वतन्त्रता, जनतन्त्र और जनता- तीनों किसी कुएँ में गिरा दिए गए हों। इस प्रकार व्यंग्य के ज़रिये लोकतन्त्र के विरोधियों और समर्थकों की पहचान की गई है।

नरेन्द्र मोहन के पूर्व प्रकाशित नाटकों से इस नाटक में कठपुतली और मुखौटों के धरातल पर सर्वथा भिन्न और नवीन प्रयोग मिलता है। सीधे-सीधे देखें तो कठपुतली प्रयोग से पात्र-आधिक्य पर रोक सम्भव हुई है। लोक परम्परा में कठपुतली लोकरंजन करती है जबकि नाटक में दहशत का कारण है। यहां तीन क़िस्म की कठपुलती हैं। एक काल, हलाल, बेताल की जो क्रमशः अधिकारी, नेता और पुलिस हैं। दूसरी महारानी की जो तानाशाह, शासक, व्यवस्था है जिसके नियन्त्रण में पहले तीनों हैं। बाद में वह स्वयं उनके हाथों में नाचने लगती है। तीसरी वह, जो कठपुतली है नहीं। जो सच और सपने के लिए जीना चाहती है लेकिन पहली दो प्रकार की कठपुतलियों से बचने के लिए रंगनाथ और सुरेखा को मुखौटे पहनने पड़ते हैं। नाटककार ने कठपुतलियों के ज़रिये डर, दहशत, आतंक, पुलिस, प्रशासन, व्यवस्था को दिखाया है और मुखौटों के सहारे निरीहता, बेबसी, लाचारी, रंगकर्मी और अभिनेता को संकेतित किया है।

इन मुखौटों और कठपुतलियों का कोई रंग-रूप, आकार नहीं बताया गया है। स्थिति, घटना और पात्र के अनुसार पाठकीय एवं निर्देशकीय कल्पना पर निर्भर करता है कि वह इन्हें किस रूप-रंग, आकार में ले। केवल दृश्य चार में स्पष्टतः

शेर के मुखौटे को दिखाया गया है। इंस्पेक्टर बिल्ला जब सुरेखा को लारेंस के भाई जॉन की रखैल कहता है तब रंगकर्मी रंगनाथ अपने विद्रोह को शेर का मुखौटा लगाकर व्यक्त करता है। यहां मुखौटा लगाने के दो कारण हैं- एक तो यह कि रंगनाथ की उम्र 72 वर्ष है। उसके पास न शारीरिक शक्ति है, न आर्थिक बल। दूसरे यह कि आज सीना तानकर खुला विद्रोह करने की सम्भावना ही कहां रह गई है? सफ़दर हाशमी का क्या हश्र हुआ? तसलीमा नसरीन के साथ क्या हो रहा है? हमसे छिपा नहीं है। रंगनाथ का यह व्यवहार नपुंसक आक्रोश नहीं, बल्कि आज के दौर पर सार्थक टिप्पणी है कि प्रत्यक्ष विद्रोह करके हमेशा के लिए कुचल दिए जाओ, इससे बेहतर है कि मुखौटे बदलकर संघर्ष-चेतना जारी रखो।

जिस प्रकार कठपुतली प्रयोग से कम पात्रों के रहते अधिकाधिक पात्रों की समाई सम्भव हो गई है उसी प्रकार कहीं-कहीं पर पात्र अचानक अपनी भूमिका बदल लेते हैं जिससे गौण पात्रों की संख्या बढ़ नहीं पाई है। जैसे दृश्य एक के आरम्भ में सुदर्शन-सुरेखा, नटी और सूत्रधार के रूप में आते हैं। ढिंढोरची की मुनादी सुनते हुए वे आदमी-औरत बन जाते हैं और फिर से पहले वाले नटी व सूत्रधार रूप में आ जाते हैं। कभी सुरेखा नटी की भूमिका में नाचने को तत्पर हो जाती है। कहीं सूत्रधार और नटी बने दोनों पात्र एक-एक कर वस्त्र गिराते जाते हैं और सुदर्शन-सुरेखा की भूमिका में उतरते जाते हैं। रंगमंच और दर्शक के बीच परदा उठने-गिरने से आने वाले व्यवधान या अन्तराल को दूर करने के लिए अन्धकार और प्रकाश का संयोजन, रंगकर्म का बेहतर विकल्प है।

नाटक में इस शैली द्वारा एक ही समय परं दो अलग-अलग दृश्यों की योजना की गई है। प्रकाशित करने वाले हिस्से पर प्रकाश और शेष पर अंधकार रखा गया है। दृश्य परिवर्तन के लिए भी इस तकनीक का इस्तेमाल किया जाता रहा है। जैसे मंच के एक हिस्से में अंधेरा सघन होता जाता है और अंधेरे में गाड़ियों, जीपों के हॉर्न और हेडलाइट के अजब मंज़र चलते रहते हैं। मानों व्यवस्था के प्रोसेशन का हैवानियत-भरा जुल्म धरती पर फैले अंधकार से कम नहीं। इसलिए अंधेरा टॉर्च के बावजूद फैलता ही जाता है। वातावरण निर्माण के लिए भी इस तकनीक को अपनाया गया है। मटमैले बेढबअंधकार और झरोखे से आती प्रकाश की किरणों से जेल की बैरक का चित्र सामने आ जाता है। इस माध्यम से नाटक में फैंटेसीपरक और प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति सम्भव हुई है।

नाटक में गीत, नृत्य, संगीत के अलग-अलग आयाम हैं। संगीत के ज़रिये घटना एवं पात्रानुकूल वातावरण निर्मित हुआ है। नृत्य से पात्र-विशेष के मानसिक उद्वेलन और आनन्द की अभिव्यक्ति हुई है। गीतों और कविताओं के प्रयोग से स्थिति, विशेषकर आज के दौर से रूबरू कराया गया है। ढिंढोरची द्वारा मुनादी के लिए ढोल की आवाज़ दहशत उत्पन्न करती है। गायन दो प्रकार से हुआ है- एक रंगमण्डली के माध्यम से, दूसरा काल, हलाल, बेताल की कठपुतलियों के ज़रिये। जहां रंगमण्डली द्वारा हुआ है वहां आज के दौर पर उंगली रखी गई है, जैसे 'नंगा नाचै चोर बलैया लेय'। जहां चापलूस कठपुतलियों द्वारा हुआ है, वहां इन चरित्रों की बेहूदगी बयान होती है, जैसे 'महारानी आई, महारानी गई; महारानी आई, महारानी गई।

मानसिक उद्वेलन और 'क्या करूं, क्या न करूं' की स्थिति में रंगनाथ अभिनय की जिस पिच पर पहुंच कर छड़ी घुमाते हुए नृत्य करता है उसके लिए एक मंजे हुए कलाकार की दरकार है। छड़ी एक विरासत है जो त्रासदियों के बावजूद एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुंचती है। उसके दोनों तरफ़ लगे लट्टू भूत और भविष्य हैं। छड़ी जिस केन्द्र से पकड़ी गई है वह वर्तमान है। इस प्रकार वर्तमान पर पकड़ बनाये रखकर ही भूत की विरासत को संभाला जा सकता है और भविष्य के सपने देखे जा सकते हैं। उन्हें पूरा करने की आस्था और सम्भावना बनाए रखी जा सकती है। यहां नाटककार एवं रंगकर्मी का विद्रोह उसकी नाट्यधर्मिता और रंगधर्मिता से छनकर आया है इसलिए खुले विद्रोह की बजाय यातना का अहसास अधिक है।

कुल मिलाकर 'मंच अंधेरे में' भाषाहीनता के भीतर से भाषा की तलाश करते हुए वाहरी-भीतरी संतापों को संकेतित करने वाला नाट्य प्रयोग है, जिसमें परिवेशगत विसंगति के विरोध में संघर्ष और विद्रोह-चेतना को खड़ा किया गया है। एक बड़ी त्रासदी और विडम्बना के बावजूद इसके हरकत-भरे शब्द और जिजीविषा से भरे पात्र मंच अंधेरे में होने के बाद भी उम्मीद, आस्था, विश्वास की ज्योति सहेजे हुए हैं जिसके कारण नाटक समाप्त होकर भी भीतर कहीं जारी रहता है। यही इस नाटक की जीवन्तता और सार्थकता है।

समीक्ष्य पुस्तक : मंच अंधेरे में, लेखक : नरेन्द्र मोहन, प्रकाशक : किताबघर, दिल्ली, प्र.सं.-2010

हिन्दी विभाग
जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू-180006

सुरेन्द्र तिवारी

स्त्रियों की व्यथा-कथा में सने दो उपन्यास

भारत से बाहर रहकर भी हिंदी में लेखन करने वालों में सुदर्शन प्रियदर्शिनी एक चर्चित नाम है। उनका सद्यः प्रकाशित उपन्यास 'रेत का घर' स्त्री-पुरुष संबंधों की ही दास्तां है। परन्तु यहां इन संबंधों की सिर्फ़ चीरफाड़ नहीं है बल्कि इन संबंधों के हर पहलू को बहुत ही बारीकी से लेखक ने इंगित किया है। पुरुष हमेशा से ही एक सत्ताधारी के रूप में स्त्री पर राज करता रहा है, क्योंकि लेखिका के अनुसार 'दुनिया में दो ही वर्ग हैं.. .एक सत्ताधारी दूसरा और अशक्त! एक राज कर सकता है, दूसरा दास बनकर जी सकता है। यही सारी दुनिया की मूलभूत प्रवृत्ति है...इसी पर राज्य खड़े हैं। और इसी पर घर के अंदर की राजनीतियां चलती हैं।' यह जो 'घर के अंदर की राजनीति' है, वास्तव में पति-पत्नी के बीच बनते-बिगड़ते संबंधों की राजनीति है, जहां पुरुष सिर्फ़ अपने पौरुष के अभिमान में जीता है, और उसका यह दर्प, दर्प-भरा व्यवहार स्त्री के लिए अभिशाप बन जाता है।

इन स्थितियों को रेखांकित करने के लिए लेखिका ने एक त्रिकोणात्मक प्रेमकथा को आधार बनाया है। नीलकंठ पहले सीमा से प्यार करता है परन्तु शादी उषा से करनी पड़ती है और कुछ दिनों बाद सीमा फिर उसकी जिंदगी में आ जाती है। यहीं से तीनों के जीवन में तनाव और कुंठाएं पनपने लगती हैं। इनके साथ ही कमलकांत और मंजुला की कहानी भी चलती है, जो पति-पत्नी होने के बावजूद कुछ दूरियों के बीच जी रहे हैं। उपन्यास में कथ्य का कोई नयापन नहीं है किंतु कहने का जो ढंग है वह रोचक है और पाठक को अपने से बांधे रखता है। लेखिका ने सेक्स और प्रेम को भी अपने ढंग से परिभाषित किया है। वह मानती हैं कि सेक्स हमारे जीवन में एक अनिवार्य तत्व है, शरीर पुराण के समक्ष कुछ क्षण सभी हारते हैं, लेकिन दाम्पत्य जीवन में आकर अतीत की परछाइयां (जाने-अनजाने बने यौन-संबंध का प्रकट होना) घिरी रहें तो जीवन का पल-पल कठिन हो जाता है। अपने पात्रों के माध्यम से इस सत्य को बहुत ही सुरुचिपूर्ण ढंग से लेखिका ने प्रकट किया है।

उपन्यास मूलतः पुरुष के जीवन में उपस्थित दूसरी औरत के कारण उत्पन्न उलझनों और संकटों को दिखाता है। उपन्यास का एक ही निष्कर्ष है- 'आदमी के सिर पर जब दूसरी औरत का नशा आठवें आसमान तक उठ जाता है तब उसके नीचे अपनी औरत बहुत बौनी हो उठती है।' परन्तु इस उपन्यास का जो चौंकाने वाला मोड़ है वह है परित्यक्ता मंजुला और विधुर श्वसुर के बीच बना शारीरिक संबंध। असामाजिक होते हुए भी शारीरिक मांग की पूर्ति हेतु ऐसे संबंध कितने स्वीकार्य हो सकते हैं, यह सोचने पर हम मजबूर हो जाते हैं। इस प्रश्न को उभारना ही शायद इस उपन्यास का मूल उद्देश्य रहा है। नैतिकता-अनैतिकता के बीच फंसा आदमी 'काम' के समक्ष कितना अशक्त, लाचार हो उठता है, संबंधों की चारदीवारी किस तरह भरभरा कर गिर जाती है, इसकी ओर यह उपन्यास संकेत करता है।

सुदर्शन 'प्रियदर्शिनी' के पास एक सुगढ़ और रोचक भाषा है, अपनी बात कहने का ढंग है जिस कारण रचना की पठनीयता बढ़ती है, प्राकृतिक वर्णन करते वक़्त तो उनकी भाषा कवितामय हो उठती है... 'सांध्य की सिंदूरी आभा पहाड़ों पर उतरकर कहीं स्वर्णिम पंख लगाकर उड़ने लगी थी।' जैसी पंक्तियां कई जगह पढ़ने को मिल जाती हैं। भाषा का अपना एक सौन्दर्य होता है और उसका दर्शन इस उपन्यास में होता है।

निर्मला सिंह के 'सरोरुह' उपन्यास में शैफ़ाली नामक एक ऐसी कर्मनिष्ठ सत्यवादी एवं ईमानदार लड़की की कहानी है जो हमेशा अत्याचार, भ्रष्टाचार, धार्मिक भेदभाव का विरोध करती है। बचपन में नितिन उसका सहपाठी है। कुछ बड़ी होने पर उसे पता चलता है कि नितिन उससे प्रेम करता है, किंतु उसके मन में ऐसी कोई भावना नहीं है, अतः नितिन को स्पष्ट ही अपने मन की बात बता देती है। नितिन का भ्रम दूर हो जाता है और दोनों सच्चे मित्र के रूप में साथ रहने लगते हैं। बाद में युवा नितिन नौकरी करने लंदन चला जाता है और तब उसकी कमी को महसूस कर शैफाली इस तथ्य को स्वीकार करती है कि नितिन उसका सिर्फ़ मित्र ही नहीं हैं बल्कि उससे वह प्रेम भी करती है। वह अपने मनोभाव को नितिन के सामने प्रकट कर देती है और एक सच्चे प्रेमी की तरह नितिन जो अब तक अविवाहित रहकर शैफाली के ऐसे निर्णय की प्रतीक्षा में ही था, उसके प्रेम को स्वीकार कर लेता है और दोनों शादी कर लेते हैं। शादी के बाद नितिन फिर लंदन चला जाता है परन्तु शैफाली अपनी नौकरी में ही लगी रहती है।

साधारण तौर पर, इस कथ्य के आधार पर, इसे हम एक

प्रेम-कथा के रूपमें ही लेंगे किंतु लेखिका ने शैफाली को इसके साथ ही एक अलग रूप में भी चित्रित किया है जिससे यह उपन्यास मात्र प्रेमकथा बनने से बच जाता है। प्रेम के रंग के साथ ही शैलाफी का संघर्षमय व्यक्तित्व भी है, समाज सुधारक का रूप भी है। अपने गांव में हो रहे अत्याचारों, भ्रष्टाचार आदि को वह देखती है। उसका भावुक हृदय चारों ओर नागफनी-सी फैली रूढ़ियों, परंपराओं, औरतों पर हो रहे अत्याचारों को देखकर लहूलुहान हो उठता है। पहले उपन्यास के तरह ही यहां भी स्त्री पर पुरुषों द्वारा किए गए अत्याचारों- अन्यायों की कई गाथाएं हैं। शैफाली एक जगह सोचती है- 'यह कैसी शिक्षा है, कैसा समाज है कि बराबर का नारी कमाये, फिर भी सिलबट्टे पर चटनी की तरह पीसी जाए, फिर रात को दाल चावल रोटी के साथ स्वाद ले-लेकर खाई जाए।' (पृ. 29)

नारी शोषण की यह गाथा अपरंपार है और शायद इसी कारण महिला रचनाकारों का ध्यान ज़्यादातर ऐसे विषयों पर ही जाता है। शैफाली इन अत्याचारों के ख़िलाफ़ ख़ड़ी होती है, ऐसे लोगों का विरोध करती है। चुनावों में धांधलीबाजी का भी विरोध करती है। यहां तक कि जब वह एक कामकाजी स्त्री के रूप में लखनऊ पहुंचती है तो वहां के एक नारी निकेतन में महिलाओं का उत्पीड़न देखकर वहां भी उनकी समस्याओं को दूर करने में जुट जाती है। अपने कार्यालय में उन लोगों का विरोध करती है जो घूसख़ोर हैं, बेईमान हैं। किंतु वह पाती है कि उसकी यह लड़ाई नितांत एकाकी है, उसका साथ देने को कोई तैयार नहीं है बल्कि उसके शत्रुओं की संख्या ही बढ़ी है, इससे वह हतोत्साहित होने लगती है और अंत में पति के कहने पर नौकरी छोड़कर लंदन चली जाती है।

लेखिका ने कोशिश की है कि नारी संघर्ष को शैफाली के माध्यम से तेज़ किया जाए पर अंत में उसे संघर्षों से हारते हुए ही दिखाया है, बल्कि भगोड़ा बना दिया है, जो सब कुछ छोड़कर लंदन चली जाती है, एक सुविधाजनक ज़िंदगी जीने के लिए, और इस तरह एक जीवंत और संघर्षशील चरित्र का पटाक्षेप हो जाता है तथा उपन्यास यहीं आकर कमज़ोर हो जाता है।

निर्मला सिंह का यह चौथा उपन्यास है और निस्संकोच भाव से कहा जा सकता है कि कथ्य और भाषा दोनों को साधने में वे सिद्धहस्त हैं। उपन्यास में कहीं भी न तो बिखराव आया है, न ही बोझिलता है। पाठकीय दृष्टि से किसी भी उपन्यास की ये विशिष्टताएं ही सिद्ध होती हैं।

बी-3/76, सेक्टर-16, रोहिणी, नई दिल्ली-110089

डॉ. मंजु गुप्ता

आधुनिक स्त्री का ज़िन्दगीनामा

'हिन्द पॉकेट बुक्स' द्वारा 'हिन्दी साहित्य निर्माताओं की यादगारी कथा श्रृंखला' के अंतर्गत प्रकाशित 'मीरा सीकरी की यादगारी कहानियां' में उनकी तीस प्रतिनिधि एवं चर्चित कहानियां संकलित हैं जिनमें घर, बाहर, व्यक्ति, समाज, परिवार, व्यक्ति-मन, परिवेश, बढ़ती हिंसा, आतंक, पारस्परिक संबंध आदि को लेकर कथा सूत्र बुना गया है। एक अकेली स्त्री सभी के लिए आज भी जीवन कितना दुष्कर है...हर क़दम पर कितनी तरह की पेरशानियां और चुनौतियां है इसका सटीक एवं सीधा विवरण और नारी-मन की विवशता का खुलासा करती ये कहानियां आधुनिक स्त्री के दिलो-दिमाग़ की जीती-जागती तस्वीरें हैं, जिनके माध्यम से उसकी ज़द्दोज़हद, कश्मकश और निरंतर होने वाली मानसिक यंत्रणा का सक्सरे-चित्र पाठक के सम्मुख आ जाता है।

मीरा स्वयं एक स्त्री हैं, भुक्तभोगी हैं और संवेदनशील लेखिका भी, इसलिए इन कहानियों में सह-अनुभूति नहीं स्वानुभूति जितनी शिद्दत के साथ अभिव्यक्त हुई है वही इस आकार में अति लघु कहानियों को एक विशाल और व्यापक कैनवस प्रदान करता है। सीधी-सादी टिप्पणियों के रूप में लिखी ये कहानियां कथ्य और अभिव्यक्ति में इतनी कसावट ली हुई हैं कि 'नावक के तीरों की तरह सीधे पाठक के दिल पर प्रहार करती हैं, दिमाग की नसों को झनझनाती हैं और मनोमस्तिष्क को झिंझोड़ कर रख देती हैं।

आकार छोटा होने पर भी अपनी संवेदनशीलता और कथ्य की बेबाक प्रस्तुति के कारण ये कहानियां अन्य समकालीन कहानियों की तुलना में विशिष्ट हैं और एक अनूठी प्रभावान्विति से अनुस्यूत भी। किसी भी एक स्थिति या घटना को लेकर वे कहानी बुन लेती हैं और उस स्थिति के कई बहुस्तरीय आयामों का उद्घाटन करती हुई उस साधारण-सी स्थिति व घटना को वर्तमान सामाजिक परिप्रेक्ष्य का आईना बनाकर प्रस्तुत करती हैं। 'पैंतरे' शीर्षक कहानी को ही लीजिए...कुल जमा चार पृष्ठों की इस कहानी का केन्द्रीय बिंदु सिर्फ़ यह घटना है कि पारवती दो दिन से बिना बताए काम पर नहीं आई और जब आती भी है तो बड़ी होशियारी से लेखिका को मूर्ख बनाकर चार दिन की आगामी छुट्टी और कुछ एडवांस रुपये भी मांग लेती है। कहानी का प्रारम्भ कामकाजी महिलाओं की लगभग रोज़ होने वाली बोझिल सुबह से होता है। कामवाली

का न आना या समय से न आना कामकाजी महिलाओं के लिए किस प्रकार उबाऊ, असाध्य और उनकी सहनशीलता पर जड़ी अंतिम कील की तरह यंत्रणादायी होता है, यह एक कड़वी सच्चाई है। इस पर पति का फुर्सत से बैठकर अख़बार पढ़ना और चाय पीना तथा घर के किसी भी काम में हाथ न बंटाना उनके लिए बरदाश्त से बाहर हो जाता है। पति-पत्नी की ये दो अलग भूमिकाएं हमारे समाज का रोज़मर्रा का क़िस्सा हैं जिससे किसी भी वर्ग की स्त्रियां बची नहीं हैं। कहानी में इस स्थिति का यथार्थ चित्रण कर लेखिका ने कहानी को एक रियलिस्टिक शुरूआत दी है।

निम्नवर्ग के परिवारों में पति के मरते ही पत्नी को घर के दूसरे मर्द के साथ बिठा दिया जाता है। इस प्रथा का आधार स्त्री के प्रति कोई सहानुभूति नहीं 'बल्कि यह सोच अधिक है कि घर का पैसा व संपत्ति बाहर न जाने पाए। पारवती स्पष्ट कहती है- "भाई ब्याया हुआ है। बैठाने की बात कहो तो छोटी प्राभी फिसाद कर देती है। बड़ी मुश्किल हो रही है। इव देखो न, जा मकान में मेरा भइया रैवे न, वो बड़ी भाभी का है। अब अगर इसे भइया के साथ न बिठावें तो दिन को मकान न ख़ाली करना पड़ेगा। अउर भी सारे हमारे यां के ज़ेवर अंउर चालीस तोले चांदी तो विसी के पास है।"

कामवाली पारवती के माध्यम से निम्नवर्ग की परंपराओं, रीतिरिवाजों, मानसिकता एवं सोच की एक झलक प्रस्तुत करने के साथ-साथ लेखिका कहानी के बीच में अपने दोनों बच्चों बिट्टू और पिंकी के माध्यम से मध्यवर्ग की दोहरी मानसिकता पर भी प्रहार करने से नहीं चूकती। मां का नौकरानी को साथ बैठाकर चाय पिलाना पिंकी को ज़रा भी नहीं भाता और वह अपनी नाराज़गी साफ़ शब्दों में व्यक्त करती है- "आपका क्या है, आप तो नौकरों को भी डाइनिंग टेबिल पर बिठाकर उनसे गप्पबाज़ी करती हैं। कुछ तो तरीक़ा होना चाहिए, कुछ अंतर रखना चाहिए। ... आप तो पारवती के साथ ऐसे चाय पी रही हैं जैसे वह नौकर न हो, हमारी मौसी हो। क्या कहेगी मेरी दोस्त नलिनी?"

और पिंकी के इस कमेन्ट पर लेखिका की टिप्पणी भी ध्यातव्य है- "क्या मतलब है तुम्हारा? कहने को आधुनिका बनती हो, मान और समानता की बातें करती हो और जब घर में हम उसे व्यावहारिक रूप देते हैं तो सबसे बड़ी विरोधी बन जाती हो। अरे, मैं कहती हूं, तुम्हारी आधुनिकता और प्रगतिशीलता तो केवल कपड़ों तक सीमित है। तुम्हारे काग़ज़ी विरोध और लंबी बहसें तो ड्राइंगरूम की टेबिलें तोड़ने के लिए ही हैं।"

मीरा सीकरी की ये कहानियां आज की दुनिया के संपूर्ण परिवेश, जैसे-सामाजिक ताना-बाना, हिंसा, आतंक आदि के विविध पक्षों को पाठकों के समक्ष रखती हैं। विशेषकर हिंसा का आतंक विश्व के लगभग सभी भागों में मनुष्य की चेतना को त्रस्त किए है। विश्व के अनेक देशों का भ्रमण कर चुकी लेखिका हिंसा के आतंक में जीते मनुष्य की मनःस्थितियों के साथ ही उसके कारणों की भी पड़ताल करती चलती हैं। परिवार और समाज में संबंधों में व्याप्त अप्रत्यक्ष हिंसा, व्यक्ति को किस प्रकार खंड-खंड करती है, यह इन कहानियों का सर्वाधिक प्रबल पक्ष है जो मीरा सीकरी की कहानियों को एक विशिष्ट पहचान देता है। 'अनहोनी की भूख', 'जो मैं ऐसा जानती', 'सच्ची-सच', 'शिट पॉट', 'मजीबा लाला' आदि कहानियां इसकी सक्षात-प्रमाण हैं।

संग्रह की पहली कहानी 'नवीकरण' एक बेहतरीन कहानी है, जिसमें स्त्री-पुरुष संबंधों की यथार्थ भंगिमा देखते ही बनती है। आधुनिक नारी की व्यथा-कथा....बिना थोथी भावुकता के.. .केवल यथार्थ की मीमांसा स्त्री-पुरुष संबंधों के नये रूप प्रकट करती है। बरसों पहले परित्यक्त पति की मृत्यु के बाद उसके शव को घर में लाना और परिणामस्वरूप होने वाली नारी-मन की सहज प्रतिक्रिया कहानी में अनूठापन ले आती है। फ्लैशबैक पद्धति से पिछली यादें ज़िंदगी की कथा उकेरती चलती हैं। शराबी पति की ज़्यादतियों से तंग आकर जब वह कॉलेज के आवास परिसर के छोटे से फ्लैट में शिफ्ट कर लेती है तो उसकी अंतरंग सखी अमिता उसे समझाती है : 'किसी की परवाह नहीं करना। समझ लो कि पति मर गया - मन में उसका संस्कार करो, शोक मनाओ...रोना आए तो रोओ-धोओ-रोने को छिपाओ नहीं, तेरहवीं करो, - सत्रहवां करो - मुक्त न हो पाओ तो चालीसवां बरसी - दो बरसी करो, पर मन से 'लेट गो' कर दो उसको, कोई कुछ पूछे तो सीधे से कह दो उससे अलग रह रही हो तुम, सारे संपर्क काट डाले हैं तुमने।"

और इस प्रकार बरसों से बेटे के साथ अलग रह रही लेखिका के घर जब मृत पति का शव पहुंचता है तो उसकी प्रतिक्रिया का एक शब्द-चित्र देखिए - "तो क्या बेटा बॉडी ले आया? उसके पेट के निचले हिस्से में हॉल-सी पड़ी और वह अपने पेट को पकड़, पीठ को दीवार से टिका वहीं बैठ गई। इतने वर्षों बाद एक घर में वे दोनों साथ होंगे- साथ होने की इस विडम्बना में उसके होंठों पर एक लकीर-सी खिंच गई- वह नहीं जानती यह रूलाई है या मुस्कान। साथ होने पर कभी साथ नहीं रहा पर उस घर से यहां आ जाने पर उसे लगता रहा कि वह हर समय अपनी अदृश्य उपस्थिति लिए लोगों की आंखों में, उनके प्रश्नों में, उनकी

जिज्ञासाओं में उसके साथ चिपक गया है।

नयी पीढ़ी की महत्वाकांक्षी लड़कियों की दास्तान है- 'नयी डिज़ाइनर' शीर्षक कहानी। इसमें 'प्रेमा' आई.ए.एस. में सलेक्शन हो जाने के बाद यूनिवर्सिटी की लैक्चररशिप छोड़कर सर्विस ज्वाइन करना चाहती है क्योंकि उसे कोलकाता में कलेक्टर का अपवाइंटमेंट मिल रहा है। इस पर उसके पति 'थौकी' की प्रतिक्रिया देखिए- "प्रेमा डेढ़ साल पहले अपनी एंगेज़मेंट पर हमने यही तय किया था कि तुम दिल्ली यूनिवर्सिटी में जॉब करोगी। तुम कोलकाता चली गईं तो हमारा संबंध 'विज़िटिंग हसबैंड और विज़िटिंग वाइफ' का रह जाएगा न...। घर कहां बनेगा?" इसी स्थिति पर बौखलाया अमित बुड़बुड़ारहा था- "एक यह प्रेमा जी और वो महारानी जी अपनी रुचि के हिसाब से हमें गढ़ना चाह रही हैं।...साली सब एक-सी होती हैं। अच्छे लड़के मिल गए न. ..इतना कमा रहे हैं हम। टाइम पास करने के लिए कुछ सुविधापूर्ण काम कर लेतीं। पर नहीं, इन्हें तो बड़ी नौकरियां करनी हैं।

स्त्री की योग्यता, प्रतिभा, परिश्रम और इच्छा का कोई महत्व नहीं है इनके लिए। परिवार के लिए हर हाल में उसे समझौते करने ही होंगे...अन्यथा घर टूटेगा...संबंध बिखरेंगे ही। क्योंकि मर्द होने मात्र से ही उन्हें यह अधिकार जो मिल जाता है कि स्त्री को अपनी उंगलियों के इशारे पर मनमाना नचा सकें। आज की आधुनिकाओं की यह घर-घर की कहानी है। लेखिका ने इस नयी सामाजिक समस्या को, बिना इसका कोई समाधान दिए, ज्यों का त्यों प्रस्तुत कर दिया है।

'पालतू पिल्ला' कहानी में वृद्धावस्था में अकेलेपन की पीड़ा से जूझती स्त्री की वेदना का मार्मिक चित्रण है, विवाह के बाद जब इकलौता बेटा, बहू को लेकर अलग रहने लगता है तब 'सीमा' स्वयं को समझाती है- 'उसे डिप्रेशन का शिकार नहीं बनना। उसे अपने पर क़ाबू पाना ही होगा। अभी तक ज़िंदगी का केंद्र बेटा था। अब उसे अपने आपको ही केंद्र में रखना होगा, अपने लिए जीना सीखना होगा...और उसने संकल्प लिया कि वर्तमान जैसा भी है, वह उसे उसी रूप में स्वीकार करेगी।

'पुचकार' की वृद्धा नायिका सीनियर सिटीज़न है। पर किससे बांटे अपने डर और रोज़-रोज़ की टेन्शन्स? इकलौती बेटी के साथ जो ऑफिस के लिए निकली हुई, रात को लौटती है। पहले भी लौट आए तो उसे कौन-सा उसके साथ बैठना होता है। ऊपर अपने कमरे में पहुंची और दरवाज़ा बंद। ...कुछ पूछना हो तो फ़ोन करो। उसने एक ठंडी-सांस भरी।' पति की मृत्यु के बाद अनब्याही बेटी 'मृणु' की चिंता उसे चैन से बैठने भी नहीं देती। 'मृणु' के कमरे की बेतरतीब हालत देख वह सोचती है कि आज ज़रूर 'मृणु' को डांटेगी। वैसे भी लड़की को कुछ तो शेअर करना चाहिए, तनख़ाह के इतने पैसे कहां ख़र्च करती है? चौदह हज़ार गाड़ी का लोन, पांच हज़ार ड्राइवर को, बीस-पच्चीस हज़ार पॉकेट मनी भी लगा लो तो बाक़ी पैसे कहां जाते हैं... सोचते-सोचते वह थक जाती है। इस बंद घर में ऊब जाती है। उसे अपनी सांस घुटी-घुटी-सी लगती है। उसे लगता है ज़ोर-ज़ोर से रो ले, पर.. .वह मृणु को फ़ोन मिलाती है- 'बेटा थोड़ा वक़्त अपनी मां के लिए भी निकाल लिया कर। कुछ मेरी सुन लिया कर, अपनी बता दिया कर...

- मॉम, कम टू द पाइंट।

- बेटा, तेरा कमरा इतना गंदा होता है कि कोई काम करने के लिए तैयार ही नहीं होता...मेरा मतलब है

- तो कहो, तो मैं घर छोड़ कर चली जाती हूं...

- उसने अपना सिर पकड़ लिया...भौंचक...हतप्रभ...

अकेली स्त्रियों की ये कहानियां, कथा कम, सच्चाई अधिक हैं। जीती-जागती सच्चाई, जिसे आज हमारे महानगरों में कितने ही सीनियर सिटीज़न... भुगत रहे हैं। आख़िर तरक़्क़ी और आधुनिकीकरण के नाम पर हम कहां जा रहे हैं?... क्या होगा ऐसी पढ़ाई, ऐसी नौकरी...ऐसी ज़िंदगी का...जहां कोई खुशी नहीं, चेहरे पर रौनक़ नहीं...जीने का कोई उत्साह और उमंग नहीं...बस... भागमभाग...वह भी ऐसी जिसका न कोई अंत है और न ही कोई लक्ष्य।

'अपनी म्यांऊ के लिए' कहानी 'लिव इन रिलेशनशिप' को आधार बनाकर लिखी गई है- जहां नायिका 'जय' के साथ इकट्ठा रहने का निर्णय करती है। वहां घर को व्यवस्थित करना, जय को अपनी स्वतंत्रता में दख़लंदाजी लगता था। रोज़ शराब और सिगरेट पीना भी उसकी स्वतंत्रता में ही शुमार था। चाहता था कि उसकी हर बात की हां में हां मिलाती रहे। उसकी इच्छानुसार हर चीज़ उसके आगे हाज़िर कर दे ताकि वह अपनी मनपसंद ज़िंदगी जीता रहे...। उसे अब समझ आ रहा था कि 'जय' चाहता है, कि वह नौकरी तो ज़रूर करे पर वहां, जहां से पैसा तो ज़रूर आए पर उसकी पहचान न बन पाए। शायद इसीलिए, वह चाहता है कि उसका रोल एक घरेलू औरत का ही रहे।" और यह समझ आ जाने के बाद वह तय करती है कि वह अब और अधिक यहां नहीं रहेगी और अपनी मौसी को फ़ोन करती है कि वह उसके लिए एक कमरा तैयार रखें, जहां वह स्वतंत्र रूप से, किसी भी नियत और निश्चित फ्रेम से मुक्त हो, 'मैं' बनकर रह सके।"

'अब मैं जानी कि' में बहू के आने के बाद अकेली स्त्री के जीवन में आने वाले बदलाव को आधार बनाया गया है। बहू 'वंदना' जब बेटे के टूर पर जाने के बाद अपनी सहेली के भाई को दो-एक दिन के लिए घर में रखना चाहती है तो उससे न तो मना करते बनता है न ही स्वीकारते और वह निश्चय करती है कि बहू के जीवन में सेंसर की भूमिका तो वह निभा नहीं सकती। अपना सेंसर तो व्यक्ति को खुद ही बनना होता है। फिर वह क्या करे, वह समझ नहीं पा रही।

मीरा सीकरी जिंदगी की रोज़मर्रा की हक़ीक़त को बारीक़ी से देखती यानी ऑब्ज़र्व करती हैं और बड़ी सहजता एवं ख़ूबसूरती के साथ, सादे लेकिन धारदार ढंग से अभिव्यक्त भी कर देती हैं। मानवी मनोविज्ञान की गहरी जानकारी उनके चरित्रों को जीवन्त बनाती है। मानवीय स्वभाव पर उनकी बीच-बीच में दी गई टिप्पणियां उनकी मनोवैज्ञानिक सूझ-बूझ का प्रमाण हैं। बानगी के तौर पर ज़रा उनका यह कथन देखिए- ''इसीलिए तो मुझे किसी के घर जाकर रहना मुश्किल लगता है। वैसे भी पचास की उम्र तक आते-आते आपकी कुछ आदतें और ज़रूरतें ऐसी आवश्यक हो जाती हैं, जिन्हें आप अपने घर में तो महसूस भी नहीं करते, पर अपने घर से बाहर मामूली-सी सुविधाएं भी बहुत बड़ी चीज़ हो जाती हैं।' अथवा 'भारतीय मन इक्कीस डॉलर को पचास से गुणा कर रहा था', 'उस हरियाले पथ पर चलते हुए मुझे लगा बरसों बाद प्रकृति मेरा हाथ पकड़ मुझे अपना परिचय दे रही है।'

'सुखगाथा' में उनका कहना है कि ''स्तरीय पढ़ना-लिखना होता रहे तभी सुरुचि पनपती है और व्यक्तित्व समृद्ध होता है वरना तो भीतरी सब कुछ सूख जाता है। उसकी आंख की कोर में आया आंसू गाल पर लुढ़क आया था। उसने आंखे पोंछी,अपने को आश्वस्त किया- 'दुःख काहे का, वह वेस्ट कहां हुई? बच्चे अच्छे से सैटल हो गए हैं- लड़का इंजीनियर और लड़की डॉक्टर. ..यह अलग बात है कि दोनों उससे दूर अमेरिका में अपनी-अपनी गृहस्थी में व्यस्त हैं।''

'विसर्जन' आज की पारिवारिक टूटन का खुलासा करने वाली एक असाधारण कहानी है। आज के समय में, एकल परिवार का टूटना भी समय की धारा में एक सहज प्रक्रिया है। जिस बेटे ने अपने विवाह के बाद, बिना पल भर की भी देर लगाए अपनी मां को बिलकुल अकेला छोड़ दिया था, आज वही अपने बेटे-बहू के तिरस्कार से आहत होकर अमेरिका से स्वदेश वापिस लौट आया है और अपनी मां से उम्मीद करता है कि वह उसके घावों पर ममता का मरहम लगाये लेकिन बरसों के एकाकीपन को भोगती मां उसे दूसरी ही राह सुझाती है- 'बेटा, विसर्जन की प्रक्रिया तो बच्चे में जन्म से ही शुरू हो जाती है। बच्चा मां के गर्भ में पूर्ण हुआ नहीं कि प्रकृति उसे बाहर संसार में ढकेल देती है। विसर्जन प्राकृतिक है बेटा! फिर दुख या आक्रोश क्यों? क्या तुझे मैं दुखी दिखती हूं? बस प्रार्थना कर जब तक जिएं, ये अंग क्रियाशील रहें और उसने सिद्धासन मुद्रा में फिर आंखें मूंद लीं।'

आज की कामकाजी महिलाओं के संत्रास-भरे जीवन के विविध पक्षों को 'सूखी आंखों के आंसू', 'सुन रही हो ममा' 'विस्थापित, 'बिट्टो जानती है', 'नदी नाव संयोग', 'साथ-साथ', 'बॉय-बॉय' 'शिट पॉट', 'जो मैं ऐसा जानती', आदि अनेक कहानियों में सशक्त ढंग से व्यक्त किया गया है। नारी विमर्श के सभी महत्वपूर्ण पहलू इन कहानियों में व्यक्त हो गए हैं। स्त्री अधिकारों को लेकर कोई दावा या फ़तवा न देने के बावजूद ये कहानियां आधुनिक नारी जीवन की विडम्बनाओं को पूरी संज़ीदगी के साथ उकेरती हैं।

प्रश्न अनब्याही उम्र की लड़की का हो, विवाह के बाद दाम्पत्य जीवन की पेचीदगियों का अथवा वृद्धा स्त्री के घोर एकाकीपन का, सभी को लेखिका ने पूरी संवेदना के साथ सामने रखा है और सलीके से ट्रीट किया है। मीरा सीकरी की इन कहानियों में कथ्य की रोचक एवं यथार्थ प्रस्तुति के साथ शिल्प भी अत्यंत सधा हुआ, सशक्त और विषयानुरूप है। भाषा विषय एवं पात्रों के अनुकूल होने के फलस्वरूप कहानियों में अनूठी नाटकीयता भी स्वयमेव आ गई है। कई बार ये कहानियां दृश्यपट पर घटित घटनाओं की तरह आंखों के सामने चित्र पर चित्र उकेरती चलती हैं। निस्संदेह मीरा सीकरी समकालीन कहानीकारों के बीच इन यादगारी कहानियों के माध्यम से अपनी एक नितांत अलग एवं विशिष्ट पहचान, बनाने में समर्थ हुई हैं। बात स्त्री-पुरुष के समानाधिकारों की हो, स्त्री सजगता, नारी की महत्वाकांक्षा, स्वत्व की पहचान अधिकारों के प्रति जागरूकता अथवा टूटते पारिवारिक संत्रास की अथवा परिवेशगत आतंक, हिंसा, स्त्री-पुरुष संबंधों में व्याप्त विविध विडम्बनाओं की, सब कुछ इन कहानियों के माध्यम से पाठकों के सम्मुख जीवन्त होकर आया है। नारी विमर्श का नाम लिए बिना, कोई नारा लगाए बिना ये कहानियां आधुनिक नारी की अनकही व्यथा का रोज़नामचा बन गई हैं। साहित्य जब ज़िन्दगी की ज़मीन पर भीतर प्रसुप्त बीजों की तरह स्वतः प्रस्फुटित होता है तभी दुख-सुख से परे आनंददायी बनता है और मीरा सीकरी की ये यादगारी कहानियां जीवन यथार्थ से इस तरह एकरूप हो गई हैं कि कहानी होकर भी आधुनिक स्त्री जीवन का ज़िन्दगीनामा बन गई हैं।

जे-36, साकेत, नई दिल्ली-110017

सुरेन्द्र तिवारी

कुछ पत्रिकाओं के विशेष अंक

इस वर्ष छह मूर्धन्य रचनाओं की जन्मशताब्दी मनाई जा रही है। ये रचनाकार हैं- अज्ञेय, शमशेर बहादुर सिंह, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, फैज़ अहमद फैज़ और उपेन्द्रनाथ अश्क। इस अवसर पर कई पत्रिकाओं ने इन रचनाकारों पर विशेषांक निकालने की योजना बनाई है, किंतु इस दिशा में 'अक्षरपर्व' अग्रगण्य रहा है। 'अक्षरपर्व' (सं. सर्वमित्रा सुरंजन, 506, आईएनएस बिल्डिंग, 9 रफी मार्ग, नई दिल्ली-1) के अब तक तीन विशेषांक आ चुके हैं। इन विशेषांकों के माध्यम से इन रचनाकारों के व्यक्तित्व और कृतित्व के अनेक पहलुओं की जानकारी हमें मिलती है। 'अज्ञेय-विशेषांक' में अजित कुमार, इंदिरा मिश्र, कमला प्रसाद, कृष्णदत्त पालीवाल, परमानंद श्रीवास्तव, बलदेव वंशी, विजय बहादुर सिंह जैसे सिद्धहस्त रचनाकारों के संस्मरण-विश्लेषण अज्ञेय को नये सिरे से समझने में मदद करते हैं। अज्ञेय की कुछ अप्राप्य तस्वीरों का प्रकाशन इस अंक का विशेष आकर्षण है। 'नागार्जुन' के साहित्य और जीवन के बारे में आनंदस्वरूप श्रीवास्तव, कुमार विमल, केवल गोस्वामी, खगेन्द्र ठाकुर, माताचरण मिश्र, रमाकांत श्रीवास्तव, सुरेन्द्र तिवारी आदि के महत्वपूर्ण आलेख हैं। कहीं नागार्जुन जनक्रांति के स्वप्नद्रष्टा हैं (डॉ. नरेश) तो कहीं लोक जीवन के मसीहा (राजेन्द्र परदेसी) तो कहीं प्रगतिशील चेतना के कवि (वर्षा शाह)। यानी बाबा के हर रंग को इस विशेषांक में पाया जा सकता है। तीसरा विशेषांक शमशेर बहादुर सिंह को समर्पित है। ओम भारती, उर्मिला शुक्ल, प्रभा दीक्षित, नरेन्द्र पुण्डरीक आदि अनेक रचनाकारों ने अपने-अपने हिसाब से शमशेर को तौला है। निश्चित रूप से ये तीनों विशेषांक इन तीनों रचनाकारों के बारे में बहुत कुछ बता जाते हैं। किसी भी रचनाकार के प्रति सही श्रद्धांजलि यही होती है कि हम उसके साहित्य के मर्म को समझें, समझने का हमें मौक़ा मिले, और यह मौक़ा 'अक्षरपर्व' ने दिया है।

'दिव्यालोक' (सं. जगदीश किंजल्क, साहित्य सदन, प्लाट नं. 145ए, साईनाथ नगर, 'सी' सेक्टर, कोलार, भोपाल-462042) पहले अम्बिका प्रसाद दिव्य स्मृति प्रतिष्ठा पुरस्कार प्रदान करने के अवसर पर प्रकाशित होने वाली वार्षिक पत्रिका थी, अब अर्द्ध वार्षिक है। यह नहीं कि इसकी सिर्फ़ आवधिकता ही बदली है, बल्कि रचनात्मक स्तर पर भी अब इसमें काफ़ी सुधार आया है। अब रचना चयन में एक सजगता नज़र आती है जिससे इसका स्वरूप पूर्णतया साहित्यिक हो गया है। इसका अंक-14 अभी आया है जिसमें नई पीढ़ी के अनेक सशक्त हस्ताक्षरों की रचनाएं हैं। कमल कपूर, नताशा अरोड़ा, स्वाति तिवारी, पूर्णिमा केडिया 'अन्नपूर्णा', निर्मला सिंह आदि की कहानियां, नीलाभ, इशाक अश्क़, शंभूनाथ सिंह, मोहन सपरा आदि की कविताएं, गीत पाठकीय संतुष्टि देने वाली रचनाएं हैं। जगदीश किंजल्क द्वारा आयोजित परिचर्चा - 'जीवन से हमने क्या सीखा' काफ़ी रोचक है। पत्रिका का एक और आकर्षण है- पुस्तक समीक्षा। कई समीक्षकों ने काफ़ी गंभीरता से पुस्तकों का आकलन किया है। सकारात्मक समीक्षा से जहां पुस्तक पाठकों तक पहुंचती है, नकारात्मक समीक्षा पुस्तकों का बहुत नुक़सान भी करती है, इस बात को आज अधिकांश समीक्षक नहीं समझते या जानबूझकर समझना नहीं चाहते। 'दिव्यालोक' में तो कम से कम समीक्षकों की दृष्टि नकारात्मक नहीं है।

इधर एक नई पत्रिका देखने को मिली- 'नव निकष' (सं. गिरिधर शर्मा, 6-7 जी, मानसरोवर कॉम्पलेक्स, पी. रोड, कानपुर-208012), हालांकि यह पत्रिका पिछले चार सालों से प्रकाशित हो रही है। स्वरूप में यह पत्रिका गंभीर नज़र आती है क्योंकि रचनात्मक लेखन से अधिक आलोचनात्मक/ विचारात्मक रचनाएं ही ज़्यादा हैं। चौथे वर्ष के तीसरे अंक में राजभाषा हिंदी पर विशेष लेख हैं। 'राजभाषा हिंदी और न्यायपालिका' (चक्रधर नलिन), 'रोज़गार परक हिंदी' (ईश्वर पवार), 'अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर हिंदी की स्थिति' (कांचन बाहेती), आदि लेख हिंदी की वर्तमान स्थिति पर वैचारिक दृष्टि प्रस्तुत करते हैं। आधुनिक नारी की व्यथा-कथा को प्रमिला अवस्थी ने अपने लेख 'ये उदासी, ये सिसकियां फिर ख़ामोशी' उकेरने की कोशिश की है किंतु बहुत संक्षिप्तता से काम लेने के कारण लेख सघन प्रभाव उत्पन्न नहीं कर पाता। अंक में सिर्फ़ एक कहानी है, रमाशंकर चंचल की 'अभागिन'। कथ्य में कुछ नयापन न होने के बावजूद रोचक ढंग से लिखी गई है इसलिए पठनीय है। हां, भवदेव पाण्डेय की आत्मकथांश अवश्य ही एक ईमानदार रचना है। पर्वों और उत्सवों को लेकर लिखा गया संपादकीय कई तरह के प्रश्नों को हमारे सामने छोड़ जाता है। संपादकीय की कुछ पंक्तियां हैं- 'मनुष्य के नाते हमारा मूल धर्म 'मानव धर्म' है। इसी मूल धर्म की स्मृति के आयोजन हैं लोकोत्सव। किंतु राम आज बहिष्कृत हैं धर्मनिरपेक्षवादी राजनीतिज्ञों से, साहित्यकारों से और जो रामानुयायी हैं, वे भी जुड़े हैं एक विशेष राजनीतिक प्रयोजन से। राम आज की राजनीति के केन्द्र में खड़े हैं।...साहित्यकार रामकथा को केन्द्र से हटा रहे हैं...उनके तथाकथित भक्त और विरोधी, दोनों राम को

संस्कृति से हटाकर राजनीति के केन्द्र में रखे हैं।' लघुकाय होते हुए भी पत्रिका दृष्टि-सम्पन्न है।

पैंतालीस वर्षों से प्रकाशित होने वाली पत्रिका 'रूपाम्बरा' (सं. स्वदेश भारती, 22वी, प्रतापादित्य रोड, कोलकाता-26) का 'भाषा साहित्य विशेषांक' कई दृष्टियों से एक महत्वपूर्ण प्रकाशन है। साहित्य की प्रायः सभी विधाओं (नाटक छोड़कर) को समेटने वाला यह अंक नये-पुराने रचनाकारों का एक संगम-सा है। धनंजय वर्मा, वेद प्रकाश अमिताभ, रत्नाकर पांडेय, हरि प्रसाद दुबे, महेन्द्र सिंह चौहान, राजेन्द्र उपाध्याय आदि के विभिन्न विषयों पर आलेख, राजेन्द्र जोशी, सुधेश, हरिशंकर अग्रवाल, फूलचंद मानव, शरदेन्दु शर्मा, राजकुमार कुंभज आदि की कविताएं, सुरेन्द्र तिवारी, जसविंदर शर्मा, गोवर्धन यादव, राजेन्द्र मोहन भटनागर की कहानियां, केवल गोस्वामी का व्यंग्य 'प्रजातंत्र के कुत्ते, नीरजा माधव की रम्य रचना 'अशांत दशमलव' के अतिरिक्त अन्य अनेक रचनाओं से युक्त यह विशेषांक संग्रहणीय है। हां, प्रूफ की ग़लतियां अवश्य खटकती हैं, जिस तरफ संपादक-प्रकाशक को ध्यान देना चाहिए।

कोलकाता से ही प्रकाशित 'छपते-छपते' का भी दीवाली विशेषांक आया है। 'छपते-छपते' (सं. विश्वम्भर नेवर, 26-सी, क्रीक रोड, कोलकाता-14) के विशेषांक अब अपना एक अलग महत्व बनाते चले जा रहे हैं और इसका सारा श्रेय विशेषांक संपादक श्रीनिवास शर्मा को जाता है जिन्होंने इस प्रकाशन को एक रचनात्मक दृष्टि दी है और देश के अनेक वरिष्ठ-कनिष्ठ साहित्यकारों को इससे जोड़ा है। साहित्य की विभिन्न विधाओं की भरपूर रचनाएं इस अंक में हैं। 'शमशेर बहादुर सिंह का काव्यलोक' (शिवकुमार मिश्र) 'शमशेर के कवि कर्म की प्रासंगिकता' (राम निहाल गुंजन), 'कैसे कहलाता कोई धरती का बेटा' (नागार्जुन पर खगेन्द्र ठाकुर); नागार्जुन की कविताओं पर वशिष्ट अनूप का लेख 'यही धुंआ में ढूंढ़ रहा था', मार्कण्डेय के व्यक्तित्व पर मधुरेश का लेख, कमर मेवाड़ी द्वारा नंद चतुर्वेदी का संस्मरण, बालेन्दु शेखर तिवारी, केसरी कांत शर्मा, नूर मुहम्मद 'नूर', हंसराज अरोड़ा आदि की व्यंग्य रचनाएं, अशोक अंजुम का नाटक 'ईमानदारी का अपहरण', जसवंत सिंह बिरदी, हसन जमाल, इन्दिरा राय, उर्मिला शिरीष, वीरेन्द्र सक्सेना, सुरेन्द्र तिवारी, जुबैदा हाशिम मुल्ला आदि की सत्रह कहानियां और क़रीब एक सौ काव्य रचनाएं, (कविता, गीत, नवगीत, दोहे, ग़ज़ल आदि) इस अंक को एकअलग विशिष्टता प्रदान करती हैं। निश्चित रूप से इस तरह के विशेषांकों की प्रतीक्षा पाठकों के साथ-साथ लेखकों को भी रहती है।

बी-3/76, सेक्टर-16, रोहिणी, नई दिल्ली-110089

हम भगत सिंह को क्यों पढ़ें?

विचारधारा मंच और अनिरुद्ध यादगार ट्रस्ट, जालंधर के सौजन्य से विचार-गोष्ठी में इस सवाल का जवाब तलाशने की कोशिश की गयी कि आख़िर क्यों भगत सिंह और उनके साथियों की शहादतों के बाद भारत में किसी और इन्क़लाबी लहर का इतना व्यापक असर और ऐसा बुलन्द इतिहास फिर कभी दिखायी नहीं देता? विचार-मंथन का यहां बहाना था- विनोद शाही की आधार प्रकाशन, पंचकूला से हाल ही में छपकर आयी किताब- 'भगत सिंह : इन्क़लाबी चिंतन के दस्तावेज़' का विमोचन। इस किताब में भगत सिंह के चुनींदा दस्तावेज़ों को इस सवाल के रूबरू करते हुए छापा गया है कि 'हम भगत सिंह को क्यों पढ़ें?' यह सवाल यहां इसलिए मौज़ूं है कि भगत सिंह और उनके साथियों की शहादतों के बाद से भारत में तमाम राजनैतिक दल और यहां तक कि अधिकांश विचारधारा-मूलक संगठन इन शहादतों के प्रति श्रद्धा के भाव उपजाते हुए 'भारतीय इन्क़लाब का ही आदर्शीकरण' करते रहे हैं। और इस प्रक्रिया में ख़ुद भगत सिंह और उनके साथियों के चिंतन का पाठ और पुनर्पाठ' लगातार मुल्तवी होता रहा है। गोष्ठी में सवाल उठा कि ऐसा क्या केवल भगत सिंह के संदर्भ में ही घटा है? 'देस पंजाब' के संपादक और प्रखर चिंतक गुरबचन सिंह का मानना था कि बाद के दौर के नक्सलवाद तथा नेपाल और पूर्वांचल के अब के माओवाद में भी यही कमी ख़ासतौर पर 'पहचानने' लायक़ है कि इन इन्क़लाबी लहरों में मार्क्स, लेनिन या माओ के प्रति प्रेरक नायकों जैसे भाव तो ख़ूब हैं, परन्तु ये तमाम लहरें लगातार 'विचारधारा से एक पहचान में आने वाली दूरी' रखने वाली भी होती चली गयी हैं। विनोद शाही इस किताब की मार्फ़त उन 'चिंतकों-इन्क़लाबियों' से मुख़ातिब हैं, जो अराजकतावाद से समाजवाद की ओर आ रहे थे और हमारा दौर ऐसे हालात का सुबूत देता है जहां समाजवादी नारे एक अराजक होते जा रहे प्रतिरोध में दम तोड़ने को विवश हो रहे हैं।

गुरु नानक देव विश्वविद्यालय अमृतसर के कबीर चेयर के पूर्व अध्यक्ष एवं प्रो. डॉ. सेवा सिंह ने इस विचारसूत्र की, अपने तरीक़े की एक मौलिक व्याख्या दी। उन्होंने इशारा किया कि ख़ुद भगत सिंह ने अपने समय के पंजाब में 'राजनैतिक पिछड़ेपन' के प्रति चिंता जताई थी और इसकी वजह उन्हें यहां मौजूद 'धर्मों की सियासत' से उपजी अराजकता में दिखायी दी थी। इसलिए भगत सिंह 'मैं नास्तिक क्यों हूं?' जैसे इन्क़लाबी भावबोध तक पहुंचे।

नरेंद्र मोहन के नये नाटक 'अम्बर हब्शी' का वाचन

पिछले दिनों 'रचना पर्व', दिल्ली की ओर से नरेंद्र मोहन के नये नाटक 'अम्बर हब्शी' के वाचन का आयोजन किया गया। वाचन से पूर्व लेखक ने नाटक की पृष्ठ-भूमि बताते हुए कहा कि 'अंबर हब्शी' नाटक महाराष्ट्र के उपेक्षित महानायक मलिक अम्बर को लेकर है। वह इतिहास की ऐसी अज़ीम शख़्सियत था जिसने मराठा, ग़ैर-मराठा, मुसलमान, हब्शी, ग़ैर-हब्शी जैसे तबक़ों में अपूर्व एकता स्थापित की। वह कल्पनाशील नगर शिल्पी ही नहीं बल्कि जल का जादूगर भी था। यह गुलाम हब्शी इथोपिया से भारत आया था- घर की तलाश में उसने 17वीं सदी के प्रारंभ में शहंशाह जहांगीर की फौजों को कई बार पराजित किया था और पूरे दक्खिन को एक सूत्र में बांध दिया था। अंबर हब्शी नाटक अंधेरे और प्रकाश की विभिन्न नाटकीय योजनाओं के साथ आठ दृश्यों में विभाजित है।

नाट्य वाचन के बाद नाटक पर गंभीर चर्चा का प्रारंभ करते हुए डॉ. मंजीत सिंह ने इतिहास और मिथक के साथ जुड़े कथानक और उसे व्यापक फ़लक पर ले जाने की प्रासंगिकता पर विस्तृत चर्चा की। डॉ. गुरचरण सिंह ने कहा कि अंबर हब्शी नाटक इधर की समस्याओं और राजनीतिक मन्तव्यों से कहीं प्रत्यक्ष, तो कहीं परोक्ष रूप से जुड़ा हुआ है लेकिन नाटक की मुख्य समस्या को दरबार तक सीमित न कर आमजन के साथ जोड़ा जाना चाहिए जिससे नाटक कई स्तरों पर दर्शकों तक पहुंच सके।

डॉ. प्रेम जनमेजय ने 'अंबर हब्शी' नाटक में अंधेरे के प्रयोगों की सराहना करते हुए कहा कि बाहर से आए गुलाम हब्शी के संघर्ष की व्यथा-कथा के साथ स्वदेशी-विदेशी का मुद्दा भी यहां जुड़ा हुआ है और एक घर की तलाश की उसकी तमन्ना भी। ये बातें स्वयं में नाटक को आज की परिस्थिति के साथ जोड़ देती हैं। उनकी मान्यता थी कि यह

नाटक चरित्रों के ज़रिये व्यापक धरातलों तक जाए तो नाटक का प्रभाव अधिक गहराएगा। प्रताप सहगल का मत था कि मलिक अंबर जैसे कम ज्ञात या अज्ञात चरित्र को विकसित करने की जो छूट लेखक को मिली है, उसका उपयोग नाटककार ने गायन मंडली के बहुआयामी प्रयोगों द्वारा बेहतर ढंग से किया है। अंबर और सईदा जैसे केंद्रीय चरित्र को 21वीं सदी में समानान्तर धरातल पर प्रस्तुत करके कई नाटकीय ध्वनियां और संभावनाएं पैदा कर दी गई हैं जो इधर की समस्याओं को फोकस में ला सकती हैं।

प्रस्तुति : गुरचरण सिंह

मासिमपुर में भव्य कवि सम्मेलन

भारत के सुदूर पूर्वोत्तर राज्य के सीमावर्ती क्षेत्र में सीमा सुरक्षा बल के बयालीसवें स्थापना दिवस पर एक वीरतापूर्ण एवं चेतनामय कवि सम्मेलन का आयोजन किया गया।

इस समारोह की अध्यक्षता कच्छ (गुजरात) से पधारे वरिष्ठ साहित्यकार एवं पत्रकार खली भाई ने की। वाजिद साहब (उपमहा निरीक्षक - सी.सु. बल) ने कवियों का स्वागत एवं परिचय कराया। अनेक राष्ट्रीय सम्मान से सम्मानित एवं आतंकवाद पर बेख़ौफ़ लिखने वाले कलमकार मनोहर बाथम (कार्यवाहक महानिरीक्षक सी.सु. बल) विशिष्टकवि के रूप में शोभायमान रहे। देश की ख्याति प्राप्त साहित्यकार शुभदा पांडेय एवं युवा कवि व पत्रकार योगेश दूबे ने मंच संचालन में योगदान किया।

अन्य कवियों में देवेश मिश्र, सुरेश द्विवेदी, चितरंजन भारती, जयद्रथ ग्वाला, तारकेश्वर प्रसाद, सनद कोइरी सहित सीमा सुरक्षा बल के अनेक अधिकारियों, कर्मचारियों ने अपनी रचनाएं पढ़ीं। इस समारोह में 'प्रेरणा भारती' के संरक्षक दिलीप कुमार भी उपस्थित रहे।

कवि सम्मेलन धीरे-धीरे गर्माता रहा। श्रोताओं ने तालियां बजा-बजा कर आनंद लिया। कई बार वीरों की याद में आंखें नम हो आईं। लोगों का उत्साह अंत तक बना रहा। कवि अशोक वर्मा की रचना 'शुभेच्छा' का कुछ अंश योगेश दूबे द्वारा पढ़कर सुनाया गया, तथा उनकी पुस्तकें शुभदा पांडेय एवं जयद्रथ ग्वाला द्वारा मंच पर तथा श्रोताओं में वितरित की गई। अन्त में कवियों के मंच से उतरकर बाहर जाने तक तालियों की गड़गड़ाहट एवं 'भारतमाता की जय' की ध्वनि से मंडप गुंजायमान होता रहा।

अध्यक्ष महोदय ने बताया कि श्री बाथम को, सुभदा पांडेय द्वारा गुजराती शॉल ओढ़ाकर सम्मानित किया गया। धुन्ध, कोहरे व ठिठुरन के बावजूद देश-रक्षकों की शान में मन में कवियों व श्रोताओं के ओज की गर्माहट बनी रही।

प्रस्तुति : सीमा कुमार

कमल कुमार को 'मुक्तिबोध सम्मान'

मध्य प्रदेश साहित्य अकादमी और संस्कृति परिषद, भोपाल द्वारा 'भारत भवन' में आयोजित 'अलंकरण समारोह' में वर्ष-2007 के 'अखिल भारतीय गजानन माधव मुक्तिबोध सम्मान' के लिए कमल कुमार के कहानी-संग्रह 'घर-बेघर' को पुरस्कृत किया गया। मध्य प्रदेश के साहित्य एवं संस्कृति मंत्री लक्ष्मीकांत शर्मा ने पच्चीस हजार रुपये की पुरस्कार राशि और शॉल भेंट कर कमल कुमार को अलंकृत किया।

जीवन के विभिन्न पक्षों से जुड़ी, कमल कुमार की इन कहानियों का फ़लक बहुत व्यापक है। सामाजिक विसंगतियों, धर्म और जाति-भेद के द्वेष के बीच मानवीय अंतर्संबंधों की गहरी संवेदनाओं की ये सशक्त कहानियां हैं। इनमें स्त्री होने के पुराने मिथक को तोड़ती पितृसत्ता की सामंतशाही के विरुद्ध खड़ी और जीवन में अपना अर्थ तलाशती औरतें हैं। जीवन और जगत के कटु-यथार्थ की बेहद रचनात्मक और कलात्मक संश्लिष्टता से ये कहानियां पाठकों को चमत्कृत भी करती हैं और स्तब्ध भी।

प्रस्तुति : प्रफुल्ल

घमंडीलाल को मिला 'श्रीमती रतनशर्मा स्मृति बालसाहित्य पुरस्कार'

'डॉ. रत्नलाल शर्मा स्मृति न्यास' द्वारा प्रतिवर्ष दिया जाने वाला 'श्रीमती रतनशर्मा स्मृति बालसाहित्य पुरस्कार' वर्ष 2010 के लिए गुडगांव निवासी 'घमंडीलाल अग्रवाल' को उनकी बालकाव्य कृति 'गीत ज्ञान विज्ञान के' के लिए दिया गया। न्यास द्वारा दिया गया यह सोलहवां पुरस्कार है।

बाल साहित्य के क्षेत्र में उल्लेखनीय किसी एक श्रेष्ठ कृति के लिए यह पुरस्कार प्रतिवर्ष दिया जाता है। श्री अग्रवाल को पुरस्कार स्वरूप इकतीस हज़ार रुपये की धनराशि, प्रशस्ति पत्र तथा प्रतीक चिह्न दिया गया।

समय-चेतना के संवाहक साहित्यकार
महीप सिंह
की दस खण्डों में प्रकाशित रचनावली

खण्ड : एक (कहानियां)

'मैडम' (1956) से 'सीधी रेखाओं का वृत्त' (1970) तक प्रकाशित 69 कहानियां

खण्ड : दो (कहानियां)

'नींद' (1970) से लेकर 'निगति' (2006) तक प्रकाशित 52 कहानियों के साथ 28 बाल कहानि

खण्ड : तीन (उपन्यास)

यह भी नहीं, अभी शेष है

खण्ड : चार

साक्षात्कार, व्यंग्य, रेडियो रूपक, नाटक

खण्ड : पाँच (शोध प्रबन्ध)

गुरु गोबिंद सिंह और उनकी हिन्दी कविता

खण्ड : छह (शोध एवं जीवनियां)

आदि ग्रन्थ में संगृहीत संत कवि, सिख विचारधारा : गुरु नानक से गुरु ग्रन्थ साहब तक, गुरु नानक, गुरु तेग़ बहादुर, स्वामी विवेकानंद

खण्ड : सात (साहित्य)

विभिन्न साहित्यिक समस्याओं पर लिखे गए सुचिंतित लेख

खण्ड : आठ (धर्म और इतिहास)

धर्म और इतिहास के विभिन्न पक्षों पर लिखे गए विचारपूर्ण लेख

खण्ड : नौ (समाज और राजनीति)

विभिन्न सामाजिक एवं राजनीतिक विषयों पर लिखे गए तलस्पर्शी लेख

खण्ड : दस (राजनीति)

राष्ट्रीय एवं अन्तरराष्ट्रीय समस्याओं पर लिखे गए सुविचारित लेख

संपादक : अनिल कुमार

पृष्ठ संख्या : लगभग 5000, मूल्य : छह हज़ार रुपये
संचेतना के पाठकों के लिए मात्र चार हज़ार रुपये

प्रकाशक : नमन प्रकाशन

4231/1, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली : 110002
फोन : 23254306,23247003

देश में सुशासन की नयी परिभाषा

मध्यप्रदेश का लोक सेवा प्रदान की गारंटी का कानून

|| प्रजा सुखे सुखं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम्
नात्मप्रियं हित राज्ञः प्रजानां तु प्रियं हितम् ||

(अपने नागरिकों की खुशी में ही उसकी खुशी है, लोगों के कल्याण में ही उसका कल्याण। जो कुछ भी उसे संतुष्ट करता है उसे वह अच्छा नहीं मानेगा लेकिन जो कुछ उसके लोगों को संतुष्ट करे, उसे ही वह श्रेष्ठ मानेगा।)

(कौटिल्य रचित अर्थशास्त्र में कल्याणकारी राज्य की धारणा)

- राज्य की विधानसभा ने इसी मानसूत्र सत्र में सर्वसम्मति से पारित किया मध्यप्रदेश लोक सेवाओं के प्रदान की गारंटी विधेयक 2010, जनाधिकार को मान्यता देते हुये सुराज के पथ पर देश के किसी राज्य में पहली बार उठा यह अभिनव कदम।
- लोक प्रशासन में प्रारंभिक रूप से चिंहित 26 सेवाओं जैसे आय, जाति, स्थायी निवासी के प्रमाण पत्र, खसरे-खतौनी की नकल, राशन कार्ड, बिजली और नल के नए कनेक्शन, सामाजिक सुरक्षा पेंशन और इसी प्रकार की अन्य सेवाओं की समय सीमा की जवाबदेही।
- सेवा प्रदान करने में चूक या देरी करने वाले कर्मचारियों या अधिकारियों के खिलाफ अपील करने का प्रावधान। अपील मान्य होने पर 5 हजार रुपये तक का जुर्माना। जुर्माने की राशि संबंधित नागरिक को।
- सुराज की धारणा को नई ऊंचाई देने वाले इस कानून को लागू करने के लिये नये लोक सेवा प्रबंधन विभाग का गठन।
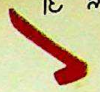
शिवराज सिंह चौहान
मुख्यमंत्री, मध्यप्रदेश

जनाधिकार में जनता के साथ, **मध्यप्रदेश सरकार**

मध्यप्रदेश जनसम्पर्क द्वारा जारी